आचार्य विद्यानन्द प्रणीत

प्रमाण-परीक्षा

सम्पादक

न्यायालङ्कार, न्यायरत्नाकर, न्यायवाचस्पति

डॉक्टर दरबारीलाल कोठिया

न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

पूर्व रीडर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणका विचार वास्तवमें एक ऐसा विचार है, जिसका सीधा सम्बन्ध तत्त्वज्ञानसे है और तत्त्व-ज्ञान निःश्रेयसका प्रधान कारण माना गया है। इसके अतिरिक्त वह समस्याओंसे बहुल लोकमें भी बहुत उपयोगी और अनिवार्यरूपसे वांछनीय है। इसीसे भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणपर सर्वाधिक चिन्तन हुआ है और अनेकों रचनाएँ लिखी गयी हैं। विद्यानन्दने भी यह प्रमाण-परीक्षा लिखी और उसमें प्रमाणशास्त्रके अभ्यासियोंके लिए जैन दृष्टिसे प्रमाणपर विमर्श किया है।

प्रस्तुत संस्करणकी विशेषता यह है कि वैज्ञानिक सम्पादनके साथ इसमें प्राक्कथनके अलावा १२० पृष्ठकी विस्तृत एवं चिन्तनपूर्ण महत्त्वकी प्रस्तावना सम्बद्ध की गयी है, जो छात्रों और विद्वानोंके लिए बहुत ही उपयोगी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमाला : १४

अनेकग्रन्थ-निर्माता, दार्शनिक-शिरोमणि, प्रखर तार्किक

आचार्य विद्यानन्द

प्रणीत

प्रमाण-परीक्षा

[न्यायशास्त्रकी अद्वितीय विशद कृति]

•

सम्पादक

डॉ० दरबारीलाल कोठिया

(न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, न्यायतीर्थ

एम. ए., पी-एच. डी.)

पूर्व रीडर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ० प्र०)

•

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

●

प्रकाशक
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट
चमेली-कुटीर
१/१२८, डुमराँव कॉलौनी, अस्सी
वाराणसी–५ (उ० प्र०)

●

ट्रस्ट-संस्थापक
आ० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

●

प्रथम संस्करण : १००० प्रति
दशलक्षण पर्व, भाद्रपद शुक्ला ५, वी० नि० सं० २५०३,
१७ सितम्बर, १९७७

●

मूल्य : पाँच रुपया

●

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर कॉलोनी,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहासके मर्मज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' ने अपनी साहित्य-इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियोंको मूर्तरूप देनेके हेतु अपने निवास-स्थान सरसावा (सहारनपुर) में **'वीर-सेवा-मंदिर'** नामक एक शोध-संस्थाकी स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्डपर एक सुन्दर भवनका निर्माण किया था, जिसका उद्‌घाटन वैशाख सुदि ३ (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् १९९३, दिनाङ्क २४ अप्रैल १९३६ में किया गया था। सन् १९४२ में मुख्तारश्रीने अपनी सम्पत्तिका **'वसीयतनामा'** लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। **'वसीयतनामा'** में उक्त **'वीर-सेवा-मन्दिर'** के संचालनार्थ इसी नामसे ट्रस्टकी भी उन्होंने योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री ५ मई १९५१ को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार आचार्य मुख्तारने **वीर-सेवा-मन्दिर** व **वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट**की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानकार्यको प्रथमतः अग्रसारित किया था।

स्वर्गीय बा० छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला० राजकृष्णजी दिल्ली, रायसाहब ला० उल्फतरायजी दिल्ली आदिकी प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) के आशीर्वादसे, सन् १९४८ में श्रद्धेय मुख्तारसाहबने उक्त वीरसेवामन्दिरका एक कार्यालय उसकी शाखाके रूपमें दिल्लीमें, उसके राजधानी होनेके कारण अनुसन्धानकार्यको अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलनेके उद्देश्यसे, रायसाहब ला० उल्फतरायजीके चैत्यालयमें खोला था। पश्चात् बा० छोटेलालजी, साहू शान्तिप्रसादजी और समाजकी उदारतापूर्ण आर्थिक सहायतासे उसका भवन भी बन गया, जो २१ दरियागंज दिल्लीमें स्थित है और जिसमें **'अनेकान्त'** (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं।

इसी भवनमें सरसावासे ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैन विद्याके विभिन्न अङ्गोंपर अनुसन्धान करनेके लिये विशेष उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। **वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट** ग्रंथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धानका कार्य कर रहा है। अब तक इस ट्रस्टसे २० महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है। वे ये हैं—१., २. युगवीर-निबन्धावली (भाग १, २) ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, ४. लोकविजय-यन्त्र, ५. प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश, ६. देवागम (आप्तमीमांसा), ७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ८. समाधिमरणोत्साहदीपक, ९. तत्त्वानुशासन, १०. प्रमेयकण्ठिका, ११. नयी किरण : नया सवेरा, १२. जैनधर्म-परिचय, १३. आरम्भिक जैनधर्म, १४. करणानुयोगप्रवेशिका, १५. द्रव्यानुयोगप्रवेशिका, १६. चरणानुयोग-प्रवेशिका, १७. महवीर-वाणी, १८. भ० महावीरका जीवनवृत्त, १९. मङ्गलायतनम् और २०. ऐसे थे हमारे गुरुजी।

आज उसी ट्रस्टसे सुप्रसिद्ध जैन तार्किक आचार्य विद्यानन्दकी अन्यतम कृति '**प्रमाण-परीक्षा**' प्रकट हो रही है। इसका प्रथम बार प्रकाशन सन् १९१४ में ६३ वर्ष पूर्व काशीकी **भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था** द्वारा '**सनातन जैन ग्रन्थमाला**' के अन्तर्गत हुआ था। वह संस्करण अब अप्राप्य है और वह पर्याप्त अशुद्ध छपा हुआ है। प्रस्तुत संस्करण अनेक पाण्डुलिपियोंके आधारसे सम्पादक द्वारा संशोध-नादिपूर्वक तथा कई विशेषताओं (प्रस्तावना, हिन्दी रूपान्तर, परिशिष्ट एवं विषयसूची) के साथ प्रकाशित हो रहा है।

हमें विश्वास है कि यह संस्करण दर्शन-शास्त्रके विद्वानों, छात्रों और स्वाध्याय-प्रेमियोंके लिए बहुत उपयोगी और लाभप्रद होगा।

ट्रस्टके सभी सदस्योंके हम आभारी हैं, जिनके उत्साह और सहयोगसे ट्रस्ट जिनवाणीके प्रकाशन और साधनामें संलग्न है।

पार्श्वनाथ-निर्वाण-दिवस, श्रावण शुक्ला ७, मंत्री
वी० नि० सं० २५०३, **वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट**
२ अगस्त, १९७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

सन् १९४७ में आ० विद्यानन्दकी ही एक कृति '**आप्त-परीक्षा**' का सम्पादन किया था और १९४९ में वह प्रकाशित हो गयी थी। उसी समय उनकी इस '**प्रमाण-परीक्षा**' के सम्पादनादिका भी विचार उदित हुआ था। किन्तु अन्य साहित्यिक कार्यों एवं अध्यापनादिमें व्यस्त रहनेसे उसका कार्य पिछड़ता गया। सन् १९६२ में पुनः उसका कार्य हाथमें लिया और उसकी पाण्डुलिपियोंके लिए मूडबिद्री, जयपुर और दिल्लीसे सम्पर्क स्थापित किया। फलतः मूडबिद्रीके जैन मठके शास्त्र-भण्डारसे पाँच (तीन पूरी और दो अधूरी) ताडपत्रीय प्रतियोंके पाठान्तर श्री पण्डित बी० देवकुमारजी शास्त्री मूडबिद्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुए। जयपुर-के श्री महावीर-भवनसे डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालके प्रयत्नसे एक प्रति और दिल्लीके नया मन्दिर शास्त्र-भण्डारसे बा० पन्नालालजी अग्रवालके प्रयाससे एक प्रति प्राप्त हुई। इन सातों प्रतियोंके आधारसे संशोधन और पाठान्तर लिये गये हैं। बहुतसे पाठान्तर तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपलब्ध हुए हैं। प्रतियोंका परिचय निम्न प्रकार है—

१. '**अ**' प्रति—ताडपत्रीय मुद्रित ग्रन्थ-सूचीकी पृष्ठसंख्या ९९, अनुक्रम नं० १०३ और ग्रन्थ नं० ४११ वाली यह प्रति है। इसकी पत्रसंख्या २८, प्रतिपत्रमें पंक्तियाँ ८; प्रतिपंक्तिमें अक्षर ८०; लम्बाई १८ अंगुल; चौड़ाई २ अंगुल है। यह पूर्ण प्रति है। प्रारम्भका और बीचमें ४थे, ६ठे पत्रोंका अल्पभाग खण्डित है। यह प्रति अन्य प्रतियोंसे अपेक्षाकृत शुद्ध है, सुवाच्य भी है। अक्षर अत्यन्त सुन्दर हैं और प्रति उत्तम दशामें है।

२. '**ब**' प्रति—ताडपत्रीय मुद्रित ग्रन्थ-सूचीकी ही पृष्ठसंख्या ९९, अनुक्रमसंख्या १०१ और ग्रन्थ नं० १३२ वीं यह प्रति है। पत्रसंख्या ३४; प्रतिपत्रमें पंक्तियाँ ७; प्रतिपंक्तिमें अक्षर ८७; लम्बाई १७ अंगुल और चौड़ाई १।७ अंगुल है। प्रति पूर्ण है। बीचके ६ठे पत्रके ऊपरकी पंक्तिके कुछ अक्षर टूटकर नष्ट हो गये हैं। इस प्रतिमें यत्र-तत्र अनेक संस्कृत टिप्पणियाँ दी गयी हैं। प्रति शुद्ध है, सुन्दर भी है। अक्षर सुवाच्य हैं। लिपिकी रचनासे यह प्रति सबसे प्राचीन मालूम होती है।

३. '**स**' प्रति—उक्त ग्रन्थ-सूची पृष्ठ ९९ में अंकित, अनुक्रम नं० १०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ग्रन्थ नं० २९३ वीं प्रति है। पत्रसंख्या ६६ है जिनमें ४८ वाँ पत्र खण्डित है और ५३ ५५, ६० ये तीन पत्र अनुपलब्ध हैं। प्रतिपत्रमें ६ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ५४ अक्षर हैं। लम्बाई १७ अंगुल और चौड़ाई १/७ अंगुल है। प्रति सामान्यतया शुद्ध है और अक्षरोंकी रचनासे उत्तर कर्नाटककी अर्वाचीन प्रतीत होती है। जहाँ तहाँ संस्कृतकी टिप्पणियाँ इसमें भी पायी जाती हैं। इसके बावजूद अशुद्ध पाठ भी अधिक मात्रामें मिलते हैं, जिससे प्रतिलिपिकार न्याय एवं दर्शनसे अनभिज्ञ मालूम पड़ता है।

४. 'ड' प्रति—उपर्युक्त ग्रन्थ-सूचीकी पृष्ठसंख्या ९९ में यह दर्ज है। इसकी अनुक्रमसंख्या १०५ और ग्रन्थसंख्या ५४८ है। पत्रसंख्या १० है, जिनमें ६, ७, ८ वें पत्र बीचसे टूट गये हैं और कई अक्षर चले गये हैं। प्रत्येक पत्रमें ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ९९ अक्षर हैं। लम्बाई १८/५ अंगुल और चौड़ाई २/२ अंगुल है। इस प्रतिमें प्रारम्भसे करीब अर्धभाग तकका ही ग्रन्थ-विषय पाया जाता है—अर्थात् यह आधी प्रति है। पत्रके ऊपर, नीचे, अगल-बगलमें अनेक संस्कृत-टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं, जिन्हें पढ़ना बड़ा मुश्किल है और वे किस शब्दकी हैं, इसका पता लगाना भी बड़ा कठिन है। अक्षर छोटे-छोटे सटे-सटे लिखे जानेसे साव-धानीसे पढ़े जाने योग्य हैं। प्रति शुद्ध है।

५. 'इ' प्रति—यह भी उक्त ग्रन्थ-सूची के पृष्ठ ९९ में अंकित है। इसकी अनुक्रमसंख्या १०४ और ग्रन्थसंख्या ५०८ है। पत्रसंख्या १५ है, जिनमें छठा पत्र खण्डित है। प्रतिपत्रमें ७ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ४६ अक्षर हैं। लम्बाई १८/५ अंगुल और चौड़ाई १/९ अंगुल है। प्रति करीब अर्ध भागसे आगे और अन्ततक है। लेकिन यह 'ड' प्रतिका उत्तरार्ध नहीं है। प्रति सामान्य है। यत्र तत्र संस्कृतकी टिप्पणियाँ भी हैं।

६. 'आ' प्रति—यह प्रति आमेर शास्त्रभण्डार महावीर-भवन जयपुर की है, जो सं० १६५९, शाके १५१९ फाल्गुन सुदी १५ को लिखी गयी है। इसमें अन्तिम पुष्पिका-वाक्य निम्न प्रकार है—'इति प्रमाणपरीक्षा समाप्ता'। संवत् १६५९, शाके १५१९ फाल्गुण सुदि १५ खंडेलवालान्वये श्रेष्ठिगोत्रे पांडे पारस तत्पुत्र चिरं नाथू द्वितीयर्षेमर स्वपठनार्थं स्वहस्तेन लिखित् ॥ दीर्घायुर्भवतु ॥ पुत्रात्त्यां शाकं चिरं नंदतु ॥ श्रेयोस्तु। कल्याण-मस्तु ॥' यह प्रति कष्टसे वाच्य है और अक्षर साफ नहीं हैं। अतएव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने इसके पाठान्तर नहीं लिये। मात्र उसका उपयोग किया है।

७. '**द**' प्रति—यह देहली नया मन्दिर शास्त्रभण्डारकी प्रति है, जिसके पाठान्तर 'द' के नामसे संगृहीत किये हैं। प्रति शुद्ध और सुवाच्य है।

८. '**मु०**'—यह मुद्रित प्रति है, जो सन् १९१४ में काशीकी जैन-सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा प्रकाशित है। इसमें २६ × २९ साइजके ३० पृष्ठ हैं। यह काफी अशुद्ध छपी है और वाक्य भी पर्याप्त छूटे हैं।

इस संस्करणकी विशेषताएँ

इस संस्करणकी अनेक विशेषताएँ हैं। प्रथम तो परिश्रमपूर्वक संशोधन किया गया है और सन्दर्भानुसार शुद्ध पाठ मूलमें तथा अन्य पाठान्तर पाद-टिप्पणमें निक्षिप्त किये हैं। दूसरे, पूरे ग्रन्थमें विषय-वार अनुच्छेद (पैराग्राफ) तथा विषय-बोधक शीर्षक एवं उपशीर्षक दे दिये हैं। तीसरे, ग्रन्थके चार प्रकरणों (प्रमाणलक्षण-परीक्षा, प्रमाणसंख्या-परीक्षा, प्रमाण-विषय-परीक्षा और प्रमाणफल-परीक्षा) को खोजकर उन्हें दिया गया है। चौथे, १२० पृष्ठकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना संलग्न है, जिसमें प्रमाण-सम्बन्धी चिन्तन तथा मूल ग्रन्थका हिन्दी रूपान्तर सन्निहित है। पाँचवें, परिशिष्ट एवं विषय-सूची भी दे दी गयी है। इस तरह मुद्रित संस्करणकी अपेक्षा यह संस्करण एक विशिष्ट और अधिक उपयोगी बन गया है, जो सभीके लिए लाभदायक सिद्ध होगा। हमें प्रसन्नता है कि सन् १९६२में आरब्ध तथा १९७३में मूलरूपमें छपी यह कृति सर्वांगरूपमें अब प्रकाशमें आ रही है।

आभार

जैन मठ मूडबिद्रीके शास्त्र-भण्डारके अधिकारी और श्री मूडबिद्री जैन क्षेत्रके पंच धर्मानुरागी श्री बी० धर्मपालजी सेट्टीने श्री बी० पं० देव-कुमारजीको उक्त प्रतियोंके पाठान्तर लेनेकी बड़ी उदारता दिखायी और ग्रन्थ-भण्डारके व्यवस्थापक श्री पं० नागराजजी शास्त्रीने पूरी व्यवस्था की, इसके लिए हम इन दोनों धर्मबन्धुओंको हार्दिक धन्यवाद देते हैं। पं० बी० देवकुमारजी शास्त्रीके भी अत्यन्त आभारी हैं, जिनके प्रयत्नसे ही हम '**प्रमाण-परीक्षा**' की ताडपत्रीय प्रतियोंके पाठान्तर और उनका परिचय देनेमें समर्थ हो सके।

यहाँ बड़े हर्षके साथ उल्लेखनीय है कि सम्प्रति जैन मठके सर्वसत्त्वा-धिकारी पूज्य भट्टारक पण्डिताचार्य श्री चारुकीर्त्ति पी० स्वामी हैं, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे पूर्व स्याद्वाद-महाविद्यालय वाराणसीमें अध्ययनके समय हमारे अत्यन्त निकट एवं शिष्य जैसे रहे हैं, हम उनके प्रति भी आभार प्रकट करते हैं।

विद्वद्वर पं० अमृतलालजी शास्त्री जैनदर्शन-साहित्याचार्य अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसीने अपना महत्त्वपूर्ण प्राक्कथन लिखकर हमें आभारी बनाया है। डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल जयपुर एवं बा० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्लीके भी हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने सम्बन्धित पाण्डुलिपियोंके प्राप्त करानेमें सहयोग प्रदान किया।

पार्श्वनाथ-निर्वाण-सप्तमी
वी० नि० सं० २५०३, —**दरबारीलाल कोठिया**
२१ अगस्त, १९७७, वाराणसी–५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

भारतीय धर्मोंमें जैनधर्म भी एक प्रमुख धर्म है। उसके प्रवर्त्तक तीर्थंकर हैं, जो २४ की संख्यामें माने गये हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं, जिनके ज्ञान, तप और महिमाका वर्णन जैनेतर साहित्यमें भी बहुलतया उपलब्ध है और जिनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत थे तथा जिनके नामपर हमारे राष्ट्रका नाम भारत पड़ा। ऋषभदेवके द्वितीय पुत्र बाहुबली थे, जिनके बल, पराक्रम, त्याग, तप और साधनाका सविशेष कथन जैन वाङ्मयमें प्रचुर मात्रामें पाया जाता है। अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान-महावीर हैं, जो २५०० वर्ष पूर्व हुए और जो ऐतिहासिक महापुरुष माने जाते हैं।

जैनधर्मके दो पाये हैं, जिनपर वह संस्थापित हुआ है। एक आचार है और दूसरा विचार। आचार अहिंसा-प्रधान और विचार स्याद्वाद-प्रधान है। यही कारण है कि जैनधर्ममें अहिंसाकी सर्वाधिक प्रतिष्ठा है और स्याद्वाद तो उसके प्रत्येक विचार एवं वचनमें समाहित रहता है। उसके बिना कोई विचार या कोई वचन सत्यको व्यक्त नहीं कर सकते। इस अहिंसा और उसके परिकर (व्रतों, समितियों, गुप्तियों, चारित्रों, उत्तम क्षमादि धर्माङ्गों और ध्यानों) तथा स्याद्वाद और उसके परिवार (अनेकान्त, सप्तभङ्गी, प्रमाण, नय निक्षेप आदि) के विवेचनसे समग्र जैन वाङ्मय भरा पड़ा है।

जैन धर्मका मुख्य उद्देश्य है आत्म-विकास। सामान्य आत्मा किस प्रकार अपना विकास करके परमात्मा बन सकता है, इसका निरूपण बहुत विस्तार पूर्वक किया गया है।

मैं कौन हूँ ? इसे समझनेके लिए ही धर्मके साथ दर्शन तथा न्याय शास्त्रकी महती आवश्यकता अनुभव करके जैन चिन्तकोंने उनका भी बड़े विस्तारके साथ प्ररूपण किया है। दर्शनमें स्याद्वाद, सप्तभङ्गी और अनेकान्तका तथा न्यायशास्त्रमें प्रमाण और नयका विशेष प्रतिपादन किया है।[1] जैन चिन्तकोंने इन विषयोंपर संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। कुन्दकुन्दका समग्र वाङ्मय जैन दर्शनकी अमूल्य निधि है। गृद्धपिच्छका

१. 'प्रमाणनयात्मको न्यायः'—न्यायदी० मूल व टि० पृ० ५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र उसी श्रृंखलाकी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जिसपर अनेकों आचार्योंने विशाल और छोटी दर्जनों टीकाएँ लिखी हैं और जिनका बहुत मान है।

स्वामी समन्तभद्रने न्यायशास्त्रका आरम्भ ही नहीं, विकास भी किया। देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भू ये तीन उनकी महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक न्यायकृतियाँ हैं, जिन्हें उत्तरवर्ती जैन मनीषियोंने आधार बनाया और अपने न्याय-ग्रन्थ लिखे। श्रीदत्त, पात्रस्वामी, सिद्धसेन, मल्लवादी आदि तार्किकोंने उनके कार्यको अग्रसारित किया। श्रीदत्तने जल्प-निर्णय, पात्रस्वामीने त्रिलक्षणकदर्थन, सिद्धसेनने सन्मतिसूत्र और मल्लवादीने द्वादशारनयचक्रकी रचना कर जैन तर्कशास्त्रको समृद्ध किया है। अकलंकदेवने तो अकेले ही अनेक न्यायग्रन्थ रचे, जिनसे समग्र जैन न्यायवाङ्मय दीप्तिमान हो गया। उनके न्याय-विनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय और अष्टशती ऐसे तर्कग्रन्थ हैं जो अतुलनीय हैं। कुमारनन्दिका वादन्याय उल्लेखनीय है, जो आज उपलब्ध नहीं है। जैन तार्किकोंमें विद्यानन्दका नाम बड़े आदर और गौरवके साथ लिया जाता है। उनके विद्यानन्दमहोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री (देवागमालंकार), आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और सत्यशासनपरीक्षा सर्वादरणीय एवं अद्वितीय न्यायग्रन्थ हैं। वादीभसिंहकी स्याद्वादसिद्धि, बृहद् अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका और वादिराजके न्यायविनिश्चयविवरण एवं प्रमाण-निर्णय भी ध्यातव्य हैं। माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख ऐसा न्यायसूत्रग्रन्थ है, जो जैन न्यायका आद्य न्यायसूत्र है और जिसपर प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अनन्तवीर्यने प्रमेयरत्नमाला जैसी विशद एवं विस्तृत व्याख्याएँ लिखी हैं। प्रभाचन्द्रकी न्यायकुमुदचन्द्र—लघीयस्त्रय-व्याख्या भी बड़ी विशद और प्रमेयबहुल है। देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा और अभिनव धर्मभूषणकी न्यायदीपिका भी जैन न्यायके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। अन्तिम जैन तार्किक यशोविजयकी जैन तर्कभाषा, अष्टसहस्रीटीका और चारुकीर्तिका प्रमेयरत्नालंकार विशेष उल्लेख योग्य हैं।

इस तरह जैन न्यायशास्त्रपर एक विहंगम दृष्टि डालने पर अवगत होता है कि बौद्ध और हिन्दू तार्किकोंकी तरह जैन तार्किकोंने भी न्यायशास्त्रपर सैकड़ों रचनाएँ लिखी हैं और उसके भण्डारको समृद्ध किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसन्नताकी बात है कि जैन न्यायके अधिकारी विद्वान् डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित एवं अनूदित आचार्य विद्यानन्दकी प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण कृति **'प्रमाण-परीक्षा'** सुन्दर सम्पादनके साथ प्रकाशमें आ रही है। सम्पादकने अपनी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनामें प्रमाण-परीक्षाके विषयोंका विशद विमर्श किया है। निश्चय ही यह विद्वानों द्वारा उपादेय एवं समादरणीय होगी।

वाराणसी
२७/८/७७

—अमृतलाल शास्त्री
अध्यक्ष, जैनदर्शनविभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना-विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ
१. प्रमाण-परीक्षा	१
ग्रन्थ-परिचय	१
(क) नाम	१
(ख) भाषा व शैली	१
(ग) उद्देश्य व प्रयोजन	२
(घ) विभाग	२
विषय-परिचय	३
१. मङ्गलाचरण	३
२. प्रमाण-लक्षण	५
(अ) वैशेषिक दर्शन	५
(आ) न्याय दर्शन	५
(इ) मीमांसा दर्शन	६
(ई) सांख्य दर्शन	६
(उ) बौद्ध दर्शन	६
(ऊ) जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणस्वरूप-विमर्श	७
(i) कुन्दकुन्द	७
(ii) गृद्धपिच्छ	८
(iii) समन्तभद्र	८
(iv) सिद्धसेन	९
(v) पूज्यपाद	९
(vi) अकलंक	११
(vii) विद्यानन्द	१२
(viii) माणिक्यनन्दि	१३
(ix) देवसूरि	१३
(x) हेमचन्द्र	१३
(xi) अभिनव धर्मभूषण	१४

विषय	पृष्ठ
१. (ए) प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणस्वरूप-मीमांसा	१५–५२
(ट) सन्निकर्ष-परीक्षा	१५
(ठ) सम्यग्ज्ञानमें स्वार्थ-व्यवसायात्मकत्वकी सिद्धि	२०
(ड) बौद्धाभिमत अव्यवसायात्मक प्रत्यक्षकी मीमांसा	२१
(ढ) अनुमानसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी सिद्धि	३१
(ण) विज्ञानाद्वैत-परीक्षा	३१
(त) परमब्रह्म-परीक्षा	३३
(थ) अस्वसंवेदिज्ञान-परीक्षा	३७
(द) परोक्षज्ञान-परीक्षा	४४
(ध) प्रधानपरिणामज्ञान-परीक्षा	४७
(न) तत्त्वोपप्लव-परीक्षा	४८
(ऐ) प्रामाण्य-परीक्षा	५२-५३
२. प्रमाणसंख्या-परीक्षा	५३–१०५
(प) प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण-द्वयसिद्धि	५३
(फ) प्रत्यक्षैकप्रमाण-समीक्षा	५३
(ब) प्रत्यक्षानुमानप्रमाण-द्वय-समीक्षा	५७
(भ) तर्कप्रमाण-विमर्श	५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
(म) वैशेषिकमत-समीक्षा और तर्कप्रमाण-सिद्धि	६२
(य) सांख्यादिमत-समीक्षा	६४
(र) स्मृतिप्रमाण-विमर्श	६६
(ल) प्रत्यक्ष-विमर्श	६७
(व) प्रत्यक्ष-भेद	६९
(१) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष	७१
(२) अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष	७१
(३) अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष	७२
(i) विकल-प्रत्यक्ष	७२
(ii) सकल-प्रत्यक्ष	७२
(iii) विकलप्रत्यक्ष-भेद	७२
(iv) अवधिज्ञान	७२
(v) मनःपर्ययज्ञान	७३
(vi) केवलज्ञान-विमर्श	७४
(श) परोक्षका विशेष विमर्श	७४
(१) स्मृति-विमर्श	७५
(२) प्रत्यभिज्ञान-विमर्श	७५
(३) तर्क-विमर्श	७९–९७
(४) अनुमान-विमर्श	७९
(ष) हेतुस्वरूप-विमर्श	७९
(स) त्रैरूप्यहेतुलक्षण-समीक्षा	८०
(ह) पांचरूप्यहेतुलक्षण-समीक्षा	८५
(क्ष) हेतु-भेद-विमर्श	८६
(१) **विधि-साधक-विधि-साधन**	८६
१. कार्यहेतु	८६
२. कारणहेतु	८६
३. अकार्यकारणहेतु	८६
(i) व्याप्यहेतु	८६
(ii) सहचरहेतु	८७
(iii) पूर्वचरहेतु	८७

विषय	पृष्ठ
(iv) उत्तरचर हेतु	८७
(२) (क) **साक्षात् प्रतिषेध-साधक-विधि-साधन**	८७
(१) विरुद्ध कार्य	८७
(२) विरुद्ध कारण	८८
(३) विरुद्ध अकार्यकारण	८८
(i) विरुद्ध व्याप्य	८८
(ii) विरुद्ध सहचर	८८
(iii) विरुद्ध पूर्वचर	८८
(iv) विरुद्ध उत्तरचर	८८
(ख) **परम्परा प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन**	८८
१. कारणविरुद्धकार्य	८८
२. व्यापकविरुद्धकार्य	८९
३. कारणव्यापक-विरुद्धकार्य	८९
४. व्यापककारणविरुद्ध-कार्य	८९
५. कारणविरुद्धकारण	८९
६. व्यापकविरुद्धकारण	८९
७. कारणव्यापकविरुद्ध-कारण	८९
८. व्यापककारणविरुद्ध-कारण	८९
९. कारणविरुद्धव्याप्य	८९
१०. व्यापकविरुद्धव्याप्य	८९
११. कारणव्यापक-विरुद्धव्याप्य	९०
१२. व्यापककारण-विरुद्धव्याप्य	९०
१३. कारणविरुद्धसहचर	९०
१४. व्यापकविरुद्धसहचर	९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय पृष्ठ

१५. कारणव्यापकविरुद्ध-सहचर ९०

१६. व्यापककारणविरुद्ध-सहचर ९०

(१) **विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन** ९१

१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि ९१

२. विरुद्धकारणानुपलब्धि ९१

३. विरुद्धस्वाभावानुपलब्धि ९१

४. विरुद्धसहचरानुपलब्धि ९१

(२) **विधिप्रतिषेधक-प्रतिषेध-साधन** ९१

१. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि ९१

२. अविरुद्धकारणानुपलब्धि ९२

३. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि ९२

४. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि ९२

५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि ९२

६. अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि ९२

(i) बौद्धसम्मत हेतुभेद-परीक्षा ९३

(ii) न्यायसम्मत हेतुभेद-परीक्षा ९३

(iii) सांख्यसम्मत हेतुभेद-परीक्षा ९५

(क्ष) साध्यस्वरूप-विमर्श ९६

(त्र) स्वार्थानुमान-विमर्श ९६

(ज्ञ) परार्थानुमान-विमर्श ९६

विषय पृष्ठ

(i) वचनात्मक परार्थानुमान-मीमांसा ९६

(ii) वचनात्मक परार्थ-प्रत्यक्षका आपादन ९६

(५) **श्रुतज्ञान-विमर्श** ९७

१. श्रुतज्ञान-स्वरूप ९७

२. श्रुतज्ञान-भेद ९८

३. श्रुतकी कथंचित् पौरुषेय-अपौरुषेयसिद्धि ९९

४. श्रुतके आर्ष-अनार्ष भेद १०३

५. वेद-मीमांसा १०३

३. **प्रमाणविषय-परीक्षा** १०५-१०६

(i) प्रमाणका विषय-द्रव्य-पर्यायात्मक १०५

(ii) केवल पर्याय प्रमाण-का विषय नहीं है १०५

(iii) केवल द्रव्य भी प्रमाण-का विषय नहीं है १०६

४. **प्रमाणफल-परीक्षा** १०६–११०

(i) प्रमाणका फल कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है १०७

(ii) प्रमाणका साक्षात् फल १०७

(iii) प्रमाणका परम्परा-फल १०७

(iv) प्रमाणफलको भिन्न स्वीकार करनेमें दोष १०८

(v) सर्वथा अभिन्न माननेमें दोष १०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय	पृष्ठ
(vi) संवृतिसे प्रमाण-फल व्यवहार करनेमें दोष	१०९
२. **ग्रन्थकार**	१११–१२०
(१) विद्यानन्द : परिचय	१११
(२) जैनदर्शनको उनकी देन	११३
(क) कृतियाँ	११३
(ख) नया चिन्तन	११५
(१) भावना-विधि-नियोग	११५
(२) जाति-समीक्षा	११६
(३) सह-क्रमानेकान्तकी परिकल्पना	११६
(४) व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु-विवेचन	११८
(५) उपादान और निमित्त-का विचार	११८

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

१. प्रमाण-परीक्षा

ग्रन्थ-परिचय

(क) नाम

प्रस्तुत ग्रन्थ **प्रमाण-परीक्षा** है। इसका यह नाम ग्रन्थकारने ग्रन्थका आरम्भ करते हुए **'अथ प्रमाण-परीक्षा'** शब्दों द्वारा स्वयं प्रकट किया है तथा ग्रन्थके अन्तमें दिये गये समाप्ति-पुष्पिकावाक्यमें भी वह पाया जाता है। अतः ग्रन्थका उक्त नाम निःसन्देह ग्रन्थकार-प्रदत्त है और ग्रन्थके उद्देश्य एवं प्रयोजनको व्यक्त करता हुआ वह तत्कालीन दार्शनिक स्थितिको प्रदर्शित करता है।

बौद्ध विद्वान् दिङ्नागने **आलम्बनपरीक्षा** और **त्रिकालपरीक्षा**, धर्मकीर्तिने **सम्बन्धपरीक्षा**, धर्मोत्तरने **प्रमाणपरीक्षा व लघु प्रमाणपरीक्षा** और कल्याणरक्षितने **श्रुतिपरीक्षा** जैसे परीक्षान्त ग्रन्थ रचे हैं। विविध परीक्षाओंके संग्रहरूप **तत्त्वसंग्रहमें** शान्तरक्षितने भी ईश्वरपरीक्षा, पुरुषपरीक्षा जैसे परीक्षान्त प्रकरण लिखे हैं। आश्चर्य नहीं कि ग्रन्थकार आचार्य विद्यानन्दको अपने इस ग्रन्थका परीक्षान्त नाम रखनेमें उनसे प्रेरणा मिली हो। विद्यानन्दने **आप्तपरीक्षा**, **पत्रपरीक्षा** और **सत्यशासनपरीक्षा** ये तीन महत्त्वपूर्ण अन्य परीक्षा-ग्रन्थ भी परीक्षान्त नामसे बनाये हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं।

(ख) भाषा व शैली

यद्यपि दार्शनिक ग्रन्थोंकी भाषा प्रायः जटिल और दुरूह होती है। समासबहुलता भी उनमें विद्यमान रहती है। पर इसकी भाषामें न जटिलता है और न दुरूहता। समासबहुलता भी इसमें नहीं है। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्यका प्रतिपादन है। शैली भी सरल, प्रसादपूर्ण, भव्य और आकर्षक है। ग्रन्थकारके **अष्टसहस्री** (देवागमालङ्कार) और **तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक** (तत्त्वार्थालङ्कार) में जैसी गम्भीरता और विस्तार है वैसी

---

१. 'इति प्रमाणपरीक्षा समाप्ता'—यही ग्रन्थ पृ० ६७। सनातन जैन ग्रन्थमाला काशीसे प्रकाशित प्रतिका समाप्ति-पुष्पिकावाक्य भी देखिए, यही ग्रन्थ पृ० ६७, टिप्पण ३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गम्भीरता एवं विस्तार भी इसमें नहीं है। ऐसा संक्षेप भी नहीं है, जिससे विषय स्पष्ट और हृदयङ्गम न हो सके। किन्तु मध्यम शैलीका आलम्बन लेकर विषयका प्रतिपादन किया गया है।

(ग) उद्देश्य व प्रयोजन

इसमें सन्देह नहीं कि इसका प्रणयन उन जिज्ञासुओंकी दृष्टिसे किया गया है, जिनका जैन प्रमाणशास्त्रमें प्रवेश नहीं है और जो तदीय प्रमाण-विवेचनसे सरलतासे अवगत होना चाहते हैं। प्रमाणका विचार वास्तवमें एक ऐसा विचार है, जिसका सीधा सम्बन्ध तत्त्वज्ञानसे है और तत्त्वज्ञान निःश्रेयसका प्रधान कारण माना गया है। इसके अतिरिक्त वह समस्याओं-से बहुल लोकव्यवहारमें भी बहुत उपयोगी और अनिवार्यरूपसे वांछनीय है। इसी उद्देश्य एवं प्रयोजनसे भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणपर अधिक चिन्तन हुआ है और छोटी-बड़ी अनेकों रचनाएँ लिखी गयी हैं। विद्यानन्दने भी उसी उद्देश्य और प्रयोजनसे प्रमाणशास्त्रके अभ्यासियोंके लिए इस मध्यम परिमाणकी कृतिकी रचना की और उसमें जैन दृष्टिसे प्रमाणपर विचार किया है।

(घ) विभाग

भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणपर विचार करते समय चार बातें विचारणीय रही हैं—१. प्रमाणका स्वरूप, २. प्रमाणकी संख्या, ३. प्रमाणका विषय और ४. प्रमाणका फल। ग्रन्थकारने भी इन्हीं चार बातोंका इसमें ऊहा-पोह किया है। साथ ही विभिन्न दार्शनिकोंको तत्सम्बन्धी मान्यताओंकी संक्षेपमें किन्तु विशदतासे मीमांसा भी की है। यद्यपि ग्रंथमें परिच्छेद या अध्याय जैसा विभाग नहीं है तथापि उक्त चारों बातों (विषयों) के प्रतिपादक चार प्रकरण इसमें अवश्य पाये जाते हैं।

प्रथम प्रकरण '**प्रमाणलक्षणपरीक्षा**' है, जो प्रस्तुत ग्रंथमें पृष्ठ १, अनुच्छेद २ से आरम्भ होकर पृष्ठ २८, अनुच्छेद ६४ तक है। इसमें नैयायिकादिद्वारा स्वीकृत सन्निकर्षादिप्रमाणलक्षणोंकी परीक्षापूर्वक सम्यग्ज्ञानको प्रमाणका अनवद्य लक्षण प्रतिपादित किया है। द्वितीय प्रकरण '**प्रमाण-संख्यापरीक्षा**' है। यह पृष्ठ २८, अनुच्छेद ६५ से लेकर पृष्ठ ६५, अनुच्छेद १७५ तक है। इसकी जहाँ (पृष्ठ ६५ पर) समाप्ति हुई है वहाँ ग्रन्थकारने '**इति संख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणमनवद्यम्, लक्षणविप्रतिपत्तिनिराकरणवत्**' शब्दोंका प्रयोग किया है। उससे ज्ञात होता है कि यहाँ उन्होंने उक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दों द्वारा प्रथम और द्वितीय दो प्रकरणोंका संकेत किया है। इसके बाद (पृष्ठ ६५ पर) दिये गये '**विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पुनरिदमभिधीयते**' वाक्यद्वारा तीसरे '**प्रमाणविषयपरीक्षा**' प्रकरणकी सूचना की गयी है, जो पृष्ठ ६५, अनुच्छेद १७६ से आरम्भ है और पृष्ठ ६६, अनुच्छेद १७७ में समाप्त है। इसके पश्चात् (पृष्ठ ६६ पर) प्रयुक्त '**फलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थं प्रतिपाद्यते**' शब्दोंसे '**प्रमाणफलपरीक्षा**' नामके चौथे प्रकरणका भी स्पष्ट निर्देश है। यह पृष्ठ ६६, अनुच्छेद १७८ से पृष्ठ ६७, अनुच्छेद १८० तक है। पिछले तीन प्रकरणोंमें दूसरा 'प्रमाणसंख्यापरीक्षा' प्रकरण सबसे बड़ा है और वह ग्रन्थके आधे भागसे अधिक सैंतीस पृष्ठ जितना है। इसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच परोक्ष प्रमाणोंका इतरमतकी मीमांसाके साथ विशद निरूपण है। इनमें अनुमान व उसके परिवारका सबसे अधिक वर्णन है। तीसरा और चौथा ये दो प्रकरण बहुत छोटे हैं। लगभग दोनों ही आधा-आधा पृष्ठके हैं। तीसरेमें प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु बताया गया है तथा चौथेमें प्रमाणका फल कथञ्चिद्भिन्नाभिन्न प्रतिपादित किया है। इस प्रकार यह ज्ञात करना कठिन नहीं है कि ग्रन्थमें परिच्छेद या अध्यायका विभाग न होने पर भी विषय-प्रतिपादक प्रकरण-विभाग तो है ही और वह चार प्रकरणोंमें स्पष्टतया प्राप्त है।

विषय-परिचय

यद्यपि उक्त ग्रन्थ-परिचयसे ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय सामान्यतया विदित हो जाता है, तथापि विषय-परिचय द्वारा ग्रन्थमें चर्चित विषयोंका यहाँ कुछ विस्तृत और विवेचनात्मक प्रतिपादन अभीष्ट है। इससे पाठकों, विशेषतया प्रमाणशास्त्रके प्राथमिक जिज्ञासुओंके लिए बोधवर्धक पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सकेगी।

१. मङ्गलाचरण

भारतीय वाङ्मयमें मङ्गलाचरणकी परम्परा बहुत प्राचीन है। मीमांसादिदर्शनोंमें '**अथातो धर्मजिज्ञासा**'[1] जैसे शब्दोंका प्रयोग करके ग्रन्थारम्भ किया गया है। 'अथ' और 'ओम्' शब्दोंको मङ्गलवाची माना गया है।[2] जैन वाङ्मयमें तो मङ्गलाचरणकी प्रवृत्ति विशेष रही है।

---

१. मीमांसासूत्र १।१। २. वैशेषि० सूत्रोप० पृ० २।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनागमके उपलब्ध प्रसिद्ध '**षट्खण्डागम**'[१] में सुप्रसिद्ध '**णमो अरहंताणं**' आदि गाथाद्वारा मङ्गल किया गया है। '**तिलोयपण्णत्ति**'[२] में मङ्गलका प्रयोजन, उसकी आवश्यकता आदिपर विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन उपलब्ध है। 'धवला'[३] टीकामें भी मङ्गलकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। आचार्य कुन्दकुन्दने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, समयसार आदि सभी ग्रन्थोंमें मङ्गलगान किया है। आद्य जैन संस्कृत-गद्यसूत्र ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी आचार्य गृद्धपिच्छने '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' आदि मङ्गलश्लोकको निबद्धकर उसका आरम्भ किया है।

मङ्गलके अनेक प्रयोजन बतलाये गये हैं। निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्ति, शिष्टाचार-परिपालन, नास्तिकता-परिहार, कृतज्ञता-प्रकाशन और शिष्य-शिक्षा ये पाँच प्रयोजन अभिहित हैं। इनके अतिरिक्त 'पुण्यावाप्ति' भी एक प्रयोजन गिनाया गया है।[४] 'आप्तपरीक्षा' में[५] ग्रंथकार आचार्य विद्यानन्दने 'श्रेयोमार्गसंसिद्धि' को भी मङ्गलका सबसे बड़ा प्रयोजन कहा है। शास्त्रमें[६] तीन स्थानोंपर मङ्गल करनेका विधान किया गया है और तीनों स्थानोंके मङ्गलका फल बतलाते हुए कहा गया है कि आरम्भमें मङ्गल करनेसे शिष्य सरलतासे शास्त्र-पारंगत होते हैं, मध्यमें मङ्गलके करनेसे उन्हें निर्विघ्न विद्या-प्राप्ति होती है और अन्तमें मङ्गलके आचरणसे वे विद्या-फल (निःश्रेयस्) को प्राप्त होते हैं।

दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा० २), विशेषावश्यकभाष्य (गा० १२ से १४), बृहत्कल्पभाष्य (गा० २०) आदि श्वेताम्बर वाङ्मयमें भी मङ्गलका प्रतिपादन है।

मङ्गल तीन प्रकारका बतलाया गया है[७]—१ मानसिक, २ वाचिक और ३ कायिक। भगवत्स्मरणको मानसिक, भगवद्गुणसंस्तवनको वाचिक

---

१. षट्ख० १।१।१, पुस्तक १, पृ० ८। २. गाथा १-८ से १-३१। ३. धवला १।१।१ पुस्तक १, पृ० ८ से ४१।

४. नास्तिकत्व-परिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात्।।—उद्धृत अन० ध० पृ० १—

५. आप्तप० का० २। ६. ति० प० १-२९, ३१। ७ न्यायदी० पृ० ३ का टिप्पण। तथा 'कतिविधं मंगलम्? मंगलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधम्,·········'—धवला पुस्तक १, १।१।१ पृ० ३७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और शिरोनति आदिको कायिक मङ्गल कहा गया है। वाचिक मङ्गल दो प्रकारसे किया जाता है[1]—१ निबद्ध और २ अनिबद्ध। जो मङ्गल श्लोकादिके रूपमें शास्त्रमें लिखा जाता है वह निबद्ध वाचिक और जो लिखा न जाकर केवल मुखसे उच्चारण किया जाता है वह अनिबद्ध वाचिक मंगल है। इसीसे कितने ही शास्त्रकार ग्रन्थ-प्रणयनकी शीघ्रताके कारण निबद्ध-वाचिक मंगल न करते हुए भी मानसिक, कायिक या अनिबद्ध वाचिक मंगल करने वाले माने गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थमें ग्रन्थकारने **'जयन्ति निर्जिताशेष-'** आदि पद्य द्वारा निबद्ध-वाचिक मङ्गल किया और मंगलाचरणकी पूर्व परम्पराका अनुसरण किया है। ध्यातव्य है कि इस मङ्गलपद्यको **'प्रमाणप्रमेयकलिका'**[2] में उसके कर्ता श्रीनरेन्द्रसेनने भी अपना मङ्गलाचरण बनाया है और उसके वैशिष्ठ्यको ख्यापित किया है।

२. प्रमाण-लक्षण

भारतीय दर्शनोंमें सर्वप्रथम प्रमाणका लक्षण किसने किया, इसका अनुसन्धान करनेपर ज्ञात होता है कि वैशेषिक दर्शनकार मुनि कणादने स्वाभिमत सात पदार्थोंके अन्तर्गत गुणपदार्थके चौबीस भेदोंमें परिगणित बुद्धिको दो प्रकारकी कही है—१. विद्या और २. अविद्या। जो निर्दोष ज्ञान है वह विद्या है और जो निर्दोष ज्ञान नहीं है वह अविद्या है। कणादके इस प्रतिपादनानुसार निर्दोष ज्ञानरूप विद्या प्रमाण है[3]।

न्यायसूत्रकार गौतमने प्रमाणका लक्षण नहीं कहा। किन्तु उनके न्यायसूत्रपर भाष्य लिखनेवाले वात्स्यायनने[4] अवश्य उपलब्धिसाधनको प्रमाण बतलाते हुए उसे 'प्रमाण' शब्दकी **'प्रमीयतेऽनेनेति'** इस व्युत्पत्ति-द्वारा फलित किया है। उद्योतकरने[5] भाष्यकारका ही अनुसरण किया है। जयन्तभट्ट[6] भी भाष्यकार तथा वार्त्तिककारकी तरह प्रमाणशब्दको

---

१. 'तच्च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि। तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए···कय-देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं।'—धवला पुस्तक १, १।१।१ पृ० ४१।
२. प्रमा० प्रमे० क० पृ० १, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन। ३. 'अदुष्टं विद्या'-वैशेषिकसू० ९।२।१२। ४. न्यायभाष्य पृष्ठ १८। ५. न्यायवा० पृ० ५। ६. 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते।'--न्यायमं० पृ० २५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करणार्थाभिधायी मानकर उनके द्वारा प्रदर्शित प्रमाणशब्दकी उक्त व्युत्पत्तिसे सहमत है। किन्तु वे उस व्युत्पत्तिसे '**उपलब्धिसाधनं प्रमाणम्**' ऐसा फलित न मानकर '**प्रमाकरणं प्रमाणम्**' इस प्रकार अवगम करते हैं। यद्यपि उपलब्धिसाधन और प्रमाकरण दोनोंमें सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है, फिर भी सूक्ष्म ध्यान देनेपर उनका अन्तर अवगत हो जाता है। उपलब्धिशब्दसे यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकारके ज्ञानका बोध होता है। किन्तु प्रमाशब्दसे यथार्थ ज्ञानका ग्रहण होता है और इस दृष्टिसे जयन्तभट्टका उक्त फलित प्रमाणलक्षण विकसित और परिष्कृत है।

मीमांसादर्शनमें दो परम्पराएँ हैं—एक कुमारिलभट्टकी और दूसरी प्रभाकरकी। कुमारिलने प्रमाणका लक्षण पाँच विशेषणोंसे युक्त बतलाया है। वह यह है—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

यह श्लोक कुमारिलके नामसे प्रसिद्ध है। किन्तु उनके मीमांसाश्लोकवार्त्तिकमें वह उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि वह कुछ प्रतियोंमें छूट गया हो। या उनके किसी दूसरे अनुपलब्ध ग्रन्थका हो।

प्रभाकर[1] अनुभूतिको प्रमाण मानते हैं। उनके अनुयायी शालिकानाथ[2] आदिने उसका समर्थन किया है।

सांख्य[3] इन्द्रियवृत्तिको प्रमाणका लक्षण स्वीकार करते हैं। उनका मन्तव्य है कि इन्द्रियोंका उद्घाटनादि व्यापार होने पर अर्थप्रमिति होती है, उसके अभावमें नहीं।

बौद्ध दर्शनमें सर्वप्रथम दिङ्नागने[4] प्रमाणलक्षण किया जान पड़ता है। उन्होंने अज्ञातार्थके प्रकाशकको प्रमाण कहा है तथा विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्तिको फल बतलाकर उन्हें प्रमाणसे अभिन्न

---

१. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।—बृहती १।१।५। २. प्रकरणपं० प्रमाणपा० पृ० ६४। ३. प्रमाणं वृत्तिरेव च।—योगवा० पृ० ३०। रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।--सांख्यका० २८। माठरवृ० ४७। सांख्यप्र० भा० १-८७, पृ० ४७। योगद० व्यासभा० पृ० २७। ४. अज्ञातार्थप्रप्रकाशकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्।--प्रमाणसमु० का० ३, पृ० ११।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना है[1], क्योंकि बौद्ध दर्शनमें प्रमाण तथा प्रमाणफल दोनोंमें अभेद स्वीकार किया गया है। धर्मकीर्तिने[2] अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण प्रतिपादित किया है। और शान्तरक्षितने[3] दिङ्नागकी तरह विषयाधिगति अथवा स्ववित्तिको प्रमाणफल तथा सारूप्य अथवा योग्यताको प्रमाण कहकर उनमें भेदकी ओर संकेत किया है। पर वह अभेदमें ही पर्यवसित है।

जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणस्वरूप-विमर्श

जैन दर्शनमें भी प्रमाणके लक्षणपर चिन्तन किया गया है। आरम्भमें उसका क्या रूप रहा और उत्तर कालमें उसमें कितना व क्या विकास हुआ, इन बातोंपर यहाँ संक्षेपमें विचार किया जाता है।

आगमोंमें दर्शनशास्त्रीय पद्धतिसे प्रतिपादित प्रमाणकी विचारणा तो उपलब्ध नहीं है। पर उनमें आगमिक पद्धतिसे ज्ञान-मीमांसा विस्तारपूर्वक है। षट्खण्डागममें[4] ज्ञानमार्गणानुसार आठ ज्ञानोंका प्रतिपादन करते हुए तीन ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान और पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान निरूपित किया है।

कुन्दकुन्दने[5] उक्त आगमप्रतिपादित ज्ञानको प्रथमतः दो प्रकारका बतलाया है—१ स्वभावज्ञान और २ विभावज्ञान। स्वभावज्ञान एक ही तरहका है और वह है केवलज्ञान। विभावज्ञानके दो भेद हैं—१ सम्यग्ज्ञान और २ अज्ञान (मिथ्याज्ञान)। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान सत्यार्थग्राही और क्षयोपशमजन्य होनेसे सम्यज्ञान-विभावज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत एवं विभंगावधि ये तीन ज्ञान

१. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥—वही, १।१०। २. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्····प्रमाणवा०।—२।१। ३. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥—तत्त्वसं० का० १३४४।

४. षट्खण्डागम १।१।१५।

५. णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥ १० ॥
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥ ११ ॥
सण्णाणं चउभेयं मदि-सुद-ओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई-भेददो चेव ॥ १२ ॥
नियमसा० गा०, ११, १२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असत्यार्थग्राही और क्षयोपशमजन्य होनेसे अज्ञान (मिथ्याज्ञान) हैं। कुन्द-कुन्दका यह निरूपण प्रायः आगमपरम्पराका ही अनुसरण करता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छने[1] अवश्य उक्त आगमपरम्पराको अपनाते हुए भी उसमें नया मोड़ दिया है। उन्होंने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच आगमोक्त ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहकर उन्हें स्पष्ट-तया प्रमाण प्रतिपादित किया है। अर्थात् उन्हें प्रमाणका लक्षण बत-लाया है।

समन्तभद्रने[2] उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानको तत्त्वज्ञान कहा है और उसे प्रमाण वर्णित किया है। उसे उन्होंने दो भागोंमें विभक्त किया है—१ युगपत्सर्व-भासी और २ क्रमभासी, जो स्याद्वादनयसे सुसंस्कृत होता है। ध्यान देने पर गृद्धपिच्छ और समन्तभद्रके प्रमाणलक्षणोंमें शब्दभेदको छोड़कर कोई मौलिक अर्थभेद प्रतीत नहीं होता। सम्यक् और तत्त्व दोनोंका एक ही अर्थ है और वह है—सत्य—यथार्थ। अत एव सम्यग्ज्ञानको या तत्त्वज्ञान-को प्रमाण कहना एक ही बात है।[3]

समन्तभद्रने[4] एक और प्रमाणलक्षण दिया है, जिसमें उसे स्व और पर दोनोंका अवभासक कहा है। उनका यह **'स्वपरावभासकत्व'** प्रमाण-लक्षण बिलकुल नया और मौलिक है। उनसे पूर्व इस प्रकारका प्रमाण-लक्षण उपलब्ध नहीं होता। विज्ञानाद्वैतवादी **'स्वरूपस्य स्वतो गतेः'**[5], **'स्वरूपाधिगतेः परम्'**[6] आदि प्रतिपादनोंद्वारा प्रमाणको केवल स्वसंवेदी और सौत्रान्तिक **'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्'**[7] **'अज्ञातार्थप्रकाशो वा'**[8], **'प्रमा-णमविसंवादि ज्ञानामर्थक्रियास्थितेः'**[9] जैसे कथनों द्वारा उसे पर (अर्थ) संवेदी मानते हैं। परोक्षज्ञानवादी मीमांसक[10] तथा अस्वसंवेदी ज्ञानवादी[11]

---

१. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।—त० सू० १।९, १०।

२. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥—आप्तमी० का० १०१।

३. देखिए, विद्यानन्द, अष्टस० का० १०१, पृ० २७६। ४. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।—स्वयम्भूस्तो० का० ६३। ५. धर्मकीर्ति, प्रमाण-वा० २।४। ६. वही, २।५। ७. दिङ्नाग, प्रमाणसमु० (स्वोपज्ञवृ०) १। ८. प्रमाणवा० २।५। ९. वही, २।१। १०. भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञान-जन्या ज्ञातता तया ज्ञानमनुमीयते।—सिद्धान्त मु० पृ० ११९। ११. '.....नापि च तत्रैव व्यवस्था तस्या एव ग्रहणमुपेयते येनात्मनि वृत्तिविरोधो भवेत्, अपि तु प्रत्यक्षा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैयायिक-वैशेषिक एवं सांख्य प्रमाणको परसंवेदी ही स्वीकार करते हैं। परन्तु किसी भी तार्किकने प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एकसाथ संवेदी नहीं माना। जैन तार्किक समन्तभद्र ही ऐसे तार्किक हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम प्रमाणको एकसाथ स्व-परपरिच्छेदी प्रतिपादन किया है। उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने उनका अनुगमन करते हुए उसे स्वपरावभासी सिद्ध किया है। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान चमचमाता हीरा या ज्योतिपुञ्ज दीपक है, जो अपनेको प्रकाशित करता हुआ उसी कालमें योग्य देशादिमें स्थित बाह्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। जो स्वपरपरिच्छेद यथार्थ होता है वही प्रमाण है। **'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'**—जिसके द्वारा प्रमा (अज्ञाननिवृत्ति) हो वह प्रमाण है, प्रमाणशब्दकी इस व्युत्पत्तिके अनुसार नैयायिक-वैशेषिक वह प्रमा सन्निकर्षसे, सांख्य इन्द्रियवृत्तिसे, मीमांसक इन्द्रियसे और बौद्ध सारूप्य एवं योग्यतासे स्वीकार करते हैं। अतः उनके यहाँ क्रमशः सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, इन्द्रिय और सारूप्य एवं योग्यताको प्रमाण माना गया है। समन्तभद्रने स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमाण प्रतिपादन करके उक्त मतोंको अस्वीकार किया है। बात यह है कि उक्त सन्निकर्षादि अज्ञान (जड) रूप हैं और अज्ञानसे अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमा सम्भव नहीं है। अन्धकारकी निवृत्ति प्रकाशसे ही होती है, घटादिसे नहीं।

न्यायावतारकार सिद्धसेनने[1] समन्तभद्रके उक्त प्रमाण-लक्षणको अपनाते हुए उसमें एक विशेषण और दिया है। वह है बाधविवर्जित। यह विशेषण कुमारिलके पूर्वोक्त प्रमाणलक्षणमें भी विद्यमान है। वास्तवमें यह विशेषण गृद्धपिच्छोक्त 'सम्यक्' विशेषण और समन्तभद्रोक्त 'तत्त्व' विशेषण द्वारा गतार्थ हो जाता है। अतः 'बाधविवर्जित' विशेषणको देनेसे कोई विशेष फल उपलब्ध नहीं होता।

तत्त्वार्थसूत्रके आद्य टीकाकार पूज्यपादने[2] समन्तभद्रके अनुसरणके

द्विजातीयेन प्रत्यक्षादिजातीयस्य ग्रहणमातिष्ठामहे।....'—न्यायवा० ता० टी० पृ० ३७०। 'विवादाध्यासिताः (प्रत्ययाः) प्रत्ययान्तरेणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात्,.... तथा च न स्वसंवेदनं विज्ञानमिति सिद्धम्।'--विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७। प्रशस्तपा० व्योम० पृ० ५२९। प्रमे० क० मा० १-१० पृ० १३२।

१. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।—न्यायाव० का० १। २. सन्निकर्षः प्रमाणमिन्द्रियं प्रमाणमिति केचित् कल्पयन्ति तन्निवृत्त्यर्थं तदित्युच्यते। तदेव मत्यादि प्रमाणं नान्यदिति....।—स० सि० १।१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ सन्निकर्ष और इन्द्रियप्रमाण सम्बन्धी मान्यताओंकी समीक्षा भी की है। उनका कहना है[1] कि सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनके द्वारा उन पदार्थोंका ज्ञान असम्भव है। फलतः सर्वज्ञताका अभाव हो जायेगा। दूसरे, इन्द्रियाँ अल्प—केवल स्थूल, वर्तमान और आसन्न विषयक हैं और ज्ञेय (सूक्ष्म, व्यवहितादिरूप) अपरिमित है। ऐसी स्थितिमें इन्द्रियों और सन्निकर्षसे समस्त ज्ञेयों (अतीत-अनागतादिपदार्थों) का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। तीसरे, चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी होनेके कारण सभी इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष भी सम्भव नहीं है। चक्षु स्पृष्टका ग्रहण न करने और योग्य दूर स्थितका ग्रहण करनेसे अप्राप्यकारी है।[2] यदि चक्षु प्राप्यकारी हो, तो उसे स्वयंमें लगे अंजनको देख लेना चाहिए। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय स्पृष्टको ग्रहण कर लेती है। पर चक्षु स्पृष्ट अंजनको नहीं ग्रहण करती। अतः चक्षु मनकी तरह अप्राप्यकारी है। दूसरे, स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी तरह वह समीपवर्ती वृक्षकी शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमाको एकसाथ नहीं देख सकती। तीसरे, चक्षु अभ्रक, काँच और स्फटिक आदिसे आच्छादित पदार्थोंको भी देख लेती है, जब कि प्राप्यकारी स्पर्शनादि इन्द्रियां उन्हें नहीं जान पातीं। चौथे, यह आवश्यक नहीं कि जो कारण हो वह पदार्थसे संयुक्त होकर ही काम करे। चुम्बक लोहेसे असंयुक्त होकर दूरसे ही उसे खींच लेता है। पाँचवें, चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर पदार्थमें दूर और निकटका व्यवहार नहीं हो सकता। इन सब कारणोंसे चक्षु अप्राप्यकारी है।

पूज्यपादने[3] ज्ञानको प्रमाण माननेपर सन्निकर्ष और इन्द्रिय प्रमाण-

---

१. अथ सन्निकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः ? यदि सन्निकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसंगः ।·····।—स० सि० १।१०, पृष्ठ ७६ ।
२. (क) अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमंजनं गृह्णीयात् न तु गृह्णाति मनोवदप्राप्यकारीति ।—स० सि० १।१९, पृ० ११९, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन। (ख) अकलंक, त० वा० १।१९, पृ० ६७, ६८, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन। (ग) डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, जैनदर्शन पृ० २७०, वर्णी-ग्रन्थमाला प्रकाशन। ३. ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति, नैष दोषः, अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात् ।·····उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम् ।····· ।—स० सि० १।१० । समन्तभद्र, आप्तमी० का० १०२ । माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ५।१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादियोंद्वारा उठायी गयी उस आपत्तिका भी परिहार किया है जिसमें कहा गया है कि यदि ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया जाता है तो प्रमाणके फलका अभाव हो जायगा। सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर तो उसका 'अर्थज्ञान' फल बन जाता है? पूज्यपाद इस आपत्तिका परिहार करते हुए कहते हैं कि ज्ञानको प्रमाण माननेपर फलका अभाव नहीं होता, क्योंकि पदार्थका ज्ञान होनेके उपरान्त प्रमाताको उसमें प्रीति होती है। प्रमाता ज्ञातास्वभाव है, किन्तु कर्मके कारण वह आच्छादित रहता है और इसलिए वह इन्द्रियोंको सहायतासे पदार्थ-निश्चय करता है और इस पदार्थनिश्चयमें उसे प्रीति (अनुरक्ति) होती है। यह प्रीति उसका फल है। अथवा उपेक्षा या अज्ञाननिवृत्ति अर्थज्ञानरूप प्रमाणका फल है। राग या द्वेषका लगाव न होना उपेक्षा है और अन्धकारतुल्य अज्ञानका दूर हो जाना अज्ञाननाश है।

स्मरणीय है कि वात्स्यायन[1] और जयन्त भट्टने[2] भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया है तथा उस स्थितिमें प्रमाणका फल हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि बतलाया है। पर यह सत्य है कि न्यायदर्शनमें मुख्यतया उपलब्धिसाधन या प्रमाकरण रूपमें सन्निकर्ष या कारकसाकल्यको ही प्रमाण माना गया है और ज्ञानको सभीने एक मतसे अस्वसंवेदी प्रतिपादन किया है। ज्ञानको जो प्रमाण और उसके फलको हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप मान लिया गया है वह जैन दर्शनका प्रभाव प्रतीत होता है। जो हो, वह अनुसन्धेय है।

अकलंकदेवने[3] समन्तभद्रोपज्ञ उक्त प्रमाणलक्षण और पूज्यपादकी प्रमाणमीमांसाको मान्य किया है। पर सिद्धसेनद्वारा प्रमाणलक्षणमें दत्त 'बाधविवर्जित' विशेषण उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उसके स्थानपर उन्होंने एक दूसरा ही विशेषण दिया है जो न्यायदर्शनके प्रत्यक्ष-लक्षणमें[3] निहित है, पर प्रमाणसामान्यलक्षणवादियों और जैन तार्किकोंके लिए वह नया है। वह विशेषण है—व्यवसायात्मक। अकलंकका मत है कि चाहे प्रत्यक्ष हो, और चाहे अन्य प्रमाण। प्रमाणमात्रको व्यवसायात्मक होना चाहिए। कोई

---

१. यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।—न्यायभा० १।१।३।

२. प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।
तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्धयः॥—न्यायमं० पृष्ठ ६२।

३. अक्षपाद, न्यायसू० १।१।४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी ज्ञान हो वह निर्विकल्प, कल्पनापोढ या अव्यपदेश्य नहीं हो सकता। यह सम्भव नहीं कि अर्थका ज्ञान हो और विकल्प न उठे। ज्ञान तो विकल्पात्मक ही होता है। इस प्रकार इस विशेषणद्वारा अकलंकने जहाँ बौद्ध दर्शनके निर्विकल्पक[1] प्रत्यक्षकी मीमांसा की है वहाँ न्याय-दर्शनमें मान्य अव्यपदेश्य[2] (अविकल्पक) प्रत्यक्षज्ञानकी भी समीक्षा की है। अकलंकने समन्तभद्रके प्रमाणलक्षणगत 'स्व' और 'पर' पदके स्थानमें क्रमशः 'आत्मा' और 'अर्थ' पदोंका समावेश किया तथा 'अवभासक' पदकी जगह 'ग्राहक' पद रखा है। पर वास्तवमें अर्थकी दृष्टिसे इस परिवर्तनमें कोई अन्तर नहीं—मात्र शब्दोंका हेर-फेर है। अकलंकदेवने प्रमाणके अन्य लक्षण भी भिन्न-भिन्न स्थानोंपर दिये हैं। इन लक्षणोंमें मूल आधार तो आत्मार्थग्राहकत्व एवं व्यवसायात्मकत्व ही है, पर उनमें अर्थके विशेषणरूपसे कहीं उन्होंने[3] 'अनधिगत' और कहीं 'अनिर्णीत' पदको दिया है। तथा कहीं ज्ञानके विशेषण रूपसे 'अविसंवादि'[4] पदको भी रखा है। ये पद कुमारिल[5] तथा धर्मकीर्तिसे[6] लिये गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें ये पद पहलेसे निहित हैं। हाँ, 'अविसंवादि' पद तो धर्मकीर्तिसे पूर्व भी जैन चिन्तक पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (१।१२) में उपलब्ध है।

विद्यानन्दने[7] यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है, जो आचार्य गृद्धपिच्छके[8] अनुसरणको व्यक्त करता है। पर पीछे उसे उन्होंने 'स्वार्थव्यवसायात्मक'[9] भी सिद्ध किया है। इस प्रकार उनके प्रमाण-लक्षणमें अकलंककी तरह 'अनधिगत' विशेषण प्राप्त नहीं है। फिर भी उन्हें सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना अनिष्ट नहीं है। अकलंककी भांति उन्होंने भी स्मृत्यादि प्रमाणोंमें

---

१. दिङ्नाग, प्र० स० (प्र० परि०) का० ३। २. इह हि द्वयी प्रत्यक्ष-जातिरविकल्पिका सविकल्पिका चेति।—वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।४, पृ० १२५। चौखम्बा प्रकाशन। ३. अष्टश० आप्तमी० का० ३६ तथा का० १००। ४. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।—वही, का० ३६, पृ० २२। सनातनग्रन्थमाला प्रकाशन। ५. 'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं....' कुमारिलका पूर्वोक्त श्लोक। ६. 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्....'—प्रमाणवा० २।१। ७. प्रस्तुत प्रमाणप० पृ० १। ८. त० सू० १।९, १०। ९. किं पुनः सम्यग्ज्ञानम्। समभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्। प्रमाणप० पृ० ५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपूर्वार्थविषयताका स्पष्टतया समर्थन किया है।[1] प्रमाणके सामान्य-लक्षणमें जो उन्होंने 'अपूर्व' या 'अनधिगत' विशेषण नहीं दिया, उसका इतना ही तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है, अनुमानादि भी प्रत्यक्षादिसे अगृहीत देशकालादिविशिष्ट वस्तुको विषय करनेसे अपूर्वार्थग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। विद्यानन्दने[2] जिस अपूर्वार्थका निरास किया है वह कुमारिलका अभिप्रेत सर्वथा अपूर्वार्थ है, कथंचिद् अपूर्वार्थ नहीं। कथंचिद् अपूर्वार्थ तो उन्हें इष्ट है।

विद्यानन्दके परवर्ती माणिक्यनन्दिने[3] अकलंक तथा विद्यानन्द-द्वारा स्वीकृत और समर्थित समन्तभद्रोक्त लक्षणको ही अपनाया है। उन्होंने समन्तभद्रका 'स्व' पद ज्यों-का-त्यों रहने दिया और 'अर्थ' तथा 'व्यवसायात्मक' पदोंको अकलंक और विद्यानन्दसे लेकर एवं 'अर्थ' के विशेषणरूपसे 'अपूर्व' पदको उसमें जोड़कर '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**' प्रमाणलक्षण सृजित किया है। यद्यपि 'अपूर्वार्थ' विशेषण कुमारिलके प्रमाणलक्षणमें हम देख चुके हैं तथापि वह अकलंक और विद्यानन्द-द्वारा 'कथंचिद् अपूर्वार्थ' के रूपमें जैन परम्परामें प्रतिष्ठित हो चुका था। माणिक्यनन्दिने उसे ही अनुसृत किया है। माणिक्यनन्दिका यह प्रमाण-लक्षण इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तरवर्ती अनेक जैन तार्किकोंने उसे ही कुछ आंशिक परिवर्तनके साथ अपने तर्कग्रंथोंमें मूर्धन्य स्थान दिया है।

देवसूरिने[4] अपना प्रमाणलक्षण प्रायः सिद्धसेनके न्यायावतारगत प्रमाणलक्षण और माणिक्यनन्दिके प्रमाणलक्षणके आधारपर लिखा है।

हेमचन्द्रने[5] उक्त लक्षणोंसे भिन्न प्रमाणलक्षण रचा है। इसमें उन्होंने 'स्व' पदका समावेश नहीं किया। तत्त्वार्थसूत्रकारके 'सम्यक्' पदको ज्यों-का-त्यों लेकर और उनके 'ज्ञान' पदके स्थानमें 'निर्णय' पद देकर तथा उसके विशेषणके रूपमें 'अर्थ' पद लगाकर '**सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्**' लक्षण प्रस्तुत किया है। 'स्व' पद न देनेका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं[6]

१, २. प्रमाणप०, पृ० ४३, ४५। त० श्लो० वा० १।१०।७७, ७८, ७९। ३. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।—परीक्षामु० १।१। ४. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमिति।—प्रमाणनयतत्त्वा० १।२। ५. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।—प्र० मी० १।१।२। ६. स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात्....। न हि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम। ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभिः, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्तः।—प्रमा० मी० १।१।३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि ज्ञान 'स्वनिर्णय' अवश्य करता है, किन्तु वह प्रमाण-अप्रमाणज्ञानका साधारणधर्म है—प्रमाणरूप ज्ञानका ही वह धर्म नहीं है और इसलिए वह प्रमाण (ज्ञानविशेष)का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षण असाधारण होता है। अतएव हमने स्वनिर्णयको प्रमाणका लक्षण नहीं कहा। वृद्धोंने जो उसे प्रमाणलक्षण माना है वह केवल परीक्षा या स्वरूपप्रदर्शनके लिए ही बतलाया है। हेमचन्द्रने[1] प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' या 'अनधिगत' जैसे पदके देनेको भी अनावश्यक कहा है। उनका मन्तव्य है कि गृहीष्यमाण अर्थके ग्राहक ज्ञानकी तरह गृहीतार्थके ग्राही ज्ञानको भी प्रमाण माननेमें कोई बाधा नहीं है। ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर परम्पराके सभी जैन तार्किकोंको प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' विशेषण अस्वीकृत है।

अभिनव धर्मभूषणने[2] तत्त्वार्थसूत्रकार और विद्यानन्दकी तरह '**सम्यग्ज्ञान**' को ही प्रथमतः प्रमाणका लक्षण बतलाया है। बादको उन्होंने[3] उसका समर्थन एवं दोष-परिहार करते हुए उसे माणिक्यनन्दिके '**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**' इस प्रमाणलक्षणमें ही पर्यवसित किया है।

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जैन दर्शनमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाणलक्षण माना है और उसे 'स्वपरव्यवसायात्मक' बतलाया है। अनेक ग्रन्थकार उसमें 'पर' (अर्थ) पदके साथ 'अपूर्व' विशेषणका भी निवेश करके उसे 'अगृहीतग्राही' प्रतिपादन करते हैं। उनका मत है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण अनिश्चित एवं समारोपित विषयको ग्रहण करके अपनी अपूर्वता (विशेषता) स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ अनुभव(प्रत्यक्ष)के पश्चात् होनेवाली स्मृति भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालोंमें व्याप्त वस्तुके केवल अतीत अंशको ग्रहण करती है, जबकि अनुभव मात्र वर्तमान वस्त्वंशको जानता है। यद्यपि अंशके साथ अंशी भी अनुस्यूत रहनेसे गृहीत हो जाता है, पर उसका ग्रहण गौणरूपसे होता है, मुख्यतया उनके द्वारा अंशोंका ही ग्रहण होता है और अंश अंशीसे कथंचिद् भिन्न होनेके कारण प्रत्यक्ष और स्मृतिमें कथंचित् अपूर्वता रहती है। वास्तवमें प्रत्यक्ष तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँचों परोक्ष-प्रमाण वस्तुके उन अंशोंमें

---

१. गृहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ।—प्र० मी०, १।१।४, पृ० ४, सिंघी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन। २. न्यायदी० पृ० ९, वीर-सेवा-मंदिर प्रकाशन। ३. वही, १२, १८—२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्त होते हैं, जो पूर्व ज्ञानोंसे अगृहीत होते हैं। अतएव भिन्न-भिन्न अंशोंको ग्रहण करनेकी अपेक्षा उक्त सभी प्रमाण अपूर्वार्थग्राही हैं और इसीसे प्रमाणके लक्षणमें स्पष्टताके बोधनार्थ 'अपूर्व', 'अनधिगत', 'अनिर्णीत' 'अगृहीत', 'अज्ञात' जैसा विशेषण 'अर्थ' के साथ समायोजित करना बतलाया है। इस मतके प्रतिपादक अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, धर्मभूषण प्रभृति विद्वान् हैं। पर न्यायावतारकार सिद्धसेन, देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजय उसे स्वीकार नहीं करते। इनका मन्तव्य है कि प्रमाण गृहीतग्राही भी हो, तो उससे उसका प्रामाण्य समाप्त नहीं होता। इस प्रकार जैन दर्शनिकोंने प्रमाणके सामान्य-स्वरूपपर विस्तृत विचार किया है।

प्रस्तुत प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणस्वरूप-मीमांसा

ऊपर प्रमाणका सामान्य स्वरूप दिया गया है। अब विद्यानन्दद्वारा किया गया उसका विशेष विचार यहाँ प्रस्तुत है।

विद्यानन्दने इस प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणके सभी अङ्गों—स्वरूप, संख्या, विषय और फल—पर संक्षेपमें, किन्तु विशदताके साथ चिन्तन किया है।

स्वरूपका ऊहापोह करते हुए उन्होंने 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाणका स्वरूप निर्धारित किया है। उससे इतर सन्निकर्ष आदिको प्रमाण स्वीकार करनेमें जो बाधायें उपस्थित होती हैं उनका निर्देशपूर्वक उनकी उन्होंने विशद मीमांसा की है।

उनका मन्तव्य है कि 'सच्चा ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान (जो ज्ञान नहीं है वह) प्रमाण नहीं हो सकता'। नैयायिकादिका मत है कि 'सन्निकर्ष आदि अज्ञानरूप होकर भी अपने तथा बाह्य अर्थके निश्चय करानेमें करण (साधकतम) हैं, अतः वे प्रमाण हैं' उनका यह मत युक्त नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष आदि अचेतन होनेसे स्वनिश्चय करानेमें करण नहीं हो सकते। स्पष्ट है कि कोई अचेतन पदार्थ स्वनिश्चयमें उसी प्रकार करण सम्भव नहीं, जिस प्रकार वस्त्रादि स्वनिश्चयमें करण नहीं हैं।

यहाँ नैयायिकोंका कहना है कि 'सन्निकर्ष स्वनिश्चयमें करण न होने पर भी अर्थनिश्चयमें करण है', तो उनका यह कथन भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष जब स्वनिश्चयमें करण नहीं है, तो वह अर्थनिश्चयमें करण नहीं हो सकता। इसे अनुमानसे यों सिद्ध किया जा सकता है कि सन्निकर्षादि अर्थनिश्चयमें करण (साधकतम) नहीं हैं, क्योंकि वे स्वनिश्चयमें करण नहीं हैं, दृष्टान्त वही वस्त्रादिका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रदीप आदि अचेतन पदार्थ स्वनिश्चयमें करण न होनेपर भी घटादि पदार्थोंके निश्चय (प्रकाशन) में करण हैं, अतः उपर्युक्त साधन (हेतु) प्रदीपादिके साथ व्यभिचारी है और साधनके व्यभिचारी होनेसे उक्त अनुमान सदोष है।' यह विचार भी ठीक नहीं, क्योंकि यथार्थमें प्रदीपादि घटादिपदार्थोंके निश्चयमें करण नहीं हैं। उनके निश्चयमें नैयायिकोंने स्वयं चक्षु और मनको ही करणरूपमें स्वीकार किया है। प्रदीपादिको तो उनका सहकारी होनेसे उपचारसे करण कहा गया है। और यह मानना युक्त नहीं कि प्रदीपादि अर्थप्रकाशनमें ही उपचारसे करण हैं, स्वप्रकाशनमें नहीं, क्योंकि जिस प्रकार प्रदीपादि अर्थप्रकाशनमें चक्षु आदिके सहकारी होनेसे उपचारसे करण स्वीकृत हैं उसी प्रकार प्रदीपादिका ज्ञान उत्पन्न करनेमें भी वे (प्रदीपादि) चक्षु आदिके सहकारी होनेसे उपचारसे करण सिद्ध होते हैं।

'चक्षु आदि स्वनिश्चयमें करण न होनेपर भी अर्थनिश्चयमें करण हैं, अतः उक्त साधन चक्षु आदिके साथ अनैकान्तिक है', यह मन्तव्य भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि उपकरणरूप चक्षु आदि इन्द्रियाँ अचेतन होनेसे अर्थनिश्चयमें उपचारसे करण हैं। वास्तवमें अर्थग्रहणशक्तिरूप चक्षु आदि भावेन्द्रियाँ ही अर्थनिश्चयमें साधकतम होनेसे करण निर्णीत होती हैं। और यह असिद्ध नहीं है, जिनकी प्रतिभा निर्मल है उन्हें यह सहज ही अवगत हो सकता है। उसे अनुमानसे भी यहाँ सिद्ध किया जाता है—

'जिसके न होनेपर तथा अन्य कारणोंके होनेपर भी जो उत्पन्न नहीं होता वह उसका करण (साधकतम) है, जैसे कुठारके न होनेपर तथा अन्य कारणोंके रहनेपर भी काष्ठच्छेदन नहीं होता, अतः काष्ठच्छेदनका साधकतम (करण) कुठारको माना जाता है उसी प्रकार भावेन्द्रियके न होने और द्रव्येन्द्रिय (उपकरणेन्द्रिय) एवं अन्य सहकारियोंके होनेपर भी घटादि पदार्थोंका निश्चय नहीं होता, अतः उसका साधकतम (करण) भावेन्द्रिय है।' यह भावेन्द्रिय ज्ञानावरणक्षयोपशमशक्ति और उपयोग (ज्ञान) रूप है।

यदि अर्थनिश्चय बाह्य करण (सन्निकर्ष) से स्वीकार किया जाय, तो जिस प्रकार घटके साथ चक्षु-सन्निकर्ष होनेसे घटका चाक्षुष ज्ञान होता है उसी प्रकार आकाशके साथ भी बाह्य करण—उपकरणरूप चक्षुका सन्निकर्ष होनेसे आकाशका भी चाक्षुष ज्ञान क्यों नहीं होता ? यह नहीं कहा जा सकता कि चक्षु आकाशकी तरह अमूर्तिक है, क्योंकि नैयायिकोंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं उसे भौतिक (तैजस) और हमने पौद्गलिक स्वीकार किया है।

'आकाशके साथ चक्षुका सन्निकर्ष रहते हुए भी योग्यता न होनेके कारण उसका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता' यह उत्तर भी साधु नहीं है, क्योंकि तब योग्यता ही साधकतम सिद्ध होगी, सन्निकर्ष नहीं।

फिर प्रश्न है कि वह योग्यता क्या है? यदि 'सन्निकर्षकी विशिष्ट शक्ति' का नाम योग्यता है, तो वह शक्ति 'सहकारियोंका सन्निधान' हो सकती है। उद्योतकरने '**सहकारि-सान्निध्यको ही शक्ति**' कहा है। इस पर शंका होती है कि वह सहकारी क्या है, जिसके सान्निध्यको शक्ति या योग्यता कहा जाता है? क्या द्रव्य है, गुण है या कर्मादि? यदि द्रव्यको सहकारी कहा जाय, तो वह द्रव्य आत्मद्रव्य तो सहकारी हो नहीं सकता, क्योंकि उसका सन्निधान चक्षु और आकाशके सन्निकर्षमें भी विद्यमान रहता है, परन्तु आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। कालद्रव्य और दिग्द्रव्य ये दोनों द्रव्य भी सहकारी नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंका सन्निधान भी उनके व्यापक होनेसे आत्मद्रव्यकी तरह चक्षु और आकाशके सन्निकर्षमें मौजूद है, पर आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता। मनोद्रव्यको भी सहकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आकाशमें उसका भी सन्निधान हो सकता है, कभी किसी पुरुषका क्रियावान् अणुरूप मन उसमें जानेसे आकाशके साथ चक्षुःसन्निकर्ष सम्भव है, परन्तु उसके रहते हुए भी आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

यहाँ सामग्री-प्रमाणवादी नैयायिक जयन्तभट्ट समाधान करते हैं कि 'आत्माका मनके साथ, मनका इन्द्रियके साथ और इन्द्रियका अर्थके साथ सम्बन्ध होता है और इस तरह चारका सन्निकर्ष अर्थनिश्चयमें साधकतम है', उनका यह समाधान भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त सामग्री आकाश और चक्षुःसन्निकर्षमें भी है, जैसे काल आदि सहकारी-सामग्री उसमें विद्यमान रहती है

'तेजोद्रव्य (आलोक) सहकारी है, उसके सन्निधानसे चाक्षुष ज्ञान होता है', यह समाधान भी उक्त समाधानोंसे कुछ वैशिष्ठ्य प्रकट नहीं करता, क्योंकि घटादिकी तरह आकाशमें भी चक्षुःसन्निकर्ष आलोक-सन्निधानमें होनेसे आकाशका चाक्षुष ज्ञान अनिवार्य है।

यदि कहा जाय कि 'अदृष्ट नामका विशेषगुण चाक्षुष ज्ञानमें सहकारी है, उसका सान्निध्य संयुक्तसमवाय है, क्योंकि चक्षुके साथ पुरुष (आत्मा) का संयोग और पुरुषमें अदृष्टनामक विशेषगुणका समवाय है, अतः आका-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शमें चक्षुःसन्निकर्षका सहकारी—अदृष्टविशेषगुणका सन्निधान (संयुक्त-समवाय) न होनेसे आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता', तो यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि आकाशमें उसके कदाचित् रहनेकी सम्भावना होनेसे उसका चाक्षुषज्ञान क्यों नहीं होगा ?

'सब पुरुषोंके अदृष्ट-विशेषगुणरूप सहकारीका हमेशा आकाशमें सन्निधान सम्भव न होनेसे उसका चाक्षुषज्ञान नहीं हो सकता' ऐसा उत्तर भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर ईश्वरको अदृष्टविशेष-गुणका अभाव होनेसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी तरह चक्षुद्वारा आकाश-विषयक ज्ञान कैसे होसकेगा ?

यदि यह माना जाय कि 'समाधिविशेषसे ईश्वरके धर्मविशेष उत्पन्न होता है, उसकी सहायतासे मनके द्वारा उसे आकाश आदि समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है', तो महेश्वरके चक्षु आदि बाह्येन्द्रियाँ निरर्थक हो जायेंगी, क्योंकि उनकी उसे आवश्यकता नहीं है। तथा जब उसके बाह्यकरण निरर्थक होगा, तो उसके अन्तःकरण (मन) भी नहीं बन सकता, जैसे मुक्तात्माके न बाह्यकरण है और न अन्तःकरण। अतः 'महेश्वर मनके द्वारा आकाशादि समस्त पदार्थोंका ग्रहण करता है' यह मान्यता कैसे संगत कही जा सकती है ! मनके अभावमें समाधिविशेष और उससे उत्पन्न धर्मविशेष ये दोनों भी ईश्वरके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि वे दोनों आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं।

यदि कहा जाय कि 'महेश्वरके समस्त पदार्थोंका ज्ञान अविच्छिन्नरूपसे विद्यमान रहता है और उनके इस अविच्छिन्न ज्ञानका कारण समाधिविशेषकी सन्तति तथा धर्मविशेषकी सन्तति है, जो अनादि-अनन्त है, क्योंकि वे पापमलोंसे सतत अस्पृष्ट हैं और इसका भी कारण यह है कि वे संसारी और मुक्त दोनोंसे विलक्षण होनेसे सदामुक्त हैं,' यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इस प्रकारसे अनीश्वर (सामान्य पुरुष) को भी कदाचित् पापमलके नाश होजानेसे पदार्थज्ञान हो सकता है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार सतत मलाभाव सतत अर्थज्ञानकी सन्ततिका कारण है उसी प्रकार अल्पकालीन मलाभाव अल्पकालीन अर्थज्ञानका कारण है, यह भी युक्तियुक्त हैं। अतः उसे—मलाभाव (ज्ञानावरण और अन्तराय-कर्मके क्षयोपशम) को ही सन्निकर्षका सहकारी मानना उचित है। और वह मलाभाव-सान्निध्य ही सन्निकर्षको शक्ति (योग्यता) है। उसके अभावसे ही चक्षुःसन्निकर्ष रहनेपर भी आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता। महेश्वरमें जो विशिष्ट धर्मका सद्भाव माना जाता है वह भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पापमलके अभावके अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि अभाव दूसरे भावरूप होता है, तुच्छाभाव किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। अतः पापमलका अभाव पुरुषके गुणविशेषका सद्भाव ही है। और वह आत्माकी विशुद्धिविशेषरूप है, जो ज्ञानावरोधक ज्ञानावरण तथा शक्त्यवरोधक अन्तराय कर्मके क्षयोपशमविशेषरूप है और जिसे ही स्याद्वादी शक्ति अथवा योग्यताका नाम देते तथा स्वार्थ-निश्चयमें करण मानते हैं। नैयायिकोंद्वारा स्वीकृत प्रमाताकी उपलब्धिलक्षणप्राप्ततारूप योग्यता भी उपर्युक्त योग्यतासे भिन्न प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायरूप पापमलके अभावके विना पुरुष---प्रमाताकी किसी ज्ञेयमें उपलब्धिलक्षणप्राप्तता सम्भव नहीं है।

अब रह जाती है कर्मादिको सहकारी माननेकी बात। वह भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रमाताका नेत्रोद्घाटनादि कर्म दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकारके पदार्थोंमें समानरूपसे विद्यमान रहता है, जैसे प्रकाशादि कारण-सामग्री दृश्य और अदृश्य दोनोंमें रहती है। अतः अदृश्य आकाशमें भी प्रमाताका नेत्रोद्घाटनादिकर्मरूप सहकारी रहनेसे उसका चाक्षुष ज्ञान होना चाहिए। इसी तरह पदार्थकी उपलभ्यतारूप सामान्य तथा प्रमाताका नेत्रोद्घाटनादि कर्म दोनों मिलकर भी सन्निकर्षके सहकारी नहीं हैं, क्योंकि दोनोंके रहनेपर भी उक्त योग्यताके अभावमें किसी पदार्थका किसीको ज्ञान नहीं होता, जैसे काल, आकाश आदिके रहते हुए भी उनका ज्ञान नहीं होता। आकाशकी अनुपलभ्यताकी बात कहीं नहीं जा सकती, अन्यथा योगीको भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी।

अतः प्रत्येक आत्माका भेदक योग्यताविशेष ही स्वपरनिश्चयमें साधकतम स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि सन्निकर्ष आदिके रहनेपर भी उसके अभावमें किसी भी पदार्थका ज्ञान नहीं होता। वह योग्यताविशेष आत्माकी वह विशेष शक्ति है, जिसके द्वारा स्व और परका निश्चय किया जाता है और जो भाव(आभ्यन्तर)करण (ज्ञान)रूप है, क्योंकि वह फलात्मक स्वार्थनिश्चयसे कथंचिद् अभिन्न है। उसे उससे सर्वथा भिन्न माननेपर वह आत्माका स्वभाव नहीं बन सकती। और यह स्वीकार्य नहीं कि वह आत्माका स्वभाव नहीं है, क्योंकि आत्मा ही आभ्यन्तर और बाह्य निमित्तोंसे शक्ति (ज्ञानावरणक्षयोपशमात्मक भावकरण) और फल (स्वार्थनिश्चयात्मकक्रिया) रूप परिणत होता है। **'जानात्यनेनेति ज्ञानम्'** अर्थात् आत्मा जिसके द्वारा जानता है वह ज्ञान है' इस व्याख्या द्वारा करणसाधन करनेसे आत्मा और ज्ञानका भेद अभिहित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि ज्ञान आत्मासे कथंचिद् अभिन्न है फिर भी जिसका कर्ता अभिन्न है वह भी करण होता है। उदाहरणके लिए **'अग्निरौष्ण्येन दहतीन्धनम्'** अर्थात् 'अग्नि अपनी उष्णताद्वारा ईंधनको जलाती है'—यहाँ अग्निको लिया जा सकता है। अग्निसे उष्णता यद्यपि कथंचित् अभिन्न है तथापि उनमें कथंचित् परिणाम (उष्णता) और परिणामी(अग्नि)की भेदविवक्षा होनेसे उष्णताको अभिन्नकर्तृक करण स्वीकार किया जाता है। किन्तु **'जानातीति ज्ञानम्'**—'जो जानता है वह ज्ञान है और वह ज्ञान जाननेवाला आत्मा ही है' ऐसी स्वतन्त्रताकी विवक्षा करनेपर ज्ञान कर्त्तासाधन होता है, क्योंकि आत्मा और ज्ञानमें कथंचित् अभेदकी मुख्यतासे आत्माको ही स्वार्थनिश्चयरूप परिणामको प्राप्त करने पर 'ज्ञान' कहा जाता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार उष्णातारूप परिणामको प्राप्त अग्निको 'उष्णता' कह दिया जाता है। इसीसे यह अनुभवसिद्ध व्यवहार होता है कि **'ज्ञानात्मा ज्ञानात्मना ज्ञेयं (ज्ञानात्मानं) जानातीति'**—ज्ञानरूप आत्मा ज्ञानरूप आत्माके द्वारा ज्ञेय (ज्ञानरूप आत्मा) को जानता है; और जिस प्रकार ज्ञानात्मा ही प्रमाता होता है, अज्ञानात्मक आकाशादि प्रमाता नहीं हो सकते, उसी प्रकार ज्ञानात्मा ही प्रमाण है, क्योंकि वही ज्ञानात्मक स्वार्थनिश्चय(प्रमा)में करण है, अज्ञानात्मक सन्निकर्षादि उसमें साधकतम नहीं हो सकते। अतः अज्ञान (सन्निकर्षादि) प्रमाण नहीं है, केवल उपचारसे वह प्रमाण है। अत एव अज्ञानरूप इन्द्रियसन्निकर्ष, लिंग, शब्द आदिके साथ पूर्वोक्त 'अज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता' साधन व्यभिचारी नहीं है। न उसका व्यतिरेक (साध्यके अभावमें साधनका अभाव) असिद्ध है, क्योंकि 'सच्चा ज्ञान' रूप साध्यके न होनेपर वस्त्रादिमें 'अज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता' रूप साधनका अभाव (व्यतिरेक) निश्चित होनेसे केवलव्यतिरेकिसाधनका भी समर्थन होता है।

अतः ठीक कहा है कि 'सच्चा ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि अज्ञान प्रमाण नहीं होसकता, जैसे मिथ्याज्ञान'।

सम्यग्ज्ञानमें स्वार्थव्यवसायात्मकत्वकी सिद्धि।

उक्त सम्यग्ज्ञान क्या है, इसका विचार किया जाता है—

'जो अपना और परका व्यवसाय—निश्चय करता है वह सम्यक्ज्ञान है, क्योंकि वह सम्यक्ज्ञान है। जो अपना और परका निश्चय नहीं करता वह सम्यक्ज्ञान नहीं है, जैसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ज्ञान। और सम्यग्ज्ञान विचारप्राप्त ज्ञान है, इस लिए वह अपना और परका निश्चय करता है', इस प्रकार 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु साध्याविनाभावी होनेसे सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्ज्ञानवादियोंको सिद्ध (मान्य) है, क्योंकि वह साध्यधर्मी—पक्ष (सम्यग्ज्ञान) में विद्यमान रहता है।

यहाँ बौद्धोंका कहना है कि 'स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्षके भेदसे प्रत्यक्ष चार प्रकारका अभिमत है और चारों प्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान हैं। परन्तु वे अव्यवसायात्मक (अनिश्चयात्मक) स्वीकृत हैं। अतः उक्त 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु उनके साथ व्यभिचारी है।'

बौद्धोंका यह कथन उनके अभीष्टका साधक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रत्यक्षोंको अव्यवसायात्मक माननेपर उनमें सम्यग्ज्ञानपना नहीं बन सकता।

स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञानपनाकी व्याप्ति (अविनाभाव) अविसंवादीपनाके साथ है, क्योंकि जो अविसंवादी नहीं होता वह सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अविसंवादीपनाकी भी व्याप्ति अर्थप्राप्तिके साथ है। जो ज्ञान अर्थप्राप्ति कराता है वही अविसंवादी होता है, जो अर्थप्राप्ति नहीं कराता वह अविसंवादी नहीं होता, जैसे निर्विषयज्ञान—भ्रान्त ज्ञान। वह अर्थप्राप्ति भी प्रवृत्तिके साथ अविनाभूत है। जो ज्ञान प्रवृत्ति-सक्षम है वही अर्थप्रापक होता है, जो प्रवर्त्तक नहीं है वह अर्थप्रापक नहीं होता, जैसे उक्त निर्विषय ज्ञान। प्रवृत्तिका भी अविनाभाव स्वविषयोपदर्शनके साथ है, क्योंकि जो ज्ञान अपने विषयका उपदर्शन (प्रकाशन) करता है उसीमें प्रवर्त्तकका व्यवहार होता है। सभी जानते हैं कि ज्ञान पुरुषको उसके हाथ पकड़ कर प्रवृत्त नहीं कराता, अपितु अपने विषयको दिखलानेसे वह प्रवर्त्तक कहा जाता है और तभी उसे अर्थप्रापक तथा अर्थप्रापक होनेसे अविसंवादी कहते हैं और अविसंवादी होनेसे सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, इससे विपरीत मिथ्याज्ञान है, जैसे संशय आदि, यह बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तरकी मान्यता है।

पर वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि उक्त चारों प्रत्यक्ष यतः अव्यवसायात्मक (अनिश्चयात्मक) हैं, अतः वे अपने विषयका दर्शन (ग्रहण) नहीं कर सकते और अपने विषयका दर्शन न करनेपर वे सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते। यदि अव्यवसायात्मक होने पर भी उन्हें अपने विषयका दर्शन करनेवाला माना जाय, तो जैसे वे नीलादिस्वलक्षण (विशेष) वस्तुका दर्शन करते हैं, उसी तरह उसकी क्षणिकता आदिका भी उन्हें दर्शन करना चाहिए। किन्तु क्षणिकता आदिका वे दर्शन नहीं करते—व्यवसायात्मक अनुमान द्वारा ही उनका निश्चय माना जाता है।

अतः सिद्ध करेंगे कि 'बौद्धाभिमत चारों प्रत्यक्ष अपने विषयका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन (साक्षात्कार) नहीं करते, क्योंकि वे अव्यवसायात्मक हैं, जो ज्ञान अव्यवसायात्मक होता है वह अपने विषयका दर्शन नहीं करता, जैसे मार्ग-में जाते हुए तृणादिका स्पर्श होनेपर होनेवाला तृणादिका अनध्यवसाय (अनिश्चयात्मक) ज्ञान (मिथ्याज्ञान) और बौद्धों द्वारा स्वीकृत उक्त चारों प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक हैं।' यह व्यापकानुपलब्धिहेतुजनित सम्यक् अनुमान है। यहाँ व्यवसायात्मकता व्यापक है और स्वविषयदर्शन व्याप्य है। व्यापक—व्यवसायात्मकताके अभावमें उसके व्याप्य—स्वविषयदर्शन-का सद्भाव किसी भी ज्ञानमें प्रतीत नहीं होता। अतः व्यापक (व्यवसाया-त्मकता) की अनुपलब्धिसे उक्त चारों प्रत्यक्षोंमें व्याप्य (स्वविषयदर्शन) का अभाव सिद्ध होता है।

यदि कहा जाय कि 'व्यवसायात्मकताके साथ स्वविषयदर्शनकी व्याप्ति (अविनाभाव) सिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वविषयदर्शनकी व्याप्ति व्यवसाय-जनकताके साथ है। जो दर्शन व्यवसायजनक है वही स्वविषयका उप-दर्शक है। नील, धवल आदि स्वलक्षणवस्तुमें दर्शन व्यवसायका जनक है, अतः वह उन (नीलादि) का दर्शन करता है। किन्तु क्षणिकता, स्वर्गप्राप-कताशक्ति आदिमें वह व्यवसायको उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वह उनका दर्शन नहीं करता। मार्गमें जाते हुए होनेवाला तृणादिका अनध्यवसाय-ज्ञान भी इसी (तृणादिमें व्यवसायको उत्पन्न न करनेके) कारण अपने (तृणादि) विषयका दर्शन नहीं करता, क्योंकि उसमें मिथ्याज्ञानका व्यव-हार प्रसिद्ध है। अन्यथा उसे अनध्यवसाय नहीं कहा जा सकता है।'

यह कथन विचार करनेपर युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि व्यवसाय-को दर्शनजन्य माननेपर यह प्रश्न उठता है कि वह (व्यवसाय) दर्शनके विषयका उपदर्शक है या नहीं ? यदि उपदर्शक है तो वही उन नील, धवल आदिमें प्रवर्त्तक एवं प्रापक होगा, क्योंकि वह संवादी है, जैसे सम्यक्ज्ञान। व्यवसायका जनक दर्शन न प्रवर्त्तक सम्भव है और न प्रापक; जैसे सन्निकर्ष आदि। यदि व्यवसाय दर्शनके विषयका उपदर्शक नहीं है, तो दर्शन भी व्यवसायको उत्पन्न करनेसे ही अपने विषयका उपदर्शक कैसे हो सकता ? अन्यथा संशय एवं विपर्ययका जनक दर्शन भी अपने विषयका उपदर्शक होगा। तात्पर्य यह कि दर्शन (प्रत्यक्ष) को अव्यव-सायात्मक माननेपर वह व्यवसायका जनक नहीं हो सकता। यह विचा-रनेकी बात है कि जो स्वयं व्यवसायरूप नहीं है वह व्यवसायको उत्पन्न कैसे कर सकता है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ बौद्धका पुनः कहना है कि 'विकल्प (व्यवसाय) सामान्यका निश्चय करता है, जो दर्शनका विषय है, अतः दर्शन विकल्पका जनक माना जाता है और इसलिए वह (दर्शन) अपने विषय (नील, धवल आदि) का उपदर्शक है', यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि जिस सामान्यको दर्शनका विषय कहा गया है वह अन्यापोह (अन्यव्यावृत्ति) रूप होनेसे अवस्तु—मिथ्या है। उसे (अवस्तुको) विषय करनेवाले विकल्प (व्यवसाय) के जनक दर्शनको वस्तु (नीलादि) का उपदर्शक मानना स्पष्टतः विरुद्ध है।

यदि यह माना जाय कि 'दृश्य (नीलादिस्वलक्षण) और सामान्य (अन्यापोह—विकल्पविषय)में एकपनेका आरोप हो जानेसे व्यवसाय वस्तुका उपदर्शक है, तो यह मान्यता भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि दृश्य और सामान्य दोनोंके विभिन्न (वस्तु और अवस्तु रूप) होनेके कारण उनमें एकपनेका आरोप असम्भव है। फिर यह प्रश्न है कि 'उनमें एकपना हो जाता है' यह कौन ज्ञान जानता है ? दर्शन या उसके पश्चात् होनेवाला व्यवसाय (विकल्प) या अन्य कोई ज्ञान ? दर्शन (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) तो उसे नहीं जान सकता, क्योंकि वह केवल दृश्यको जानता है, विकल्पके विषयभूत सामान्यको नहीं। और जब वह दोनोंको नहीं जानता, तो उन दोनोंमें रहनेवाले एकपनेको वह कैसे जान सकता है। उसके पीछे होनेवाला व्यवसाय भी दोनोंके एकत्वको नहीं जान सकता, क्योंकि वह मात्र सामान्यको विषय करता है, दृश्यको नहीं। और दोनोंको विषय न करनेके कारण वह भी उनके एकत्वको नहीं जान सकता। दोनोंको जानने वाला यदि अन्य ज्ञान है, तो वह या तो दर्शन होगा या विकल्प, क्योंकि इन दो ज्ञानराशियोंके अतिरिक्त अन्य तीसरी ज्ञानराशि बौद्धों द्वारा स्वीकृत नहीं है। और ये दोनों ज्ञान दृश्य और सामान्यमेंसे केवल एक-एकको (दर्शन दृश्यको और विकल्प सामान्यको) जानने तथा दोनोंको न जाननेके कारण दोनों (दृश्य और सामान्य)के एकपनेको नहीं जान सकते। अतः दोनोंको विषय करने वाला कोई ज्ञान न होनेसे दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय नहीं हो सकता। और यह सम्भव नहीं कि कोई ज्ञान दोनोंको विषय न करनेपर भी दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय कर ले। अत एव हम सिद्ध करेंगे कि 'कोई ज्ञान दृश्य और सामान्य दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय नहीं करता, क्योंकि वह दोनोंको नहीं जानता, जो दोनोंको नहीं जानता वह उनके एकत्वका अध्यवसाय नहीं कर सकता, जैसे रसज्ञान रूप और स्पर्श दोनोंको न जाननेके कारण उनके एकत्वको भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जानता, और कोई ज्ञान दृश्य तथा सामान्य दोनोंको जानता नहीं'। इस तरह दृश्य तथा सामान्य दोनोंके एकत्वका निश्चय किसी ज्ञानसे सिद्ध नहीं होता। अतः व्यवसाय वस्तुका दर्शन नहीं करता। और न दर्शन भी उसे उत्पन्न करनेसे वस्तुका दर्शन करता है। उक्त चार प्रत्यक्षोंमें योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन ये दो प्रत्यक्ष अवश्य समस्त विकल्पोंसे रहित होने तथा स्वरूपावगति करनेसे किसी तरह वस्तुका दर्शन करने वाले हो सकते थे, किन्तु वे वस्तुमें विकल्प (व्यवसाय) को उत्पन्न न करनेके कारण वस्तुका दर्शन नहीं कर सकते।

एक बात और है। दर्शनके बाद जो विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है उसकी सिद्धि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे स्वीकार करनेपर यह प्रश्न होता है कि उस विकल्पज्ञानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है, तो कैसे? यदि कहा जाय कि वह स्वरूपका दर्शन करनेसे ही प्रमाण है, तो स्वर्गप्रापकताशक्ति आदिमें भी उसे प्रमाण माना जाना चाहिए। यदि कहें कि विकल्पज्ञानके स्वसंवेदन प्रत्यक्षका स्वसंवेदनाकार ही प्रमाण है, क्योंकि वह उसीमें विकल्पको उत्पन्न करता है, अन्यमें नहीं, तो उस विकल्पके स्वसंवेदनका भी अन्य विकल्पको उत्पन्न करनेसे स्वरूपदर्शन होना चाहिए और इस तरह विकल्पकी उत्पत्ति तथा स्वरूपदर्शनकी और और कल्पना होनेपर अनवस्थादोष आता है। ऐसी स्थितिमें (अनवस्थादोषसे ग्रस्त होनेके कारण) प्रथम विकल्पका जो स्वसंवेदन है वह प्रमाण नहीं हो सकता। यदि विकल्पज्ञानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तो उसके प्रमाण न होनेसे उससे व्यवसाय सिद्ध (उत्पन्न) नहीं हो सकता और उसके सिद्ध न होने पर 'व्यवसायको उत्पन्न करनेसे दर्शन अपने विषयका दर्शन करता है' यह कथन असिद्ध हो जाता है। उसके असिद्ध होने पर वह न प्रवर्त्तक हो सकता है और न अर्थप्रापक। तथा अर्थप्रापक न होनेपर वह अविसंवादी भी नहीं हो सकता। अविसंवादी न होनेपर उक्त चारों स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते। अतः उनके साथ 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु व्यभिचारी नहीं है।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि 'दर्शन अपने विषयका दर्शन करता है (उपदर्शक होता है), इसका तात्पर्य है कि दर्शनका अर्थसे उत्पन्न होना और अर्थके आकार होना। और ये दोनों (अर्थोत्पत्ति तथा अर्थाकारता) उक्त चारों प्रत्यक्षोंमें उनके अव्यवसायात्मक होनेपर भी विद्यमान हैं। उनके सद्भावसे ही सभी प्रत्यक्ष प्रवर्त्तक, अर्थप्रापक और अविसंवादी हैं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही (अर्थोत्पत्ति और अर्थाकारता) सम्यग्ज्ञानका लक्षण है, व्यवसायात्मकता नहीं। अतः उक्त चारों प्रत्यक्षज्ञान अव्यवसायात्मक होनेपर भी सम्यग्ज्ञान हैं और इस लिए उनके साथ 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु व्यभिचारी है ही।

उक्त कथन भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उक्त प्रकारसे नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी दर्शनको स्वविषयोपदर्शन करनेसे रोका नहीं जासकता। यहाँ यह समाधान उपस्थित किया जासकता है कि 'जो अयोगी (अल्पज्ञ) ज्ञाता हैं उन्हें क्षणिकता आदिमें अक्षणिकता आदिका भ्रम होनेसे उनका दर्शन नहीं होता। परन्तु जो योगी ज्ञाता हैं उन्हें तो उनमें अक्षणिकता आदिका भ्रम न होनेसे क्षणिकता आदिमें क्षणिकता आदिका दर्शन होता ही है', यह समाधान भी बुद्धिमानोंको ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि अयोगियोंको नील, धवल आदिमें भी अनील, अधवल आदिका भ्रम हो सकता है और तब उन्हें क्षणिकता आदिकी तरह नीलादिका भी दर्शन नहीं हो सकेगा। अन्यथा नीलादिवस्तुमें नीलादित्व और क्षणिकतादि विरुद्ध धर्मोंका समावेश होनेसे दर्शनमें भेद (नीलादिको ग्रहण करनेसे ग्राहकत्व और क्षणिकतादिको ग्रहण न करनेसे अग्राहकत्व) क्यों नहीं होगा ? जब दर्शन एक और भेदरहित है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक जगह (नीलादिमें) भ्रमाक्रान्त है और दूसरी जगह (क्षणिकतादिमें) भ्रमाक्रान्त नहीं है। अतः युक्तिसे सिद्ध करेंगे कि 'दर्शन नीलादिवस्तुका निश्चायक है, क्योंकि विपरीतसमारोपके कारण विरोधको लिए हुए है, जो विपरीतसमारोपके कारण विरोधको लिए हुए होता है वह निश्चयात्मक होता है, जैसे अनुमेय अर्थ (क्षणिकतादि) में अनुमानज्ञान, और विपरीत समारोपके कारण विरोधको लिए हुए दर्शन नीलादिमें है'। इस प्रकार दर्शन व्यवसायात्मक ही सिद्ध होता है।

'निश्चयका जनक होनेसे दर्शन नीलादिमें विपरीतसमारोपविरोधी है, न कि स्वयं निश्चयात्मक होनेसे, अतः उक्त हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव अनिश्चित (असिद्ध) है', ऐसा विचार सम्यक् नहीं है, क्योंकि योगिप्रत्यक्षमें भी यह विपरीतसमारोप प्रसक्त होगा, कारण कि उसका योगिप्रत्यक्षके साथ विरोध नहीं है। हम तो योगिप्रत्यक्षको भी निश्चयात्मक स्वीकार करते हैं, अतः योगिप्रत्यक्षके साथ विपरीतसमारोपका विरोध सिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त निश्चयके जनक दर्शनके साथ समारोपका विरोध बतलानेपर स्वमतविरोध होता है, क्योंकि धर्मकीर्तिका मत है कि आरोप, जो निश्चयका ही नाम है, और मनःप्रत्यक्ष दोनोंमें बाध्य-बाधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव नहीं है और इस लिए दर्शन तथा आरोप (व्यवसाय—निश्चय) में विरोध नहीं है।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि 'दर्शनको निश्चयात्मक सिद्ध करनेपर प्रत्यक्ष-विरोध है, क्योंकि जिस समय समस्त विकल्प रुक जाते हैं उस अवस्थामें ही नीलरूपादिदर्शन होता है और जो अनिश्चयात्मक अनुभवमें आता है। जैसा कि कहा है—

जब प्रतिपत्ता समस्त चिन्ताओं (विकल्पों) को रोककर स्थिर मनसे स्थित होता हुआ चक्षुद्वारा रूपको देखता है तब उसके उस निर्विल्पक रूपदर्शनको इन्द्रियप्रत्यक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्षविरोधके अतिरिक्त अनुमानविरोध भी है, क्योंकि जब चित्तकी अचंचल अवस्था होती है उस समय चक्षु आदि इन्द्रियोंसे नीलादिवस्तुका ज्ञान करनेपर कोई कल्पना नहीं होती। उस समय यदि कल्पना हो तो पुनः उसकी स्मृति आनी चाहिए, जैसे विकल्पके बाद होने वाली कल्पना—इसे भी कहा है—

जब कोई मुझे विकल्प होता है तो तदनुरूप कल्पना होती है। किन्तु निर्विकल्प अवस्थामें इन्द्रियसे अर्थ (नीलादि) का ज्ञान करनेपर कल्प-नाका वेदन नहीं होता।'

धर्मकीर्तिका यह प्रतिपादन विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे निर्विकल्पक दर्शन प्रसिद्ध नहीं है। स्पष्ट है कि जिस समय अश्वका विकल्प (स्मरण) और सामने खड़ी गायका दर्शन होता है वह अवस्था ही समस्त-विकल्प-रहित अवस्था है। किन्तु उस समय जो गायका दर्शन होता है वह अनिश्चयात्मक नहीं है, अन्यथा उससे निश्चयात्मक स्मरण-का उद्भव नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चयात्मक स्मरणका कारण निश्चयात्मक संस्कार है—उसका कारण अनिश्चयात्मक दर्शन नहीं हो सकता, जैसे क्षणिकता आदिमें दर्शन व्यवसायजनक नहीं है। यथार्थमें निश्चयात्मक दर्शनसे ही संस्कार और स्मरण सम्भव हैं, अनिश्चयात्मकसे नहीं। कहा भी है—

देखे अथवा देखेके समान अर्थमें निश्चयात्मक दर्शनसे संस्कार तथा स्मरण होते हैं, अनिश्चयात्मक दर्शनसे न संस्कार सम्भव है और न स्मृति, क्षणिकादिकी तरह।

यदि यह माना जाय कि 'अभ्यास (दर्शनका बार-बार होना), प्रकरण (प्रसंग); बुद्धिपाटव (इन्द्रियकुशलता) और अर्थित्व (प्रतिपत्ता-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की जिज्ञासा या अभिलाषा) इन चारका नीलादिमें सद्भाव होनेसे उनमें निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) दर्शनसे भी संस्कार तथा स्मरण दोनों सम्भव हैं, क्षणिकता आदिमें अभ्यासादिके न होनेसे उनमें न संस्कार सम्भव है और न स्मरण। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षको निश्चयात्मक मानने पर भी अभ्यासादिके होनेसे ही उसमें संस्कार और स्मरण सम्भव हैं, उनके अभावमें नहीं। अतः प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक स्वीकार करने वालोंको भी अभ्यासादि चारों नियमसे मानने योग्य हैं,' तो यह मन्तव्य भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि उक्त अभ्यासादि चारों नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी सम्भव हैं, अतः संस्कार और स्मरण दोनों उनमें भी हो सकते हैं।

फिर प्रश्न है कि ये अभ्यासादि क्या हैं ? यदि 'बार-बार दर्शनका होना अभ्यास है', तो वह नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी पाया जाता है। और यदि 'पुनः पुनः विकल्पको उत्पन्न करना अभ्यास' है, तो वह स्याद्वादियोंके लिए असिद्ध है, क्योंकि मूल विवाद इसी बातमें है कि जो (दर्शन) स्वयं निर्विकल्प (अनिश्चयात्मक) है वह विकल्प (निश्चय) को कैसे उत्पन्न कर सकता है।

क्षणिक और अक्षणिकका विचार होनेपर क्षणिक-प्रकरण भी क्षणिकता आदिमें विद्यमान रहता है।

बुद्धिपाटवका अर्थ यदि 'इन्द्रियबुद्धिकी पटुता' है, तो वह नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी मौजूद है, क्योंकि दर्शन (इन्द्रियबुद्धि) को बौद्धों द्वारा निरंश माना गया है। यह सम्भव नहीं कि नीलादिमें इन्द्रियबुद्धिकी पटुता हो और क्षणिकता आदिमें अपटुता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर इन्द्रियबुद्धिमें अंशभेद—पटुता-अपटुता दो अंश मानना पड़ेंगे। किन्तु इन्द्रियबुद्धिके निरंश होनेसे यह सम्भव नहीं है। 'वासनारूप कर्मके कारण इन्द्रियबुद्धिमें पटुता और अपटुता दोनों हो सकते हैं,' ऐसा विचार भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि वासनारूप कर्मका सद्भाव और असद्भाव दोनों विरुद्ध धर्म होनेसे वे एक निरंश इन्द्रिय-बुद्धिमें असम्भव हैं।

अब रह जाता है अर्थित्व; सो वह यदि जिज्ञासितत्व (प्रतिपत्ताकी जिज्ञासा) रूप है, तो वह नीलादिकी तरह ही क्षणिकता आदिमें भी है। और यदि वह (अर्थित्व) अभिलषितत्त्व (प्रतिपत्ताकी अभिलाषा) रूप विवक्षित है, तो वह व्यवसायका अनिवार्य कारण नहीं हैं, क्योंकि किसी उदासीन प्रतिपत्ताको अनचाही वस्तुमें भी स्मरण (व्यवसाय) होता हुआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखा जाता है। अतः अर्थित्व भी संस्कार एवं स्मरणका नियामक नहीं है।

इस प्रकार इन्द्रियबुद्धिको निरंश मानने वालोंके यहाँ अभ्यासादिके बलपर नीलादिमें संस्कार एवं स्मरण सम्भव नहीं हैं। किन्तु बाह्य (घटादि ज्ञेय) और आभ्यन्तर (ज्ञान) दोनों प्रकारकी वस्तुओंको अनेकान्तात्मक स्वीकार करनें वाले स्याद्वादियोंके यहाँ संस्कार, स्मरण, आदि सभी सम्भव हैं। उन्होंने एक ज्ञानको सर्वथा व्यवसाय, जिसे अवाय कहा गया है और सर्वथा अव्यवसाय, जिसे अनवाय (अवग्रह-ईहा) प्रतिपादित किया है, रूप नहीं माना। इसी तरह उसे सर्वथा संस्कार, जिसे धारणा निरूपित किया है और सर्वथा असंस्कार, जिसे धारणेतर (अवग्रह-ईहा-अवायात्मक) बतलाया है, स्वीकार नहीं किया तथा उसे सर्वथा स्मरण और सर्वथा अस्मरण (प्रत्यक्षादि) रूप भी वर्णित नहीं किया। अर्थात् स्याद्वाददर्शनमें ज्ञानको कथंचित् एक और कथंचित् अनेक दोनों रूप माना गया है। इसी प्रकार ज्ञेय वस्तु भी कथंचित् एक और कथंचित् अनेक दोनों रूप प्रतिपादित है। अतः उपर्युक्त संस्कार, स्मरण आदिके अभावका प्रसङ्ग स्याद्वाददर्शनमें नहीं आता। तात्पर्य यह कि आर्हत दर्शनमें ज्ञानमें कथंचित् भेद भी माना गया है। जो व्यवसायज्ञान है उसे अवायज्ञान, जो अव्यवसायज्ञान है उसे अनवाय—अवग्रह-ईहा ज्ञान, जो संस्कारज्ञान है उसे धारणाज्ञान, जो असंस्कारज्ञान है उसे अधारणाज्ञान—अवग्रह-ईहा-अवायज्ञान, जो स्मरणज्ञान है उसे स्मृति और जो अस्मरणज्ञान है उसे अवग्रह ईहा-अवाय-धारणाज्ञान कहा गया है। इस प्रकार जैनोंने बौद्धोंकी तरह एक निरंश ज्ञान स्वीकार नहीं किया है। पर बौद्धोंने निर्विकल्पक दर्शनको निरंश (एक) माना है, अतः उसमें अभ्यासादि और अनभ्यासादि दोनों न हो सकनेसे उसे अभ्यासादिकी अपेक्षा नीलादिमें व्यवसायका उत्पादक और अनभ्यासादिकी अपेक्षा क्षणिकतादिमें व्यवसायका अनुत्पादक दोनों नहीं माना जा सकता।

यहाँ बौद्धोंका पुनः कहना है कि दर्शनको भी हमने व्यावृत्तिभेदसे भिन्न (अनेक) स्वीकार किया है, अतः उक्त दोष नहीं है। वह इस प्रकार से है—अनीलपनाकी व्यावृत्ति नीलपना है और अक्षणिकपनाकी व्यावृत्ति क्षणिकपना है। ध्यातव्य है कि अनीलव्यावृत्ति (नीलपना) में 'यह नील है' ऐसा नीलका व्यवसाय नीलकी वासनाके उद्भवसे होता है। किन्तु अक्षणिकव्यावृत्ति (क्षणिकपना) में क्षणिककी वासनाका उद्भव न होनेसे 'यह क्षणिक है' ऐसा क्षणिकका व्यवसाय नहीं होता। और ये दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यावृत्तियाँ एक नहीं हैं, अन्यथा उनसे व्यावृत्त नीलपना और क्षणिकपना दोनों अभिन्न हो जायेंगे। यह भी स्मरणीय है कि व्यावृत्तियोंके भिन्न होनेसे वस्तुमें भेद नहीं होता, क्योंकि व्यावृत्तियाँ अन्यापोहरूप होनेसे अवस्तु (सांश—मिथ्या) हैं और वस्तु परमार्थसत् निरंश है। ऐसा न मानने पर अनवस्था—अव्यवस्था होगी।'

बौद्धोंका यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जब तक वस्तुमें स्वाभाविक भेद न होगा, तब तक उसमें व्यावृत्तिकल्पित भी भेद सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि नीलस्वलक्षण जिस स्वभावसे अनीलसे व्यावृत्त है उसी स्वभावसे वह यदि अक्षणिकसे भी व्यावृत्त है, तो अनील और अक्षणिक दोनों एक हो जायेंगे, क्योंकि नीलस्वलक्षणमें उन दोनों (अनील और अक्षणिक) से व्यावृत्त होनेका एक ही स्वभाव है—अलग-अलग स्वभाव नहीं हैं और स्वभावभेद न होनेसे उन दोनोंकी व्यावृत्तियाँ भी एक हो जायेंगी। यदि नीलस्वलक्षण अनीलसे अन्य स्वभावसे व्यावृत्त है और अक्षणिकसे अन्य स्वभावसे, तो निश्चय ही नीलस्वलक्षणमें स्वभावभेद सिद्ध हो जाता है। यदि कहा जाय कि 'वह स्वभावभेद नीलस्वलक्षणमें अनील-अस्वभावव्यावृत्ति और अक्षणिक-अस्वभावव्यावृत्तिसे कल्पित है, वास्तविक नहीं है, तो इस तरह अन्य-अन्य कल्पित स्वभावोंकी भी कल्पना होनेपर पूर्ववत् अव्यवस्था आयेगी, क्योंकि अनीलस्वभावकी अन्यव्यावृत्तिको भी अन्य व्यावृत्तिरूप अन्य स्वभावसे कल्पित करना पड़ेगा और उस अन्य व्यावृत्तिको भी तदन्यव्यावृत्तिरूप अन्य स्वभावसे मानना होगा, फलतः किसी भी वस्तुकी व्यवस्था न हो सकेगी।

अगर माना जाय कि 'इसी कारण नीलादि स्वलक्षणरूप वस्तु किसी विकल्प अथवा शब्दका विषय (अभिधेय) नहीं हैं, क्योंकि विकल्पों और शब्दोंका विषय अन्यव्यावृत्ति है, जो अनादिकालीन विद्यमान अविद्या (अज्ञान) के कारण कल्पित होती है और कल्पित (मिथ्या) होनेसे वह विचारयोग्य नहीं है। यदि उसे विचारयोग्य माना जाय, तो वह अवस्तु न रहकर वस्तु हो जायेगी,' यह मान्यता भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त न्यायसे दर्शनका विषय (नीलादि स्वलक्षण) भी अवस्तु सिद्ध होगा—वह भी शब्द और विकल्पके विषयकी तरह विचारयोग्य नहीं है।

प्रश्न उठता है कि नीलस्वलक्षण सुगतके प्रत्यक्षका भी विषय है और सुगतसे भिन्न अन्य संसारी जनोंके प्रत्यक्षका भी विषय है, सो वह दोनोंके प्रत्यक्षद्वारा एकस्वभावसे जाना जाता है या भिन्न-भिन्न स्वभावसे? यदि एकस्वभावसे वह दोनोंके प्रत्यक्षद्वारा जाना जाय, तो जो नीलस्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षण सुगतके प्रत्यक्षद्वारा ज्ञेय है वही अन्य संसारीजनोंके प्रत्यक्षका भी ज्ञेय है और इस तरह सारे संसारी सुगत और सुगत सारे संसारी हो जायेंगे। फलतः संसारमें कोई सुगत न रहेगा। इस महान् दोषसे बचनेके लिए यदि नीलस्वलक्षणको भिन्न-भिन्न स्वभावोंसे सुगतके प्रत्यक्ष और संसारीजनोंके प्रत्यक्षका ज्ञेय माना जाय, तो नीलस्वलक्षणमें स्वभावभेद अनिवार्य है। यह कहा नहीं जा सकता कि नीलस्वलक्षणमें जो नाना ज्ञेयस्वभाव हैं वे कल्पित हैं, क्योंकि उन्हें कल्पित मानने पर नीलस्वलक्षण भी कल्पित (मिथ्या) होनेसे न बचेगा, जबकि उसे वास्तविक—परमार्थसत् माना गया है।

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका मत है कि 'स्वलक्षणमें जो दर्शनविषयता है वह दर्शनको अपने आकारका अर्पण है और वह अर्पण अस्वाकारार्पण-व्यावृत्तिरूप है। वह अनेक द्रष्टाओंकी अपेक्षासे अनेक सिद्ध होता ही है। उसे अनेक न माननेपर वह (स्वलक्षण) अनेक द्रष्टाओंके दर्शन (प्रत्यक्ष) का विषय नहीं हो सकेगा। वास्तवमें दर्शन दृश्य (बाह्य अर्थ) को विषय करता ही नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञाता (ज्ञान) अपने स्वरूपमात्रमें लीन रहते हैं। उपचारसे ही उन्हें बाह्यार्थका विषय करनेवाला व्यवहृत किया जाता है', यह मान्यता भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि दर्शनको अपने आकार का जो अर्पण है उसके विषयमें भी पूर्ववत् प्रश्न उठता है। बतलाइये, वह स्वलक्षण जिस स्वभावसे सुगतके दर्शनके लिए अपना आकार अर्पित करता है क्या उसी स्वभावसे अन्य लोगोंके दर्शनके लिए भी वह अपना आकार अर्पित करता है या अन्य स्वभावसे ? प्रथमपक्षमें सुगतके दर्शन और अन्य लोगोंके दर्शनमें कोई भेद न रहेगा,- दोनों एक हो जायेंगे। फलतः सभी लोग सुगत और सुगत सभी लोग हो जायेंगे। द्वितीय पक्षमें स्वलक्षणमें स्वभावभेद अनिवार्य है।

यदि कहा जाय कि स्वलक्षणरूप वस्तुका दर्शनके लिए अपना आकार अर्पण करना भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञान स्वरूपको ही विषय करते—जानते हैं, तो यह कथन भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि ज्ञानोंको बाह्यार्थका प्रकाशक न माननेपर उनकी व्यर्थता सिद्ध होगी। स्पष्ट है कि ज्ञानकी आवश्यकता ज्ञेयको प्रकाशित करने—जाननेके लिए होती है, जैसे प्रकाशके लिए दीपक आवश्यक होता है। स्वरूपको जाननेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती—वह तो स्वप्रकाशक ही होता है। दीपकको प्रकाशित करनेके लिए दीपककी आवश्यकता नहीं होती। अतः ज्ञानोंको बाह्यार्थज्ञापक न मानने पर उनकी अनावश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध होगी ही। इसके अतिरिक्त निर्विषयक स्वप्नादि ज्ञान भी सत्य माने जायेंगे, क्योंकि स्वरूपका प्रकाशन तो वे भी करते हैं।

इस तरह प्रत्यक्षज्ञान (प्रत्यक्षचतुष्टय) प्रत्यक्षसे अव्यवसायात्मक सिद्ध नहीं होता। अनुमानसे भी वह अव्यवसायात्मक अनुमित नहीं होता, क्योंकि गायके दर्शनके समय जैसे अश्वका विकल्प—व्यवसाय होता है, उसी तरह गायका दर्शन भी व्यवसायात्मक होता है। यदि गायका दर्शन व्यवसायात्मक न हो, तो उत्तरकालमें उससे गायका स्मरण, जो व्यवसायात्मक है, कदापि नहीं हो सकता। अतः प्रत्यक्षज्ञान अव्यवसायात्मक नहीं है। जैसा कि निम्न अनुमानसे सिद्ध होता है—

अनुमानसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी सिद्धि

'गायका प्रत्यक्षज्ञान व्यवसायात्मक होता है, क्योंकि उत्तर कालमें उसका स्मरण—व्यवसायात्मकज्ञान होता है। जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह उत्तर कालमें स्मरणको उत्पन्न नहीं करता, जैसे स्वयं बौद्धों द्वारा स्वीकृत स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका दर्शन और गायका प्रत्यक्षज्ञान करनेवालेको उत्तर कालमें गायका स्मरण होता है, इसलिए प्रत्यक्षज्ञान व्यवसायात्मक है।' यह केवलव्यतिरेकि अनुमान है।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञानको स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध करनेके लिए जो 'सम्यक्ज्ञानपना' हेतु दिया गया है वह व्यभिचारी—अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं है, क्योंकि कोई भी सम्यग्ज्ञान ऐसा नहीं है, जो अव्यवसायात्मक हो, जैसा कि ऊपर प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। (१३-२७)

विज्ञानाद्वैतवाद-परीक्षा

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादियोंका कथन है कि उक्त हेतु व्यभिचारी न होनेपर भी अप्रयोजक है—अपने साध्य (स्वार्थव्यवसायात्मकपना) का साधक नहीं है, क्योंकि सभी सम्यग्ज्ञान अर्थनिश्चयके बिना ही स्वको जानने मात्रसे सम्यग्ज्ञान हैं। यह निम्न अनुमानसे भी सिद्ध है—

'विवादापन्न सम्यग्ज्ञान अर्थव्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान है अथवा स्वव्यवसायात्मक है। जो ज्ञान है या स्वव्यवसायात्मक है वह अर्थव्यवसायात्मक नहीं है, जैसे स्वप्नादिज्ञान, और सम्यग्ज्ञान अथवा स्वव्यवसायात्मक जैनों द्वारा स्वीकृत प्रकृत ज्ञान है, इसलिए वह अर्थव्यवसायात्मक नहीं है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका भी यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि जागृत अवस्थामें होने वाला यथार्थ ज्ञान स्पष्टतया अर्थव्यवसायात्मक प्रतीत होता है। यदि वह अर्थका निश्चय न करे तो प्रतिपत्ताओंकी उससे अर्थमें असन्दिग्ध प्रवृत्ति नहीं हो सकती (किन्तु) उनकी उससे अर्थमें असन्दिग्ध प्रवृत्ति होती है, अतः अर्थनिश्चयात्मकताके बिना सम्यग्ज्ञानसे बाह्य वस्तुमें प्रवृत्ति न होनेके कारण सम्यग्ज्ञान अर्थव्यवसायात्मक है।

'मिथ्याज्ञानसे भी अर्थमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः अनेकान्त है' यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे जो प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति नहीं, प्रवृत्त्याभास (मिथ्या प्रवृत्ति) है। कारण कि वह प्रवृत्ति निश्चित किये अर्थकी प्राप्तिमें निमित्त नहीं है। और सम्यक् प्रवृत्ति वही है जो निश्चित किये अर्थको प्राप्त करानेमें समर्थ है। और वह सम्यक् प्रवृत्ति मिथ्याज्ञानसे सम्भव नहीं है, अतः अनेकान्त नहीं है।

इसके अतिरिक्त हमारा प्रश्न है कि अर्थव्यवसायात्मकताके निरासके लिए जो अनुमान उपस्थित किया गया है वह अपना व्यवसाय (निश्चय) करता है या नहीं? यदि करता है तो अनुमानगत हेतु उसीके साथ अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि वह ज्ञान या स्वव्यवसायात्मक होनेपर भी अपने साधनीय अर्थका व्यवसायात्मक सिद्ध है। द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर तो उस अनुमानसे अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती। कारण कि वह अपने साधनीय अर्थका वह व्यवसायात्मक नहीं है, जैसे अनुमानाभास स्वसाध्यका साधक नहीं होता। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय, कोई भी अनुमान हो, वह अपने साध्यको सिद्ध करने या असाध्यको दूषित करने पर अर्थव्यवसायात्मक माना जायेगा। उसे अर्थव्यवसायात्मक न मानने पर वह अभीष्टका साधक और अनभीष्टका दूषक नहीं हो सकेगा। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि 'इष्टका साधन और अनिष्टमें दूषण' की व्यवस्था तो परप्रसिद्ध (जैनों आदि द्वारा अभिमत) अर्थव्यवसायी प्रमाणसे स्वीकार करनेसे हमें प्रमाणको अर्थव्यवसायात्मक माननेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि तब प्रश्न उठता है कि परकी मान्यताको आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं? यदि प्रामाणिक नहीं मानते, तो पराभिमत अर्थव्यवसायी प्रमाणसे स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणकी व्यवस्थाकी बात कैसे बन सकती है। उसे प्रामाणिक न मानना और उससे व्यवस्थाको स्वीकार करना परस्पर विरोधी कथन है। ऐसे कथनको अविचारपूर्ण कहा जावेगा। अगर परकी मान्यताको प्रामाणिक माना जाता है तो जिस प्रमाणसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे प्रमाण मानते हैं उसी प्रमाणसे वह अर्थव्यवसायात्मक भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसे अर्थव्यवसायात्मक न मानने पर उससे परमान्यताकी यथार्थ जानकारी नहीं हो सकती। यदि परमान्यताकी अथार्थजानकारी अन्य परमान्यतासे करें, तो पूर्व प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा रहता है और उसके लिए अन्य-अन्य परमान्यताओंको स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आये बिना नहीं रहता।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध पुनः कहते हैं कि वास्तवमें बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको लेकर जो ज्ञान होते हैं वे आलम्बन (विषय) रहित हैं, जैसे स्वप्नज्ञान। सन्ततिरूपसे होनेवाले ज्ञान भी नहीं है। केवल स्वरूपका निश्चय करनेवाला ज्ञान है; यह कथन भी निस्सार है, क्योंकि 'सभी ज्ञान आलम्बन रहित हैं' यह न प्रत्यक्षसे सिद्ध होता है और न अनुमानसे। इसका कारण यह है कि वे समस्त ज्ञान प्रत्यक्षका विषय नहीं हैं। 'विवादापन्न ज्ञान आलम्बन रहित हैं, क्योंकि वे ज्ञान हैं, स्वप्न या इन्द्रजालादि ज्ञानकी तरह' यह अनुमान भी सम्यक् न होनेके कारण उन्हें आलम्बनरहित सिद्ध करनेमें असमर्थ है, कारण कि उक्त हेतु स्वरूपावभासी ज्ञानसन्तानके साथ व्यभिचारी है। स्वरूपावभासी ज्ञानसन्तान प्रत्यय तो है, किन्तु आलम्बनरहित नहीं है—स्वरूप उसका आलम्बन है। यदि उसे भी सन्तानान्तरज्ञानोंकी तरह पक्षान्तर्गत किया जाय तो दो विकल्प उठते हैं। यह अनुमानज्ञान अपने साध्यरूप अर्थको विषय करता है या नहीं? यदि करता है तो अनुमानगत 'प्रत्ययत्व' हेतु उसीके साथ अनैकान्तिक है—साध्य (आलम्बनरहित) के अभावमें वह पाया जाता है। दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् उसे निरालम्बन मानने पर उससे निरालम्बनत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। (१४-३१)

परमब्रह्म-परीक्षा

यहाँ केवल परमब्रह्मको स्वीकार करने वाले वेदान्ती अपने मतकी उपस्थापना करते हैं—'समस्त ज्ञानोंको आलम्बन (बाह्य विषय) रहित प्रतिपादन करना हमें इष्ट है। वह परमब्रह्मके स्वरूपकी ही सिद्धि है। परमब्रह्मको छोड़कर बाह्य कोई पदार्थ नहीं है,' उनका भी यह मत सम्यक् नहीं है, प्रश्न है कि परमब्रह्म स्वतः सिद्ध है या किसी प्रमाणसे सिद्ध है? स्वतः सिद्ध तो उसे माना नहीं जा सकता, अन्यथा उसमें किसीको कोई विवाद न होता। प्रमाणसे उसे सिद्ध मानने पर दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकल्प होते हैं। अनुमानसे वह सिद्ध है अथवा आगमसे ? यदि अनुमानसे वह सिद्ध है तो वह अनुमान कहिए। 'विवादग्रस्त पदार्थ प्रतिभासके अन्तर्गत ही हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान हैं, जो प्रतिभासमान हैं वे प्रतिभासके अन्तर्गत ही देखे गये हैं, जैसे प्रतिभासस्वरूप और प्रतिभासमान हैं चेतन-अचेतन समस्त विवादग्रस्त पदार्थ, इस कारण वे प्रतिभासके अन्तर्गत ही हैं' इस अनुमानसे परमब्रह्मकी सिद्धि होती है, यह अनुमान समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमानमें जो धर्मी, हेतु और दृष्टान्त प्रयुक्त हैं उन्हें प्रतिभासके अन्तर्गत स्वीकार करने पर साध्यकोटिमें आ जानेसे प्रकृत अनुमानका उदय ही नहीं हो सकता। और यदि उन्हें प्रतिभासके अन्तर्गत नहीं माना जाता तो उन्हींके साथ हेतु (प्रतिभासमानत्व) व्यभिचारी है।

यदि कहा जाय कि अनादिकालीन अविद्याकी वासनासे धर्मी, हेतु और दृष्टान्त प्रतिभाससे बाह्य जैसे अवगत होते हैं, जैसे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं सभ्य-सभापति प्रतीत होते हैं, अतः उपर्युक्त अनुमानका भी उदय सम्भव है ही। किन्तु जब समस्त अनादिकालीन अविद्याका विलास (कल्पनाजाल) विलीन हो जाता है तो समस्त जगत् प्रतिभासके अन्तर्गत आ जानेसे प्रतिभास ही है, उसमें कोई विवाद नहीं रहता। प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावका अभाव हो जाने पर साध्य-साधनभाव न बननेसे अनुमानप्रयोगकी फिर कोई सार्थकता नहीं है। देश, काल और आकारकी सीमाओंसे रहित, समस्त अवस्थाओंमें व्यापी, प्रतिभास स्वरूप, निर्दोष परमब्रह्मका स्वयं अनुभव होनेपर अनुमानका प्रयोग नहीं होता, अतः उपर्युक्त दोष नहीं है, यह कथन भी युक्त नहीं है। प्रश्न है कि वह अनादिकालीन अविद्या प्रतिभासके अन्तर्गत है या प्रतिभाससे बाहर ? यदि प्रतिभासके अन्तर्गत है तो वह विद्या ही है, वह अविद्यमान धर्मी, हेतु और दृष्टान्तका प्रदर्शन कैसे करा सकती है। अगर उसे प्रतिभाससे बाहर माना जाय, तो पुनः प्रश्न होता है कि वह प्रतिभासमान है या नहीं ? यदि वह प्रतिभासमान नहीं है, तो उससे भेदोंका प्रतिभास कैसे होता है, और यदि वह प्रतिभासमान है, तो उसीके साथ उक्त प्रतिभासमानत्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि प्रतिभाससे बाहर होनेपर भी वह प्रतिभासमान है। (१५-२३)

यदि कहा जाय कि अविद्या न प्रतिभासमान है, न अप्रतिभासमान, न प्रतिभाससे बाह्य, न प्रतिभासान्तर्गत, न एक, न अनेक, न नित्य, न अनित्य, न व्यभिचारिणी और न अव्यभिचारिणी, क्योंकि वह विचारके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्य ही नहीं है। उसका स्वरूप ही सकल विचारातिक्रान्त है, अन्य स्वरूप उसका नहीं हैं, नीरूपता ही उसका लक्षण है; यह कथन भी अज्ञानतापूर्ण ही है; क्योंकि अविद्याको उक्त प्रकारका मानने पर किसीके द्वारा किसी भी प्रकारसे प्रतिभास न होनेसे उसका कथन ही नहीं किया जा सकता। और यदि उसका प्रतिभास होता है तब वह नीरूप कैसे ? जो जिस रूपसे प्रतिभासित होता है वही उसका स्वरूप है। तथा यह बतायें कि वह विचारातिक्रान्तरूपसे विचारका विषय है या विचारका विषय नहीं है ? प्रथम पक्ष स्वीकार करनेपर सकलविचारातिक्रान्तरूपसे विचारानतिक्रान्त (विचारका विषय) होनेसे विरोध प्राप्त होता है। अविद्या जब सकलविचारातिक्रान्त है तो वह विचारका विषय कैसे हो सकती है—दोनों बातें विरुद्ध हैं। द्वितीय पक्ष मानने पर उसे 'सकल विचारातिक्रान्त' भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अविद्याकी विचारातिक्रान्तता किसी तरह सिद्ध करनेपर उसमें सर्वथा एकानेकादि-रूपता भी उसी तरह सिद्ध होगी। अतः अविद्याको सत्स्वभाव ही मानना चाहिए, जैसे विद्याको सत्स्वभाव माना जाता है। फलतः विद्या और अविद्याके द्वैतकी सिद्धि होनेसे अद्वैतरूप परमब्रह्मकी सिद्धि किस अनुमान-से होगी ? अर्थात् किसी भी अनुमानसे उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। उपनिषद्वाक्यसे भी उसकी सिद्धि सम्भव नहीं, यह पहले ही कहा जा चुका है। स्पष्ट है कि 'यह सब निश्चय ही ब्रह्म है' [ ] इत्यादि उपनिषद्वाक्योंको ब्रह्मसे भिन्न माननेपर द्वैतका प्रसंग आता है और अभिन्न माननेपर साध्य-साधकभाव नहीं बनेगा। उन्हें अविद्यात्मक कहनेपर भी पूर्वोक्त दोषोंका प्रसंग आता है। अतः परमपुरुषाद्वैतकी न स्वतः सिद्धि होती है और न परसे, जिससे 'सम्यग्ज्ञान स्वनिश्चायक ही है, अर्थनिश्चायक नहीं, क्योंकि अर्थ नहीं है' यह कथन प्रामाणिक होता। तात्पर्य यह कि पुरुषाद्वैत सिद्ध नहीं हैं, जिससे बाह्य अर्थका अभाव होता। अतः अपने तथा बाह्य अर्थका व्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। [१५–३४]

शंका—जो स्वप्नज्ञान होता है वह स्वव्यवसायात्मक ही होता है, अर्थव्यवसायात्मक नहीं ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्नज्ञान भी साक्षात् अथवा परम्परासे अर्थका व्यवसायात्मक होता है। स्वप्न दो प्रकारका है—१ सत्य और २ असत्य। सत्य स्वप्न किसी देवके निमित्तसे अथवा स्वप्नद्रष्टाके धर्म एवं अधर्मके निमित्तसे होता है और वह स्वप्न साक्षात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी अर्थका निश्चायक होता है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें जिस स्थान, जिस काल और जिस आकारसे पदार्थ जाना जाता है, जागृत अवस्थामें भी वह उसी स्थान, उसी काल और उसी आकारसे निश्चित अवगत होता है। कोई सत्य स्वप्न परम्परासे अर्थनिश्चायक होता है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय' नामक ज्यौतिष-शास्त्रके अनुसार पदार्थका वह अवश्य प्रापक होता है। कहा भी है—

'जो रात्रिके अन्तिम प्रहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गायको देखता है उसके कुटुम्बकी वृद्धि होती है।'

ज्यौतिषशास्त्रके इस कथनके अनुसार कुटुम्बवृद्धिके अविनाभावी राजा आदिका दर्शन अर्थका निश्चायक क्यों नहीं होगा, जैसे अग्निका अविनाभावी धूमका दर्शन अग्निका निश्चायक होता है।

शंका—दृष्ट अर्थका निश्चायक न होनेसे स्वप्नज्ञान अर्थका निश्चायक नहीं है ?

समाधान—यह शंका संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो अनुमान भी दृष्ट अर्थका व्यवसायात्मक न होनेसे अर्थका निश्चायक नहीं होगा, जैसे स्वप्नज्ञान।

शंका—अनुमान तो अनुमेय अर्थका निश्चायक है, उसे अर्थका अनिश्चायक कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो स्वप्नज्ञान भी स्वप्नशास्त्र प्रतिपादित अर्थका निश्चायक क्यों नहीं माना जायेगा।

शंका—उसमें कभी व्यभिचार (अर्थके अभावमें स्वप्नज्ञान) देखा जाता है, अतः वह अर्थनिश्चायक नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्य शास्त्र प्रतिपादित स्थानविशेष, कालविशेष और आकारविशेषकी अपेक्षा लेकर होने वाला स्वप्नज्ञान कहीं, कभी और किसी रूपसे व्यभिचारी नहीं होता। किन्तु स्थानविशेष आदिकी अपेक्षासे रहित होनेवाला स्वप्न सत्य नहीं है, वह स्वप्नाभास है। दूसरी बात यह है कि प्रतिपत्ता (स्वप्नद्रष्टा) के अपराध (गलत निर्देशन आदि) से व्यभिचार सम्भव है, उसके अनपराधसे नहीं। जैसे अधूमको धूम समझकर प्रवृत्त हुए अनुमाताका अग्निज्ञान व्यभिचारी होता है, सो यह अपराध अनुमाताका ही है, धूमका नहीं, यह सभी मनीषी बतलाते हैं। उसी प्रकार अस्वप्न (स्वप्नाभास) को स्वप्न समझ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर अर्थका निश्चय करनेवाले पुरुषका वह अर्थज्ञान व्यभिचारी है। सो यह स्वप्नद्रष्टाका अपराध है, स्वप्नशास्त्रका नहीं।

जो असत्य स्वप्न पित्तादिके विकारसे होता है वह क्या अर्थसामान्य-का व्यभिचारी है या अर्थविशेषका? वह अर्थसामान्यका तो व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि स्थानविशेष, कालविशेष और आकारविशेषोंमें ही व्यभिचार देखा जाता है, सब जगह, सब कालोंमें और सब प्रकारसे अर्थसामान्यका सद्भाव बना रहता है। यदि सामान्य अर्थ न हो तो विशेष अर्थोंमें संशय, विपर्यय, स्वप्न आदि अयथार्थज्ञान नहीं हो सकते हैं। निश्चय ही कोई ज्ञान सन्मात्रका व्यभिचारी नहीं होता, अन्यथा वह उत्पन्न हो नहीं हो सकेगा। इस लिए असत्य स्वप्न भी अर्थसामान्यका निश्चायक होता है और इस लिए कोई भी ज्ञान, चाहे सत्य स्वप्नज्ञान हो, असत्य स्वप्नज्ञान हो और चाहे अन्य, सभी अर्थनिश्चायक होते हैं, अर्थके अनिश्चायक नहीं। चूँकि वह अर्थविशेषका व्यभिचारी होता है अतएव वह असत्य है, यदि ऐसा न हो तो ज्ञानोंमें सत्यासत्यकी व्यवस्था नहीं हो सकती, वह स्वार्थविशेषकी प्राप्ति तथा अप्राप्तिके निमित्तसे ही होती है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मककी तरह अर्थव्यव-सायात्मक भी प्रसिद्ध होता है। [१६–३६]

अस्वसंवेदिज्ञान-परीक्षा

नैयायिकोंका मत है कि सम्यग्ज्ञान केवल अर्थका निश्चायक है, स्वका निश्चायक नहीं है क्योंकि स्व (अपने) में स्वकी (अपनी) क्रिया (ज्ञप्ति) का विरोध है। इसका भी कारण यह है कि एक ज्ञानका एक ही आकार सम्भव है, अनेक (विषय—कर्मरूप और करणरूप दो) आकार नहीं। यहाँ यह कहना युक्त नहीं कि ज्ञान एक आकारको, जो कर्मरूप स्व है, करणरूप आकारके द्वारा जानता है, अतः उसमें विभिन्न दो आकार हो सकते हैं, क्योंकि तब प्रश्न उठता है कि उन दोनों (कर्माकार और करणाकार) से ज्ञान अभिन्न है या भिन्न? यदि अभिन्न है तो ज्ञानमें भेद आ जायेगा। निश्चय ही उन दोनों भिन्नोंसे अभिन्न ज्ञान एक नहीं हो सकता—भिन्नोंसे जो अभिन्न होता है वह भिन्न अर्थात् अनेक होता है। अथवा ज्ञानके एक होनेसे आकारोंको उससे अभिन्न माननेपर उनमें भेद नहीं बन सकेगा अर्थात् आकार भी ज्ञानकी तरह एक हो जायेंगे। स्पष्ट है कि अभिन्न (एक ज्ञान) से अभिन्न आकारोंमें भेद सम्भव नहीं है। इस दोषसे मुक्ति पानेके लिए यदि दोनों आकारोंसे ज्ञानको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न माना जाय, तो 'ज्ञान अपनेको अपने द्वारा जानता है' यह सिद्धान्त समाप्त हो जाता है, क्योंकि पर (भिन्न) के द्वारा पर (भिन्न) का ही निश्चय हुआ है। फिर यह भी प्रश्न है कि वे दोनों आकार यदि ज्ञानके अपने स्वरूप हैं, तो ज्ञान उनका निश्चय करता है या नहीं ? यदि निश्चय करता है तो यह बतायें कि वह ज्ञान उनका निश्चय अन्य एक ही आकारसे करता है या अलग-अलग दो आकारोंसे ? यदि अन्य एक आकारसे ही वह उन दोनों आकारोंका निश्चय करता है तो विरोध आता है—एक आकारसे दो विरोधी आकारोंका निश्चय अशक्य है। यदि कहा जाय कि उन दो विरोधी आकारोंका निश्चय वह अलग-अलग दो आकारोंसे करता है, तो वे दोनों अन्य आकार ज्ञानसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यह प्रश्न बना ही रहेगा और अपरिहार्य अनवस्थादोष आयेगा। अगर उन्हें ज्ञानसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न इस प्रकार दोनों रूप कहें, तो दोनों पक्षोंमें जो ऊपर दोष दिये गये हैं वे इस पक्षमें भी आते हैं ! इन तीन पक्षों (भेद, अभेद और कथंचिद्भेदाभेद) के अतिरिक्त चौथा कोई पक्ष भी सम्भव नहीं है। अतः सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं है, मात्र अर्थव्यवसायात्मक ही है ?

नैयायिकोंकी यह मान्यता भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वह अनुभव-पर आधृत नहीं है। लोकका स्पष्ट अनुभव है कि ज्ञान स्वका निश्चय करता हुआ ही अर्थका निश्चय करता है। इस अनुभवको मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें प्रत्यक्षादिसे कोई बाधा नहीं आती। 'स्वमें स्वकी क्रिया नहीं हो सकती—उसका विरोध है और यह विरोध ही उक्त अनुभवमें सबसे बड़ी बाधा है' यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि हम पूछते हैं कि 'स्व' में 'स्व'की कौन-सी क्रियाका विरोध है ? उत्पत्ति क्रियाका या ज्ञप्ति क्रियाका ? यदि उत्पत्ति क्रियाका विरोध है, तो वह रहे—वह तो हम भी मानते हैं। हम यह कहाँ कहते हैं कि 'ज्ञान अपनेको उत्पन्न करता है'। स्वामी समन्तभद्रने स्पष्टतया कहा है कि 'एक स्वयं अपनेसे उत्पन्न नहीं होता।' [आप्तमी. का. २४]

अगर कहा जाय कि ज्ञप्ति क्रियाका विरोध है, तो ज्ञानमें उसका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान जानन क्रिया (ज्ञप्ति) रूपसे परिणत होता हुआ ही अपने कारणकलापसे, जिसमें उपादान आत्मा और निमित्त (सहकारी) इन्द्रियादि सम्मिलित हैं, उत्पन्न होता है। जैसे प्रदीप आदिका प्रकाश प्रकाशनरूप क्रियासे परिणत होता हुआ ही अपने तेल, बत्ती आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है। प्रदीपादिका प्रकाश अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारणसामग्रीसे जब उत्पन्न होता है तो स्वप्रकाशनरूप क्रियासे परिणत नहीं होता, ऐसा अनुभव नहीं होता, अपितु वह स्वसामग्रीसे उत्पन्न होता हुआ अपना प्रकाश करनेवाला प्रतीत होता है, अन्यथा उसे अपना प्रकाश करनेके लिए प्रकाशान्तरकी अपेक्षा करनी पड़ेगी, जो कि अप्रातीतिक है। यह प्रदीपादिका प्रकाश घटादिके ज्ञान और स्वरूप (स्वप्रकाशके) ज्ञान करनेमें चक्षुरिन्द्रियकी सहायता न करता होता तो वह स्वप्रकाशक न होता, किन्तु वह सहायता करता है, अतः स्वप्रकाशक है। वास्तवमें चक्षुरिन्द्रियकी जो सहायता है वही प्रदीपादिकी प्रकाशकता है। वह प्रकाशकता जिस प्रकार घटादिका प्रकाश करते हुए प्रदीपादिमें विद्यमान है उसी प्रकार अपना प्रकाश करते हुए भी प्रदीपादिमें वह मौजूद रहती है। इस प्रकार प्रदीपादिके प्रकाशमें स्वप्रकाशन क्रिया सिद्ध है। उसी तरह ज्ञानमें अर्थप्रकाशन क्रिया की तरह स्वप्रकाशन क्रिया भी समझना चाहिए—उसमें कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचनसे नैयायिकोंका यह अनुमान निरस्त हो जाता है कि 'ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है, क्योंकि वह अर्थप्रकाशक है, जैसे चक्षु आदि,' कारण कि हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रदीपादि अर्थप्रकाशक होते हुए स्वप्रकाशक भी हैं, अतः अनुमानगत हेतु प्रदीपादिके साथ अनैकान्तिक हेत्वाभास है। 'प्रदीपादि उपचारसे प्रकाशक हैं, यथार्थतः नहीं, यथार्थमें तो चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रकाशक हैं, अतः उक्त हेतु प्रदीपादिके साथ व्यभिचारी नहीं हैं' यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि यथार्थतः चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी अर्थप्रकाशक नहीं हैं, वास्तवमें अर्थप्रकाशक ज्ञान ही सिद्ध होता है। ऐसी दशामें उक्त अनुमानगत दृष्टान्त (चक्षु आदि) साधनविकल दृष्टान्ताभास है। अतः ज्ञान निम्न अनुमानसे स्वप्रकाशक सिद्ध है—'ज्ञान स्वप्रकाशक है, क्योंकि वह अर्थप्रकाशक है। जो स्वप्रकाशक नहीं है वह अर्थप्रकाशक नहीं देखा जाता, जैसे दीवाल आदि, और अर्थप्रकाशक ज्ञान है, इसलिए वह स्वप्रकाशक है' यह केवलव्यतिरेकिहेतुजनित अनुमान है, जो साध्याविनाभावी हेतुसे उत्पन्न होनेके कारण निर्दोष है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ यथार्थमें अर्थप्रकाशक सिद्ध नहीं होतीं, अतः उनके साथ भी हेतु अनैकान्तिक नहीं है। ज्ञानमें सहायक होने मात्रसे उन्हें उपचारसे अर्थप्रकाशक माना गया है। 'दीवाल आदि अपने अविनाभावी परभागादि पदार्थोंके प्रकाशक (अनुमापक) हैं, जैसे धूमादि अग्न्यादिके, और इसलिए उक्त अनुमानगत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीवाल आदिका दृष्टान्त साधनव्यतिरेकविकल दृष्टान्ताभास है', यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि दीवाल आदिको धूम, शब्द, इन्द्रिय आदिकी तरह उपचारसे ही अर्थप्रकाशक माना जाता है। यदि ऐसा न हो तो उससे होनेवाला ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होगा।

ऊपर जो यह कहा गया है कि 'ज्ञान अपनेको अपने द्वारा जानता है, यह स्वीकार करनेसे ज्ञानमें विषयाकार और करणाकार ये दो आकार कल्पित करना पड़ेगें और उस स्थितिमें अनवस्था आदि दोष आयेंगे और यही दोष ज्ञानको स्वप्रकाशक माननेमें बाधक हैं,' वह भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें उक्त दोनों आकार अनुभव सिद्ध हैं। जब ज्ञान स्वयं ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है तो वह कर्म (विषय) होनेसे विषयाकार है और करण होनेसे करणाकार है और ये दोनों आकार आकारवान् ज्ञानसे न सर्वथा भिन्न हैं और न सर्वथा अभिन्न, अपितु जात्यन्तर—सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद दोनोंसे अतिरिक्त तृतीय पक्ष कथंचिद्भेदाभेद रूप होनेसे आकार और आकारवान्में भेदाभेदकी अपेक्षा अनेकान्त है। कर्माकार और करणाकार ज्ञानसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न हैं, अत एव सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद पक्षमें दिये गये दोष स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) दर्शनमें नहीं आते। स्मरण रहे कि '**कथंचित्**' यह पद अन्धपद नहीं है, जो अन्धेकी तरह वस्तुबोध न करा सके। ज्ञानरूपसे दोनों आकार अभिन्न हैं, यह बोध 'कथंचिदभेद' शब्द द्वारा कराया जाता है और कर्म तथा करणरूपसे वे ज्ञानसे भिन्न हैं, यह 'कथंचिद्भेद' शब्द द्वारा दिखाया जाता है। जब केवल ज्ञानकी ओर दृष्टि रहती है तो ज्ञान-ही-ज्ञान दिखाई देता है—आकारद्वय उसमें विलीन रहते हैं, ज्ञानसे भिन्न ज्ञानात्मक कुछ प्रतीत ही नहीं होता। और जब ज्ञानके कर्माकार तथा करणाकार इन दो आकारोंकी ओर ही ध्यान रहता है तो वे आकार ही अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं—ज्ञान उन्हीं दोनोंमें समाया रहता है—उन आकारोंसे भिन्न ज्ञानाकारकी प्रतीति नहीं होती।

'जिस स्वभावसे कर्माकार और करणाकारका ज्ञानसे अभेद हैं और जिस स्वभावसे भेद हैं वे दोनों स्वभाव ज्ञानसे क्या अभिन्न हैं या भिन्न, इत्यादि प्रश्न और उनके आधारसे अनवस्था दोषका प्रसंग भी उक्त प्रकारसे निरस्त हो जाता है। 'कर्म और करण दोनोंको कर्त्तासे भिन्न ही होना चाहिए' ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि कर्म और करण दोनों भिन्नकर्तृकको तरह अभिन्नकर्तृक भी देखे जाते हैं। यहाँ दोनोंके उदाहरण प्रस्तुत हैं—(१)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'देवदत्तः परशुना काष्ठं छिनत्ति'—देवदत्त कुल्हाड़ीसे लकड़ीको काटता है। इस भिन्नकर्तृक करणके उदाहरणमें जिस प्रकार देवदत्त कर्तासे 'परशु' रूप करण भिन्न है उसी प्रकार (२) **'अग्निर्दहति दहनात्मना'**—अग्नि दहनपरिणामसे जलती है, इस अभिन्नकर्तृक करणके उदाहरणमें अग्नि कर्तासे दहनपरिणामरूप करण अभिन्न प्रतीत ही है। 'दहनपरिणाम उष्णतारूप गुण है और वह अग्नि—गुणीसे भिन्न ही है' यह मान्यता युक्त नहीं, क्योंकि अग्नि और दहनपरिणाममें सर्वथा भेद स्वीकार करने पर गुण-गुणीभाव नहीं बन सकता, जैसे सह्य और विन्ध्यमें गुण-गुणीभाव नहीं है। 'गुणीमें गुणका समवाय होनेसे अग्नि और दहनपरिणाममें गुण-गुणीभाव बन सकता है, सह्यमें विन्ध्यका समवाय न होने और संयोग होनेसे उनमें गुण-गुणीभाव नहीं है', यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि कथंचिद् अविष्वग्भावरूप तादात्म्यसे अतिरिक्त समवाय सिद्ध नहीं होता। यथार्थमें जो **सम**—एकीभाव, एकरूपसे **अवाय**—निश्चय करना है वह समवाय है। वह कर्मस्थ और कर्तृस्थ दोनों प्रकारका होता है। समवायियों (गुण-गुणी आदिकों) में रहनेवाला समवेयमानत्वरूप समवाय (तादात्म्य) कर्मस्थ समवाय है और प्रमाताका तादात्म्यसे समवायिओंका ग्रहण करना रूप समवायकत्व कर्तृस्थ समवाय है। इन दोके अतिरिक्त अन्य प्रकार नहीं है, क्योंकि क्रियाको कर्मस्थ और कर्तृस्थ दो ही प्रकारकी कही हैं। **'कर्मस्था क्रिया कर्मणोऽनन्या कर्तृस्था कर्तुरनन्या'**—कर्मस्थ क्रिया कर्मसे अभिन्न होती है और कर्तृस्थ क्रिया कर्तासे अभिन्न' ऐसा कहा गया है। अतः करण भिन्नकर्तृककी तरह अभिन्नकर्तृक भी सिद्ध होता है।

कर्म भी भिन्नकर्तृककी तरह अभिन्नकर्तृक होता है। उनके भी यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं—(१) **'कटं करोति'**—देवदत्त चटाई बनाता है। यहाँ चटाई रूप कर्म कर्ता (देवदत्त) से भिन्न है। उसी तरह (२) **'प्रदीपः प्रकाशयत्यात्मानम्'**—प्रदीप अपनेको प्रकाशित करता है। यहाँ प्रदीपका स्वरूप प्रकाशन (कर्म) प्रदीपसे अभिन्न प्रतीत ही है। स्पष्ट है कि प्रदीपका स्वरूप (प्रकाशन) प्रदीपसे भिन्न नहीं है, अन्यथा प्रदीप अप्रदीप हो जायेगा, जैसे घट। 'प्रदीपका स्वरूप प्रदीपसे यद्यपि भिन्न है तथापि उसका प्रदीपमें समवाय होनेसे उसमें प्रदीपपना सिद्ध है', यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो प्रदीप नहीं हैं, ऐसे घटादिमें भी उसका समवाय हो जाना चाहिए, कारण कि समवाय एक ही है। यदि कहा जाय कि सम्बन्धविशेषके कारण प्रदीपके स्वरूपका प्रदीपमें ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समवाय है, अन्य घटादिमें नहीं, तो वह सम्बन्धविशेष कथंचित्तादात्म्य-के सिवाय और क्या है। अतः प्रदीपका स्वरूप (प्रकाशनरूप कर्म) प्रदीप से अभिन्न है और इस तरह अभिन्नकर्तृक भी कर्म सिद्ध है। उसी प्रकार **'ज्ञानमात्मानमात्मना जानाति'**—ज्ञान अपनेको अपने द्वारा जानता है—यह भी सिद्ध हो जाता है। और चूँकि ज्ञानमें ज्ञप्ति (जानन) क्रियाका विरोध सिद्ध नहीं होता, अतएव ज्ञान स्वका भी निश्चायक है। [१९–४२]

शंका—'पदार्थज्ञान किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा वेद्य (जानने योग्य) है, क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे घट आदि पदार्थ', यह अनुमान ज्ञानको स्वार्थ-निश्चायक माननेमें बाधक है ?

समाधान—यह शंका भी निःसार है, क्योंकि महेश्वरके अर्थज्ञानके साथ उक्त अनुमानगत हेतु अनैकान्तिक है। महेश्वरका ज्ञान किसी अन्य ज्ञानसे वेद्य नहीं है फिर भी वह प्रमेय है।

शंका—महेश्वरका अर्थज्ञान भी दूसरे ज्ञानका प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह स्वसंवेद्य नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी युक्त नहीं है, क्यों तब प्रश्न उठता है कि महेश्वरका वह दूसरा भी ज्ञान प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? यदि प्रत्यक्ष है तो स्वतः प्रत्यक्ष है या अन्य ज्ञानसे ? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर पहले अर्थज्ञानको भी स्वतः प्रत्यक्ष मानिये, अन्य ज्ञानको माननेकी क्या जरूरत है। यदि अन्य ज्ञानसे उसका प्रत्यक्ष कहा जाय, तो ईश्वरका वह ज्ञान भी उसका प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? इस प्रकार वही प्रश्न उठेंगे और कहीं भी अवस्थान न होनेसे अनवस्था दोष भी आयेगा, जिसका परिहार दुःशक्य है। यदि ईश्वरका वह अर्थज्ञानज्ञान अप्रत्यक्ष ही है, ऐसा कहा जाय तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसे अपने ज्ञानज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं है। इसके अतिरिक्त अर्थज्ञानज्ञानका प्रत्यक्ष न होनेपर प्रथम अर्थज्ञान भी उसके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि जब अर्थज्ञानज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष है तो उस अप्रत्यक्ष अर्थज्ञान-ज्ञानके द्वारा ईश्वरके अर्थज्ञानका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। अन्यथा किसी दूसरे व्यक्तिके ज्ञानके द्वारा भी किसी अन्यके ज्ञानका प्रत्यक्ष क्यों न हो जाय ? फलतः अनीश्वर होते हुए भी समस्त प्राणी स्वयं अप्रत्यक्ष-भूत सर्वविषयक ईश्वरज्ञान द्वारा समस्त पदार्थोंके समूहके प्रत्यक्षज्ञाता हो जायेंगे और उस दशामें सभी प्राणी सर्वज्ञ हो जानेसे ईश्वर-अनीश्वर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विभाग नहीं रहेगा। और जब महेश्वरका प्रथम अर्थज्ञान भी अप्रत्यक्ष ही स्वीकार करें तो उस अप्रत्यक्ष अर्थज्ञानके द्वारा महेश्वरके समस्त पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेका कैसे समर्थन किया जा सकता है। इस प्रकारसे तो समस्त प्राणियोंके सर्वज्ञ होनेका प्रसंग तदवस्थ रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि नैयायिकको महेश्वरकी असर्वज्ञता अथवा समस्त प्राणियोंकी सर्वज्ञता स्वीकार करना पड़ेगी, क्योंकि न्यायबलसे ऐसा सिद्ध होता है। और यदि वह ऐसा नहीं मानता हैं, तो वह नैयायिक (न्याय-पक्षावलम्बी) कैसे कहा जा सकता है।

यदि ईश्वरका ज्ञान समस्त पदार्थोंकी तरह अपनेको भी प्रत्यक्ष करता है, क्योंकि वह नित्य एवं एकरूप है। उसके क्रमसे होनेवाले अनेक अनित्य ज्ञान मानने पर तो महेश्वर युगपत् समस्त पदार्थोंका साक्षात्कारी नहीं हो सकेगा और उस दशामें वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, ऐसा कहा जाय, तो पूर्वोक्त अनुमानमें दिया गया 'प्रेमयत्व' हेतु इसी नित्य महेश्वरज्ञानके साथ अनैकान्तिक क्यों नहीं होगा।

शंका—बात यह है कि हम सामान्यजनोंके ज्ञानकी अपेक्षा अर्थ-ज्ञानको 'प्रमेयत्व' हेतुके द्वारा ज्ञानान्तरवेद्य सिद्ध करते हैं, महेश्वरके अर्थज्ञानको नहीं, अतः हेतु उसके साथ व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि वह हम लोगोंके ज्ञानकी अपेक्षा विशिष्ट है। और जो धर्म विशिष्टमें देखा जाता है वह अविशिष्ट (सामान्य) में भी नहीं आरोपा जा सकता है, वह प्रेक्षावान् नहीं कहा जायगा ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि हम लोगोंका ज्ञानान्तर भी अन्य ज्ञानके द्वारा वेद्य माननेपर अनवस्था दोष आता है। यदि वह ज्ञानान्तर अन्य ज्ञानके द्वारा वेद्य नहीं है तो 'प्रमेयत्व' हेतु उसीके साथ अनैकान्तिक है। 'वह किसी ज्ञानका प्रमेय ही नहीं है' ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि प्रतिपत्ताके उस ज्ञानकी फिर किसी प्रमाणसे व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि सर्वज्ञके ज्ञानका भी वह प्रमेय न हो, तो सर्वज्ञके सर्वज्ञता नहीं बन सकेगी। अतः हम लोगोंके ज्ञानकी अपेक्षा भी ज्ञानको, ज्ञानान्तरप्रत्यक्ष 'प्रमेयत्व' हेतुके द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। दूसरे, ज्ञान प्रत्यक्षसे ही स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध होनेसे उपर्युक्त अनुमानगत पक्ष प्रत्यक्षबाधित है और हेतु कालात्य-यापदिष्ट (बाधितविषय) हेत्वाभास है। इसी प्रकार अर्थज्ञानको ज्ञानान्तरवेद्य सिद्ध करनेके लिए तीनों कालों तथा तीनों लोकोंके पुरुष-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समूह द्वारा प्रयुक्त हेतुसमुदाय कालात्ययापदिष्ट जानना चाहिए। इसी कथनसे यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि एक आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले उत्तरकालीन ज्ञानके द्वारा अर्थज्ञानका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि उत्तरकालीन ज्ञान भी उत्तरोत्तर ज्ञानग्राह्य होनेपर अनवस्था आती है, यह कहा ही जा चुका है। अतः ज्ञानको अस्वसंविदित न मानकर स्वसंवेदी मानना चाहिए और तब सम्यग्ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक सुसिद्ध होता है।

परोक्षज्ञान-परीक्षा

मीमांसकोंका मत है कि ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं है, वह परोक्ष है। हमारे यहाँ बुद्धिको अप्रत्यक्ष और अर्थको प्रत्यक्ष कहा गया है। अर्थ बाह्य देशसे सम्बद्ध ही प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है और 'उसके प्रत्यक्ष होनेके बाद प्रतिपत्ता अनुमानसे उस अर्थको जानने वाली बुद्धिको जानता है,' ऐसा **शावरभाष्यमें** कहा है। इसके अतिरिक्त ज्ञानको अर्थकी तरह प्रत्यक्ष मानने पर वह कर्म (विषय) हो जायगा और तब उसके लिए एक अलग करणरूप अन्य ज्ञानका मानना आवश्यक होगा। उसे अप्रत्यक्ष स्वीकार करने पर प्रथम ज्ञानको ही अप्रत्यक्ष माननेमें क्या असन्तोष है? और उसे भी प्रत्यक्ष कहने पर वह करणरूप ज्ञान प्रथम ज्ञानकी तरह कर्म हो जायगा तथा उसके लिए करणरूप अन्य ज्ञानकी कल्पना करनेपर अनवस्था दोष अपरिहार्य है। इसके अलावा एक ज्ञानके कर्म और करण रूप दो आकार सम्भव नहीं है—दोनोंका विरोध है। इसलिए मनीषियोंको ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिए—उसे परोक्ष स्वीकार करना चाहिए।

मीमांसकोंकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञान अप्रत्यक्ष हो, तो वह किसी भी तरह अर्थका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अर्थात् जो स्वयं अपनेको नहीं जानता वह दूसरेको क्या जानेगा। अन्यथा सभी व्यक्ति अन्य व्यक्तिके ज्ञानसे भी अर्थका प्रत्यक्ष कर लेंगे। फलतः कोई भी पदार्थ कभी किसीको अप्रत्यक्ष नहीं रहेगा।

शंका—जिस व्यक्तिको पदार्थकी ज्ञप्ति होती है उसके ही ज्ञानके द्वारा वह पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, सबके ज्ञानके द्वारा सभी अर्थ प्रत्यक्ष नहीं होते, क्योंकि सभी प्रमाताओंको सभी पदार्थोंकी परिच्छित्ति नहीं होती, अतः उक्त दोष नहीं है?

समाधान—यह मन्तव्य भी युक्त नही हैं, क्योंकि यह बतायें कि अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की परिच्छित्ति प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? प्रत्यक्ष तो उसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह ज्ञानका धर्म है, दूसरे उसकी कर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती, जैसे करणरूप ज्ञान। यदि उसकी कर्मरूपसे प्रतीति न होनेपर भी क्रियारूपसे प्रतीति होनेसे वह प्रत्यक्ष है, तो करणरूप ज्ञान कर्मरूपसे प्रतीत न होनेपर भी करणरूपसे प्रतीत होनेसे प्रत्यक्ष हो। यदि कहें कि करणरूपसे प्रतीत करणज्ञान तो करण ही होगा, कर्मरूप प्रत्यक्ष नहीं, तो पदार्थपरिच्छित्ति भी क्रियारूपसे प्रतीत होनेसे क्रिया-रूप ही है, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कर्मरूप नहीं है। यदि कहा जाय कि अर्थपरिच्छित्ति अर्थका धर्म होनेसे प्रत्यक्ष है, तो वह अर्थपरिच्छित्ति अर्थप्राकटच (अर्थप्रकाशन) रूप कही जाती है और अर्थप्राकट्य अर्थको ग्रहण करने वाले ज्ञानमें अर्थप्राकट्यको स्वीकार न करने पर बन नहीं सकता, अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा। स्पष्ट है कि अर्थज्ञान अप्रकट (अप्रकाश) रूप रहे, जो समानान्तरवर्ती है, तो उससे किसी पदार्थका प्रकाशन नहीं हो सकता। प्रमाता आत्मा, जो स्वयं प्रकाशमान है, प्रत्यक्ष है और अर्थपरिच्छेदक है, जब प्रकाश-रूप है, तभी वह अर्थपरिच्छित्तिरूप अर्थप्रकाशन करता हुआ देखा जाता है।

'परिच्छित्ति, जो परिच्छेदकरूप है, कर्तृस्थ क्रियारूप होनेसे कर्त्ताका धर्म है, उसे उपचारसे ही अर्थका धर्म कहा जाता है, क्योंकि वास्तवमें परिच्छिद्यमानतारूप परिच्छित्ति ही, जो कर्मस्थ क्रियारूप है, अर्थका धर्म है। परिच्छित्तिको करणरूप ज्ञानका धर्म हम स्वीकार करते ही नहीं हैं। 'चक्षुसे देवदत्त रूपको देखता है' इत्यादि स्थानोंमें चक्षुका प्रकाशन न होनेपर भी वह परोक्ष एवं अतीन्द्रिय चक्षु रूपका जैसे प्रकाशन कर देती है उसी प्रकार करणरूप परोक्षज्ञानका प्रकाशन न होने पर भी वह अर्थका प्रकाशन अच्छी तरह कर सकता है। लोकमें अतीन्द्रियको भी करण माना गया है' ऐसा हमारा (मीमांसकोंका) अभिप्राय है, पर उनका यह अभिप्राय अन्ध सर्पके बिलप्रवेशन्यायके अनुसार स्याद्वादियोंके मतका ही समर्थन करता है, क्योंकि स्याद्वादियोंने भी स्वार्थपरिच्छेदक प्रत्यक्ष आत्माको कर्तृसाधनरूप ज्ञानशब्दके द्वारा कहा है। स्वार्थज्ञानरूप परिणत स्वतंत्र आत्मा ही ज्ञान है। '**जानातीति ज्ञानमात्मा**'—जो जानता है वह ज्ञान है—आत्मा है, इस व्युत्पत्तिके आधारसे कर्तृसाधनमें ज्ञान आत्मारूप ही होता है। मीमांसकोंने जो करणरूप ज्ञानको अतीन्द्रिय कहा है वह भी स्याद्वादियोंने भावेन्द्रियरूपसे, जो उपयोगरूप करण है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार किया है। 'लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय हैं' [त. सू. २-१८] ऐसा तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रतिपादन किया है। अर्थग्रहणशक्तिका नाम लब्धि है और अर्थग्रहणव्यापारका नाम उपयोग है, ऐसा सूत्रका व्याख्यान है। सिर्फ इतना ध्यातव्य है कि वह उपयोग आत्मासे कथंचित् अभिन्न होनेसे आत्मारूप है, अतएव वह कथंचित् प्रत्यक्ष उपपन्न है। सर्वथा अप्रत्यक्ष-का हम निरास करते हैं। यही प्रतितिमें आता है, अतः परीक्षकोंको वैसा मानना चाहिए।

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकोंका मन्तव्य है कि 'आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह कर्मरूपसे प्रतीत नहीं होता, जैसे करणज्ञान', उनका यह मन्तव्य भी सदोष है, क्योंकि फलज्ञान (परिच्छित्तिरूप क्रिया) के साथ हेतु व्यभिचारी है। फलज्ञान कर्मरूपसे प्रतीत न होने पर भी प्राभाकरोंने उसका प्रत्यक्ष माना है। फलज्ञानको क्रियारूपसे प्रतीत होनेसे प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर प्रमाता आत्माको भी कर्तारूपसे प्रतीत होनेके कारण प्रत्यक्ष मानिए। फिर वह फलज्ञान आत्मासे भिन्न है या अभिन्न है या उभय है? ये तीन प्रश्न उठते हैं। प्रथम व द्वितीय पक्षमें क्रमशः नैयायिक एवं बौद्ध मतका प्रसंग आयेगा। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि पक्षद्वयमें जो दोष कहे गये हैं वे ही इस पक्षमें भी आते हैं। कथंचित् अभिन्न स्वीकार करने पर तो आत्माको भी कथंचित् प्रत्यक्ष मानना अनिवार्य है, क्योंकि वह फलज्ञानसे कथंचित् अभिन्न है, अतः फलज्ञानको प्रत्यक्ष मानने पर उससे कथंचित् अभिन्न आत्माको भी प्रत्यक्ष मानना होगा। उसे सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। इस प्रकार 'अप्रत्यक्ष ही आत्मा हैं' यह प्रभाकरका मत निरस्त हो जाता है।

कुछ मीमांसक करणज्ञानको तरह फलज्ञानको भी परोक्ष मानते हैं और आत्माको प्रत्यक्ष, उनका भी यह मत युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आत्मासे कथंचित् अभिन्न फलज्ञान और करणज्ञानको भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा, उसका निरास कैसे किया जा सकता है। अतः कुमारिल भट्टका मत भी विचारसह नहीं है। अतएव 'सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मक है, क्योंकि वह अर्थपरिच्छित्तिमें निमित्त है, जैसे आत्मा,' यह व्यवस्था युक्त है। 'नेत्र, आलोक आदिके साथ हेतु व्यभिचारी है' यह मन्तव्य भी युक्त नहीं है, क्योंकि नेत्र आदिको उपचारसे ही अर्थपरिच्छित्तिमें निमित्त कहा है, परमार्थसे प्रमाता और प्रमाण ही अर्थपरिच्छित्तिमें निमित्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधानपरिणामज्ञान-परीक्षा

सांख्योंका मत है कि 'सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है, जैसे घटादिक। वह चेतन नहीं है, क्योंकि वह अनित्य है, घटादिककी तरह ही। वह अनित्य है, क्योंकि उत्पन्न होता है, जैसे विद्युत आदि। किन्तु जो स्वसंवेद्य होता है वह चेतन होता है, नित्य होता है और उत्पन्न नहीं होता, जैसे पुरुष तत्त्व।'

सांख्योंका यह मत न्याययुक्त नहीं है, क्योंकि हेतु व्यभिचारी है। 'क्योंकि उत्पन्न होता है' यह हेतु स्पष्टतया अनित्यताका व्यभिचारी है, निर्वाण (मोक्ष) उत्पन्न तो होता है, पर वह अनन्त (नित्य) होता है। इसी तरह 'क्योंकि वह अनित्य है' यह हेतु भी अचेतनताका व्यभिचारी है, पुरुषभोग, जो बुद्धिके द्वारा अध्यवसित अर्थकी अपेक्षासे होनेके कारण कादाचित्क है, अचेतन न होने पर भी अनित्य माना गया है। सम्यग्ज्ञान-को अचेतन कहना तो सर्वथा असिद्ध है, क्योंकि अचेतन ज्ञानसे विवेक-ख्याति (पुरुष और प्रधानका भेदज्ञान) नहीं हो सकती। 'चेतनके संसर्गसे ज्ञान चेतन है' ऐसा मन्तव्य भी युक्त नहीं है, क्योंकि शरीरादि भी चेतनका संसर्ग होनेसे चेतन हो जायेंगे। 'ज्ञानके साथ जो चेतन-संसर्ग है वह विशिष्ट है' यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि कथं-चित्तादात्म्यको छोड़कर वह विशिष्ट और क्या हो सकता है। अतः ज्ञानको चेतनात्मक ही मानना चाहिए और उस हालतमें 'अचेतनत्व' हेतु असिद्ध ही है।

सांख्योंने जो यह कहा है कि 'ज्ञान अचेतन है, क्योंकि वह प्रधानका परिणाम है, जैसे पृथिवी आदि महाभूत' वह भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि अनुमानगत पक्ष स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे बाधित है और हेतु कालात्ययाप-दिष्ट (बाधितविषय) हेत्वाभास है। इसके अतिरिक्त प्रतिवादी (जैन) के लिए पक्ष अनुमानबाधित है। वह अनुमान इस प्रकार है—'ज्ञान चेतन है, क्योंकि वह स्वसंवेद्य है, जैसे पुरुष, जो चेतन नहीं है वह स्वसंवेद्य नहीं है, जैसे घट आदि' यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है। इस अनुमानसे उपर्युक्त अनुमानगत पक्ष बाधित होनेसे उक्त अनुमान गमक (साध्यसाधक) नहीं है। 'ज्ञानमें स्वसंवेद्यपना असिद्ध है' यह कथन सम्यक् नहीं, क्योंकि यदि ज्ञान स्वसंवेद्य न हो, तो अर्थका वह संवेदन नहीं कर सकता, यह हम ऊपर कह ही चुके हैं।

भूतचैतन्य-परीक्षा

चार्वाकका मत है कि 'ज्ञान स्वसंवेद्य नहीं है, क्योंकि वह शरीराकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणत पृथिवी आदि भूतोंका परिणाम है, जैसे पित्त आदि,' उनका भी यह मत निरस्त हो जाता है, क्योंकि हेतु असिद्ध है और असिद्ध इसलिए कि ज्ञान किसी भी प्रमाणसे भूतविशेषोंका परिणाम सिद्ध नहीं होता, अन्यथा उसका बाह्येन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष होनेका प्रसंग आयेगा, जैसे गन्ध आदि। 'सूक्ष्मभूत विशेषोंका परिणाम होनेसे ज्ञानका बाह्येन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता' यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि तब वह सूक्ष्म भूतविशेष, जो स्पर्शादिसे रहित है, ज्ञानका उपादान कारण है और सदैव बाह्येन्द्रियोंका अप्रत्यक्ष है, दूसरे शब्दोंमें आत्मा ही क्यों नहीं कहा जायगा। यदि उसे उससे भिन्न माना जाय, तो वह भूतचतुष्टयसे विलक्षण होनेके कारण तत्त्वान्तर होगा। फलतः इष्टकी हानि और अदृष्टकी कल्पना प्रसक्त होगी। इसके विपरीत आत्मा प्रमाणसिद्ध होनेसे ज्ञानको उसका परिणाम मानना युक्त है। अतः यह व्यवस्थित होता है कि 'सम्यग्ज्ञान स्वनिश्चायक है, क्योंकि वह चेतन आत्माका परिणाम होकर अर्थका परिच्छेदक है। जो स्वनिश्चायक नहीं है वह चेतनका परिणाम न होकर अर्थपरिच्छेदक नहीं है, जैसे घड़ा, और चेतनका परिणाम होकर अर्थपरिच्छेदक सम्यग्ज्ञान है, इसलिए वह स्वनिश्चायक है।' इस प्रकार 'सम्यग्ज्ञान प्रमाण है' यह सिद्ध है।

तत्त्वोपप्लव-परीक्षा

तत्त्वोपप्लववादियोंका मन्तव्य है कि प्रमेयतत्त्वकी तरह प्रमाणतत्त्व भी उपप्लुत (बाधित) होनेसे वास्तवमें कोई प्रमाण नहीं है, तब किसका लक्षण किया जाता है, क्योंकि लक्ष्यके सद्भावमें ही लक्षणका कथन होता है। 'प्रसिद्ध लक्ष्यका अनुवाद करके लक्षणका विधान किया जाता है' ऐसा लक्ष्यलक्षणभावको मानने वालोंने स्वीकार किया है ?

उक्त मन्तव्य समीचीन नहीं, क्योंकि तत्त्वोपप्लववादी यदि 'तत्त्वोपप्लवमात्र' मानते हैं तो उसे सिद्ध करनेके लिए साधन अवश्य स्वीकार करना होगा और वह साधन प्रमाण ही हो सकता है। अतएव हम कह सकते हैं कि तत्त्वोपप्लववादीको भी प्रमाण मानना इष्ट है, क्योंकि इष्टका साधन उसके बिना सम्भव नहीं है। यदि प्रमाणके बिना भी इष्टकी सिद्धि मानी जाय तो सभीके अपने-अपने इष्टको सिद्धि हो जायगी। फलतः अनुपप्लुततत्त्वको भी सिद्धि हो जायगी, क्योंकि कोई विशेषता नहीं है।

शंका—हम अपने इष्टकी सिद्धि अस्तित्वमुखेन नहीं करते, जिससे तत्त्वोपप्लवकी सिद्धि करने पर प्रमाणकी सिद्धिका प्रसंग आये। किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिवादीके द्वारा स्वीकृत प्रमाणादि तत्त्वोंका निराकरण करनेसे परीक्षकों-का विचार तत्त्वोपप्लवकी ओर झुकता है, इसके सिवाय अन्य उपाय नहीं है। उसीको यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

यह बतलाया जाय कि किसीको प्रमाण माननेका प्रयोजक तत्त्व क्या है? क्या अदुष्ट कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण उसे प्रमाण माना जाय या बाधाओंसे रहित होनेसे या प्रवृत्तिमें समर्थ होनेसे या अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होनेसे? प्रथम विकल्प तो युक्त नहीं है, क्योंकि उसके निर्दोष कारणोंका प्रत्यक्षसे ग्रहण सम्भव नहीं है, उन कारणोंमें इन्द्रियकी कुशलता आदि भी है, जिसे अतीन्द्रिय स्वीकार किया गया है। अनुमान भी उन निर्दोष कारणोंको जाननेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उनका अविना-भावी हेतु नहीं है। 'सत्यज्ञान हेतु है' यह कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। ज्ञानकी सत्यता सिद्ध होनेपर उसके निर्दोष कारणोंका निश्चय हो और उनका निश्चय होनेपर ज्ञानकी सत्यता सिद्ध हो।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें दो पक्ष अवतरित होते हैं। प्रथम यह कि क्या कभी, कहीं, किसीके बाधक उत्पन्न न होनेसे ज्ञान प्रमाण होता है अथवा द्वितीय यह कि सब जगह, सब कालमें सभी प्रतिपत्ताओंको बाधकोंकी उत्पत्ति न होनेके कारण ज्ञान प्रमाण सिद्ध होता है? प्रथम पक्षमें ग्रीष्ममें रेतके समूहमें होनेवाला जलका ज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा, क्योंकि दूरवर्ती पुरुषको उस ज्ञानकालमें बाधक उत्पन्न नहीं होते, द्वितीय पक्षमें समस्त देशों, समस्त कालों और समस्त पुरुषोंके बाधकोंका अभाव असर्वज्ञ कैसे जान सकता है, यदि कोई जानता है तो वही सर्वज्ञ हो जायेगा।

तीसरा विकल्प भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसमें इतरेतराश्रय दोष है। कारण कि प्रमाणसे अर्थको उपलब्ध कर उसके लिए होने वाली प्रवृत्ति यदि उस देशमें पहुँचना है और उसकी सामर्थ्य फलसे सम्बन्धित होना है अथवा सजातीय ज्ञानको उत्पन्न करना है, तो स्पष्टतया अन्योन्याश्रय अनिवार्य है। ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होने पर उसके द्वारा अर्थकी प्रतिपत्ति होगी और उसके होनेपर प्रवृत्ति तथा उसकी सामर्थ्य बन सकती है और प्रवृत्तिसामर्थ्यका निश्चय होनेपर उसके द्वारा अर्थज्ञानकी प्रमाणताका निर्णय होगा, अन्य उपाय नहीं है और इस तरह अन्योन्या-श्रय दोष होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौथा विकल्प भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होनेसे ज्ञानको प्रमाण माननेपर प्रश्न होता है कि ज्ञान अर्थ-क्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त है, इसका कैसे निश्चय होता है ? यदि कहा जाय कि प्रतिपत्ताके अर्थक्रियाज्ञानसे उसका निश्चय होता है, तो अर्थ-क्रियाज्ञान प्रमाण है, यह कैसे सिद्ध होता है। यदि कहें कि अन्य अर्थ-क्रियाकी प्राप्तिमें वह निमित्त है तो उसकी भी सिद्धि कैसे है ? यदि पुनः कहें कि दूसरे अर्थक्रियाज्ञानसे उसकी सिद्धि होती है तो अनवस्था क्यों नहीं होगी। अगर यह कहें कि प्रथम ज्ञानसे ही अर्थक्रियाज्ञानमें प्रमाणता आ जाती है तो परस्पराश्रय दोष होता है। अर्थक्रियाज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होनेपर उसके बलसे प्रथम ज्ञानके अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होनेसे प्रमाणताका निश्चय हो और उसकी प्रमाणताके निश्चयसे अर्थक्रियाज्ञानको प्रमाणताकी सिद्धि हो, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अतः प्रमाणतत्त्वपर जब विचार करते हैं तो वह सिद्ध नहीं होता और जब प्रमाणतत्त्व सिद्ध नहीं होगा तब प्रमेयतत्त्वकी भी सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए तत्त्वोपप्लव ही युक्त है ?

समाधान—तत्त्वोपप्लववादियोंका उक्त समस्त कथन केवल प्रलाप (बकवास) है, क्योंकि प्रतिवादीके द्वारा स्वीकृत प्रमाणतत्त्वका निराकरण, जो उन्हें इष्ट है, बिना प्रमाणके सिद्ध नहीं होता। उसे इष्ट न माननेपर साधन नहीं बनता। अर्थात् साध्य जब इष्ट होता है तभी उसे सिद्ध करने के लिए साधन माना जाता है। यदि कहा जाय कि दूसरेसे प्रश्न करना मात्र हमारा प्रयोजन है, क्योंकि 'आचार्य बृहस्पतिके जितने सूत्र हैं वे सब प्रश्नपरक ही हैं' ऐसा कहा गया है, किसी विषयमें स्वतंत्रता नहीं है, तो यह कथन भी निस्सार ही है, क्योंकि ऊपर कहे गये चारों पक्षोंका कहीं निर्णय न होने पर सन्देह सम्भव नहीं है और तब प्रश्न हो ही नहीं सकते। तात्पर्य यह कि प्रश्न तभी होता है जब सन्देह होता है और सन्देह वहाँ होता है जहाँ अनिश्चय होता है, किन्तु उक्त चारों पक्ष (निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होना आदि) कहीं निर्णीत नहीं हैं, तब अन्यत्र उनका अनिश्चय भी नहीं हो सकता।

शंका—प्रतिवादी द्वारा स्वीकृत होनेसे प्रमाणतत्त्व तथा प्रमेयतत्त्वका निश्चय है और इसलिए संशय उत्पन्न होनेसे प्रश्न हो सकता है। वह इस प्रकार है—मीमांसकोंकी अपेक्षा निर्दोषकारणोंसे उत्पन्न होना और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाधा रहित होना दोनों निर्णीत हैं, जैसे निश्चितपना, अपूर्वार्थपना और लोकसम्मतपना ये तीनों उनके यहाँ निर्णीत हैं, वही कहा है—

'जो ज्ञान अपूर्वार्थ है, निश्चित है, बाधारहित है, निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है और लोकसम्मत है वह प्रमाण है।'

नैयायिकोंकी अपेक्षा प्रवृत्तिसामर्थ्य भी निर्णीत है। जैसा कि उनका वचन है कि 'प्रमाणसे अर्थका ज्ञान होता है और अर्थका ज्ञान होनेपर वह प्रवृत्तिमें समर्थ होनेसे सार्थ प्रमाण है।

बौद्धोंकी अपेक्षा अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होना रूप अविसंवादीपना भी निर्णीत ही है। जैसा कि प्रमाणवार्त्तिक (१-३) में धर्मकीर्तिने कहा है—

'अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है। वक्ताके अभिप्रायका प्रकाशन करनेसे शब्द (शास्त्र) में भी अविसंवाद होता है।'

अतः उक्त पक्ष एक-एक जगह निर्णीति होनेसे चार्वाक मतकी अपेक्षा उनमें सन्देह होता है और तब हम चार्वाकोंका प्रश्न उठाना तथा प्रमाणतत्त्व एवं प्रमेयतत्त्वका निराकरण करना दोषावह नहीं।

समाधान—यह सब कथन भी व्यवस्थित नहीं होता, क्योंकि प्रतिवादियोंके स्वीकारको प्रमाणपूर्वक या अप्रमाणपूर्वक माननेपर संशय नहीं हो सकता। इसका खुलासा इस प्रकार हैं—प्रतिवादियोंकी मान्यता यदि प्रमाणपूर्वक है तो उसमें सन्देह कैसे हो सकता है, क्योंकि प्रमाणपूर्वक स्वीकृत वस्तु निर्णीत होती है और निर्णीतमें सन्देह नहीं होता। यदि उनकी मान्यता अप्रमाणपूर्वक है तो भी उसमें सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि वह कहीं, कभी और किसी प्रकार निर्णयपूर्वक ही होता है। उसका निर्णय भी प्रमाणपूर्वक होता है, अप्रमाणपूर्वक नहीं, प्रमाणके अभावमें वह किसी भी तरह नहीं होसकता। इस विषयमें और अधिक कथन अनावश्यक है। सभीके इष्ट तत्त्वकी संसिद्धि है और वह निर्बाध प्रमाणसे है अन्यथा किसीके भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह हम ऊपर कह आये हैं।

जो सर्वथा शून्य, संवेदनाद्वैत, पुरुषाद्वैत अथवा शब्दाद्वैतको मानकर प्रमाण और प्रमेयके भेदका निराकरण करते हैं वे भी उपर्युक्त विवेचनसे निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि अपने स्वीकृत सर्वथा शून्य, संवेदनाद्वैत आदिको कथंचित् इष्ट माननेपर उसकी सिद्धिके लिए प्रमाणकी सिद्धि अत्यन्त आवश्यक है। यदि वे उन्हें इष्ट नहीं मानते तो वे अपने सिद्धांतों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्थापना नहीं कर सकेंगे और तब उनका कथन भी प्रलापमात्र कहा जायेगा और वे परीक्षक नहीं कहे जा सकेंगे। इस प्रकार प्रमाणका निर्णय हो जानेपर प्रमेयकी भी सिद्धि निर्बाध रूपसे हो जाती है।

प्रामाण्य-परीक्षा

शंका—उक्त प्रकारसे प्रमाण सिद्ध हो जानेपर भी उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है या परतः। स्वतः तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सभी जगह, सभी कालों और सभीको उसमें विवाद नहीं होगा। परसे भी उसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अनवस्था आती है, प्रथम प्रमाणके प्रामाण्य-निर्णयके लिए द्वितीय प्रमाण और द्वितीय प्रमाणके प्रमाण्य-निश्चयके लिए तीसरे प्रमाण आदिकी परिकल्पना होनेसे कहीं भी अवस्थिति नहीं होगी। यदि प्रथम प्रमाणसे द्वितीय प्रमाणका प्रामाण्य निश्चय किया जाय तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि प्रथमसे द्वितीय के और द्वितीयसे प्रथमका प्रामाण्य-निश्चय एक-दूसरेके आश्रित है ?

समाधान—उक्त प्रकारका विचार समीचीन नहीं है, क्योंकि अपने परिचित विषयमें प्रामाण्यका निश्चय स्वतः हो जाता है, वहाँ हुए ज्ञानके प्रामाण्यके बारेमें किसी अन्यसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती, वहाँ स्वयं ही प्रमाणात्मक ज्ञान होता है। इसमें प्रमाताको कोई भी विवाद नहीं होता। अन्यथा प्रमाताकी उस पदार्थमें असन्दिग्ध प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा अपरिचित विषयमें प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय परसे होता है। जो पर अर्थात् प्रमाणान्तर है वह परिचित विषय वाला है, उसके प्रामाण्यका निश्चय स्वतः होता है। अतः न अनवस्था दोष आता है और न अन्योन्याश्रय। और यदि प्रमाणान्तर अपरिचित विषय वाला है तो उसके प्रामाण्यका निश्चय ऐसे प्रमाणसे होता है, जो अभ्यस्त विषय वाला होता है और जिसकी प्रमाणता स्वतः सिद्ध होती है। बहुत दूर जाकरके भी कोई अभ्यस्त विषय वाला प्रमाण अवश्य होता है। अन्यथा प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी, जैसे प्रमाण और प्रमाणाभासके अभावकी व्यवस्था उसके बिना नहीं बनती।

शंका—ऐसा क्यों होता है कि किसी विषमें प्रतिपत्ताको अभ्यास और किसी विषयमें अनभ्यास हो ?

समाधान—उस विषयके ज्ञानके प्रतिबन्धक (अवरोधक) अदृष्टविशेष (कर्म) के सद्भावसे अनभ्यास तथा उसके विगम (क्षयोपशम) से अभ्यास होते हैं। जहाँ दृष्टकारणोंमें व्यभिचार देखा जाता है वहाँ अदृष्ट कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध होता है। वह अदृष्ट कारण ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय नामक कर्म हैं, उनके क्षयोपशम (विगम) से किसीको किसी विषयमें कभी अभ्यास (परिचय) ज्ञान और उनके क्षयोपशमके अभावमें अनभ्यास (अपरिचय) ज्ञान होते हैं और इस तरह प्रमाणका प्रामाण्य सुव्यवस्थित होता है, क्योंकि उसमें बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होता है। जैसे अपनी इष्ट वस्तु। सर्वत्र इष्टकी सिद्धि बाधकाभावके सुनिश्चयसे ही होती है। उसके बिना तत्त्वपरीक्षा नहीं हो सकती। अतः यह सिद्ध है कि—

'प्रमाणसे इष्ट तत्त्वकी सम्यक् प्रकारसे सिद्धि (ज्ञप्ति और प्राप्ति) होती है, उसके बिना नहीं। किन्तु उसका प्रामाण्य परिचित विषयमें स्वतः और अपरिचित विषयमें परतः सिद्ध होता है।'

इस प्रकार प्रमाणका लक्षण स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान है, यह परीक्षासे व्यवस्थित होता है ॥१–६४॥

२. प्रमाणसंख्या-परीक्षा

प्रमाणके स्वरूप और उसके प्रामाण्यका विचार करनेके पश्चात् अब उसकी संख्या (भेदों) का विमर्श किया जाता है।

उपर्युक्त प्रमाण संक्षेपमें दो ही प्रकारका है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष, क्योंकि अन्य समस्त प्रमाणोंका इन्हीं दोमें अन्तर्भाव हो जाता है और अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणके एक, दो, तीन आदि भेदोंमें उनका अन्तर्भाव असम्भव है। आगे यही स्पष्ट किया जाता है—

जो (चार्वाक) केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं उनके उस प्रत्यक्षमें अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंका समावेश सम्भव नहीं है, क्योंकि वे उससे बिलकुल भिन्न हैं। यदि कहा जाय कि अनुमान आदि प्रत्यक्षपूर्वक उत्पन्न होते हैं, अतः उसमें उनका अन्तर्भाव हो जाता है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि कोई प्रत्यक्ष भी अनुमानादिपूर्वक उत्पन्न होता है, तब उसका अनुमानादिमें अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। प्रकट है कि जिस प्रकार धर्मी और हेतुके प्रत्यक्ष होनेके बाद अनुमान होता है, शब्दके श्रावण प्रत्यक्ष होनेके पश्चात् शाब्द होता है और सादृश्य, अनन्यथाभाव एवं निषेध्यके आधारभूत पदार्थके प्रत्यक्ष होनेके अनन्तर उपमान, अर्थापत्ति एवं अभाव प्रमाण होते हैं, उसी प्रकार अनुमानसे अग्निका निश्चय करके उसे प्रत्क्षसे जाननेके लिए प्रवृत्त हुए पुरुषको होनेवाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्निका प्रत्क्ष अनुमानपूर्वक होता है, जैसे रूपसे रसका अनुमान कर उसके पानमें प्रवृत्त हुए व्यक्तिको रसका रासनप्रत्क्ष अनुमानपूर्वक होता है। इसी तरह शब्दसे स्वच्छ पेयकी बात सुनकर उसे पीनेपर हुआ रासन-प्रत्यक्ष शाब्दपूर्वक होता है। अर्थापत्तिसे दूधकी सम्पोषण-शक्तिको ज्ञातकर उसमें--दुग्धपानमें प्रवृत्त हुए पुरुषको होनेवाला रासन-प्रत्यक्ष अर्थापत्ति-पूर्वक होता है। गायकी सदृशतासे गवयका ज्ञान (उपमान) करके उसका व्यवहार करनेवाले अर्थात् देखनेवालेको जो गवयका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वह उपमानपूर्वक है। अभावप्रमाणसे घरमें सांपका अभाव जानकर प्रवेश करनेवाले व्यक्तिको जो सांपके अभावका प्रत्यक्ष होता है वह अभाव-पूर्वक स्पष्टतया होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही गौण (अनुमानादिपूर्वक) होनेसे अप्रमाण सिद्ध होता है, अनुमानादिक नहीं, क्योंकि वे अगौण (प्रत्यक्षसे पूर्ववर्ती) हैं। पूर्ववर्ती प्रधान होता है और उत्तरवर्ती गौण। अतः चार्वाकके उपर्युक्त कथनसे उसकी वैसी ही दशा होती है जैसी उस व्यक्तिकी होती है जो कहता तो है कि 'सूखेमें गिरूँगा, पर गिर जाता है कीचड़में'। अर्थात् चार्वाक प्रत्यक्षको अनुमानादिसे पूर्ववर्ती होनेसे प्रमाण सिद्ध करना चाहते थे, किन्तु वह अनुमानादिसे उक्त प्रकार उत्तरवर्ती भी सिद्ध होता है, तब उनकी युक्तिके अनुसार वह अप्रमाण सिद्ध होगा और अनुमानादि प्रमाण।

यदि चार्वाकोंका यह अभिप्राय हो कि अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, उपमान और अभावप्रमाणपूर्वक प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह उनके अभावमें भी नेत्रेन्द्रिय आदि सामग्री मात्रसे उत्पन्न होता हुआ प्रसिद्ध है और उक्त सामग्रीके अभावमें वह नियमसे नहीं होता। अर्थात् नेत्रेन्द्रिय आदि सामग्रीके साथ प्रत्यक्षका अन्वय-व्यतिरेक है, अनुमानादि प्रमाणोंके साथ नहीं ?

उनका यह अभिप्राय सम्यक् नहीं है, क्योंकि उक्त रीतिसे तो अनु-मान आदि प्रमाण भी प्रत्यक्षपूर्वक सिद्ध नहीं हो सकेंगे। लिङ्ग, शब्द, अनन्यथाभाव, सादृश्य, प्रतियोगिस्मरण आदि अपनी-अपनी योग्य सामग्रीके होनेपर ही वे होते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्यक्षके होनेपर भी उनकी लिङ्गादि प्रतिनियत सामग्रीके न होनेपर वे नहीं होते। तात्पर्य यह है कि लिङ्गके साथ अनुमानका, शब्दके साथ शाब्दका, अनन्यथा-भावके साथ अर्थापत्तिका, सादृश्यके साथ उपमानका और प्रतियोगि-स्मरणके साथ अभावका अन्वय-व्यतिरेक है, अर्थात् लिङ्गादिके होनेपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही अनुमानादि होते हैं और उनके न होनेपर वे नहीं होते। अतः उनके प्रत्यक्षपूर्वक होनेकी बात निःसार है। इस विषयमें अधिक कहना व्यर्थ है।

जब चार्वाक प्रत्यक्षको प्रतिनियत सामग्रीसे उत्पन्न होनेके कारण अगौण मानते हैं तो उन्हें अनुमानादिको भी अपनी-अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होनेसे अगौण मानना चाहिए, क्योंकि वे अपने नियत विषयके निश्चय करनेमें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते। और यही (अपनी नियत सामग्रीसे उत्पन्न होना तथा अपने विषयके निर्णय करनेमें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा न करना) प्रमाणभेदका कारण है। प्रकट है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष सीधे अपने और बाह्य पदार्थके निर्णयमें अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार अनुमान अपने विषय अनुमेय (साध्य) के निर्णयमें प्रत्यक्षकी अपेक्षा नहीं करता। केवल धर्मी, हेतु और दृष्टान्तका प्रत्यक्ष ही निश्चय कराता है। इसी तरह शब्द प्रमाण भी शब्द द्वारा कहे जानेवाले पदार्थके निश्चयमें प्रत्यक्ष या अनुमानकी अपेक्षा नहीं करता है। प्रत्यक्ष (श्रावण) केवल शब्दग्रहणमें और अनुमान केवल शब्द तथा अर्थके सम्बन्धकी अनुमितिमें प्रवृत्त होते हैं। अर्थापत्ति भी अपने अनन्यथाभावरूप विषयके निश्चयमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी अपेक्षा नहीं करती। और न ही अभाव तथा उपमानकी वह अपेक्षा करती है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अवगत पदार्थ (पीनत्वादि) के अविनाभावी अदृष्ट पदार्थ (रात्रिभोजनादि) के निश्चयमें अन्यकी अपेक्षा लिये लिये बिना ही प्रवृत्त होती है। (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण तो मात्र अर्थापत्तिके उत्थापक पदार्थ (पीनत्वादि) के निश्चयमें व्यापार करते हैं। उपमान भी प्रत्यक्ष आदिकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वह अपने विषय उपमेयरूप पदार्थके निश्चय करनेमें प्रत्यक्षादिनिरपेक्ष ही प्रवृत्त होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल सादृश्यके ज्ञानमें अधिकृत हैं। इसी प्रकार अभावप्रमाण भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह निषेध्य (घटादि) की आधारभूत वस्तु (भूतलादि) के ग्रहणमें अकेला ही समर्थ है। इस प्रकार अनुमानादिमें प्रत्यक्षकी अपेक्षा नहीं है। यदि परम्परासे उनमें उसकी अपेक्षा कही जाय, तो प्रत्यक्षमें भी उनकी परम्परासे अपेक्षा अपरिहार्य है।

चार्वाकोंसे पुनः प्रश्न है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण है' इसकी व्यवस्था वे प्रमाणसे करते हैं ? यदि कहा जाय कि स्वतः (प्रत्यक्षसे) ही उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था है, तो यह बतायें कि उनका अपना प्रत्यक्ष उसका व्यवस्थापक है या समस्त जनोंका ? प्रथम पक्ष माननेपर समस्त विश्व और समस्त कालोंके पुरुषोंका प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं होगा। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर भी दो विकल्प होते हैं। प्रथम यह कि उन पुरुषोंके वे प्रत्यक्ष आपके प्रत्यक्षसे प्रमाण हैं या उन पुरुषोंको वे स्वत: प्रमाण अनुभवमें आते हैं ? पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य पुरुषोंके वे प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय हैं और वादीके प्रत्यक्षके अविषय हैं, अत: वे आपके प्रत्यक्षसे सिद्ध नही हो सकते। द्वितीय विकल्प भी युक्त नहीं हैं, क्योंकि 'समस्त पुरुषोंके प्रत्यक्ष अपने-अपने विषयमें स्वयं प्रमाणभूत है' इसका साधक कोई प्रमाण नहीं है। यदि है तो वह कौन-सा प्रमाण है ?

'विचारकोटिमें स्थित समस्त देशों और समस्त कालोंमें होनेवाले पुरुषोंके प्रत्यक्ष स्वत: प्रमाण हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष हैं, जो-जो प्रत्यक्ष हैं वह स्वतः प्रमाण हैं, जैसे हमारा प्रत्यक्ष, और प्रत्यक्ष हैं विचारकोटि-में स्थित समस्त देशों तथा समस्त कालोंमें होनेवाले पुरुषोंके प्रत्यक्ष, इस कारण वे प्रमाण हैं' यह अनुमान प्रमाण है, जो समस्त पुरुषोंके प्रत्यक्षोंको प्रमाण सिद्ध करता है।

चार्वाकोंका यह कथन अनुमान प्रमागको सिद्ध करता है, जिसका वे निराकरण करते हैं, क्योंकि 'प्रत्यक्ष हैं' रूप स्वभावहेतुसे 'पुरुषोंके प्रत्यक्ष स्वत: प्रमाणभूत हैं' रूप साध्यकी उन्होंने सिद्धि की है। जैसे शिशपा हेतुसे वनस्पति (पेड़ आदिमें) वृक्षपना सिद्ध किया जाता है।

अगर कहें कि प्रतिपाद्य (शिष्य) को समझानेकी अपेक्षा उक्त प्रकार अनुमानको कहनेमें कोई दोष नहीं है, तो प्रश्न उठता है कि शिष्यमें बुद्धिको ज्ञातकर उक्त अनुमानप्रयोग किया जाता है या ज्ञात न कर ? दूसरा पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि बिना जाने अनुमानप्रयोग करने पर सदैव और सर्वत्र उसके प्रयोगका प्रसंग आयेगा। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर यह बताना होगा कि उसका ज्ञान किससे होता है अर्थात् शिष्यमें बुद्धिको जाननेका क्या उपाय है। आप कहें कि वह बातचीत आदि विशेष कार्य करता है, उससे उसमें बुद्धिका निश्चय हो जायगा, तो 'कार्यसे कारणका अनुमान करना' रूप एक और अनुमान प्रमाण सिद्ध होता है, जैसे धूमसे अग्निका अनुमान किया जाता है।

यदि माने कि हम लोक-व्यवहारकी अपेक्षा अनुमानको स्वीकार करते ही हैं, परलोक आदिके विषयमें अनुमानका निषेध किया है, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परलोक आदिका अभाव है, तो यह मान्यता भी संगत नहीं है, क्योंकि तब प्रश्न होगा कि 'परलोक आदिका अभाव है,' यह आपने कैसे जाना ? प्रत्यक्षसे तो उनका ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षके वे (परलोकादि) विषय नहीं हैं। वर्तमान और इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थको ही प्रत्यक्ष जानता है। परलोक आदि न वर्तमान हैं और न इन्द्रिय-सम्बद्ध।

अगर कहा जाय कि 'परलोक आदि उपलब्ध न होनेसे नहीं हैं, जैसे आकाशका फूल', तो अभावको सिद्ध करनेवाला यह अनुपलब्धि-हेतु जनित एक अन्य अनुमान और सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह चार्वाकोंको परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका अभाव सिद्ध करनेके लिए अनुपलब्धिलक्षण अनुमानको स्वीकार करना अनिवार्य है। यही बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिने कहा है—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तर-सद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥

'किसी ज्ञानमें प्रमाणता और किसी ज्ञानमें अप्रमाणताकी व्यवस्था होनेसे, दूसरे (शिष्यादि) में बुद्धिका अवगम करनेसे और किसी पदार्थका निषेध करनेसे प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान प्रमाणका सद्भाव सिद्ध होता है।' तात्पर्य यह कि हेतु तीन प्रकारका है—१. स्वभाव हेतु, २. कार्य-हेतु और ३. अनुपलब्धि हेतु। इन हेतुओंसे होनेवाली अनुमेयकी सिद्धि अनुमान है। प्रमाणता-अप्रमाणताका निर्णय स्वभावहेतुजनित अनुमान-से, कार्यसे कारणका ज्ञान कार्यहेतुजनित अनुमानसे और अभावका ज्ञान अनुपलब्धिहेतुजनित अनुमानसे किया जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अनुमान प्रमाणको भी मानना चाहिए और उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्षमें असम्भव है।

बौद्धमत-समीक्षा

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि इसीसे हमने दो ही प्रमाण माने हैं—१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान, क्योंकि उनके द्वारा जाना जानेवाला प्रमेय ही दो प्रकारका है। इन दो प्रमाणोंसे घटादि एवं वह्न्यादि पदार्थोंको जान-कर उनमें प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोंको उससे निष्पन्न होनेवाली अर्थक्रिया (जलधारणादि) में कोई विसंवाद (भ्रमादि) नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाणके भेद हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका भी कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आगम, उपमान आदि अन्य प्रमाणोंका उक्त प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा संग्रह नहीं होता और इसका कारण यह है कि उनका इन दोमें अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

यदि बौद्धोंका यह मत हो कि आगम, उपमान आदि प्रमाणोंके द्वारा ग्राह्य अर्थ दो ही प्रकारका होनेसे उनका उक्त दो ही प्रमाणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट है कि अर्थ (पदार्थ) दो ही प्रकारका है—१. प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो साक्षात् रूपमें प्रत्यक्षसे जाना जाता है वह प्रत्यक्ष अर्थ है। और जो परम्परया (लिङ्गादि द्वारा) अनुमेय होनेसे अनुमान-गम्य है वह परोक्ष अर्थ है। परोक्ष अर्थ निश्चय ही साक्षात् जाने गये अन्य पदार्थसे जाना जाता है। और वह अन्य पदार्थ उस परोक्ष अर्थके साथ सम्बद्ध (अविनाभावी) होता हुआ ही उस परोक्ष अर्थको जनवानेमें समर्थ होता है, असम्बद्ध नहीं, अन्यथा गाय आदिसे भी अश्व आदिकी प्रतीति होनेका प्रसंग आयेगा। तथा जो सम्बद्ध अन्य पदार्थ है वह शब्द, सादृश्य, अनन्यथाभाव आदि रूप लिङ्ग ही है और उससे उत्पन्न ज्ञान अनुमान ही है। अतः परोक्ष अर्थको जाननेके लिए अनुमानसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं, शाब्द, उपमान आदि भी उक्त रीतिसे अनुमान ही सिद्ध होते हैं। यदि इन्हें अनुमान न माना जाये तो उनके प्रमाणता न होनेसे उनसे होने वाला पदार्थोंका ज्ञान अप्रमाण ही सिद्ध होगा।

तो उनका उक्त मत परीक्षासह नहीं है, क्योंकि उक्त रीतिसे प्रत्यक्ष भी अनुमान हो जायगा। प्रकट है कि प्रत्यक्ष भी अपने ग्राह्य अर्थके साथ सम्बद्ध होकर ही उसके ज्ञान करानेमें समर्थ है। यदि वह उसके साथ सम्बद्ध न होकर भी उसका ज्ञान करा सकता है तो सभी प्रत्यक्ष सभी पुरुषोंको सभी पदार्थोंका ज्ञान करानेमें भी समर्थ हो जायेंगे, इस अतिप्रसंगका निवारण कैसे होगा। अगर यह कहा जाय कि सम्बद्ध होना प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके ज्ञानोंमें सामान्य होनेपर भी साक्षात् जानने और असाक्षात् जाननेके भेदसे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकृत हैं, तो इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष ये चार प्रत्यक्ष भी पृथक् प्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि उनका भी प्रतिभास भिन्न-भिन्न है। स्पष्ट है कि जैसा अत्यन्त विशद प्रतिभास योगिप्रत्यक्षका है वैसा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका नहीं है। और न स्वसंवेदन तथा मानसप्रत्यक्षका है। इसी प्रकार जैसा अन्तर्मुखाकार विशदतर प्रतिभास स्वसंवेदनप्रत्यक्षका है वैसा इन्द्रियप्रत्यक्षका नहीं है। और जैसा बाह्यमुखाकार विशद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिभास इन्द्रियप्रत्यक्षका है वैसा मानसप्रत्यक्षका नहीं है। इस तरह इन चारों प्रत्यक्षोंमें पृथक्-पृथक् प्रमाणता प्रतिभासभेदके आधारसे क्यों सिद्ध नहीं होगी।

शंका—प्रतिभासभेद होनेपर भी चारों प्रकारका भी प्रत्यक्ष एक ही है, अलग-अलग प्रमाण नहीं हैं ?

समाधान—प्रतिभासभेद होनेपर भी यदि उक्त चारों प्रत्यक्ष एक ही हैं, तो प्रत्यक्ष और अनुमान भी प्रतिभासभेद होनेपर भी अपने-अपने विषयके प्रति सम्बन्ध समान होनेसे पृथक्-पृथक् प्रमाण न हों।

शंका—अपने-अपने विषयके प्रति सम्बन्ध समान होनेपर भी प्रत्यक्ष और अनुमानकी सामग्री भिन्न होनेसे उन्हें पृथक् प्रमाण स्वीकार किया जाता है ?

समाधान—शाब्द, उपमान आदिकी भी सामग्री पृथक्-पृथक् होनेसे उन्हें भी अलग प्रमाण मानना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्यक्ष इन्द्रियादि सामग्रीसे और अनुमान लिङ्गादि सामग्रीसे उत्पन्न होनेसे उनकी भिन्न सामग्री मानी जाती है उसी प्रकार आगम शब्दसामग्रीसे, उपमान सादृश्यसामग्रीसे, अर्थापत्ति परोक्ष अर्थके अविनाभावी अर्थरूप सामग्रीसे और अभाव प्रतिषेध्यकी आधारभूत वस्तुके ग्रहण तथा प्रतिषेध्यके स्मरण-रूप सामग्रीसे पैदा होनेसे आगम आदिकी भी सामग्री भिन्न-भिन्न है। इसी तरह इन्द्रियप्रत्यक्ष आदि चारों प्रत्यक्षोंकी भी भिन्न-भिन्न सामग्री प्रसिद्ध है। किन्तु चारों प्रत्यक्षोंका विषय साक्षात् अर्थ होनेसे उनमें अर्थ-भेद नहीं माना जाता। उसी प्रकार लिङ्ग, शब्दादि सामग्रीका भेद होने-से अनुमान, आगम आदिमें परोक्ष अर्थको समान रूपसे विषय करने पर भी भेद प्रसिद्ध है, अनुमानमें उनका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

तर्कप्रमाण-विमर्श

तथा तर्क भी पृथक् प्रमाण है। साध्य और साधनमें विद्यमान सम्बन्धरूप व्याप्तिका ज्ञान करनेमें प्रत्यक्ष समर्थ नहीं है, क्योंकि वह 'जितना कोई धूम है वह सब अन्य काल और अन्य देशमें अग्निजन्य है, अग्निके अभावमें उत्पन्न नहीं होता' इस प्रकारका व्यापार करनेमें अस-मर्थ है। दूसरी बात यह है कि वह सन्निहित (वर्तमान और इन्द्रिय-सम्बद्ध) अर्थको ही विषय करता है। तीसरे, वह निर्विकल्पक है।

यदि कहा जाय कि योगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिका ज्ञान करनेमें समर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि देशयोगिप्रत्यक्ष

५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त व्याप्तिको जानता है या सकलयोगिप्रत्यक्ष ? दोनों ही विकल्पोंमें अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि देशयोगिप्रत्यक्ष और सकलयोगि-प्रत्यक्षसे सभी साध्यों और साधनोंका साक्षात्कार हो जाने पर अनुमान-की सार्थकता नहीं रहती।

यदि कहें कि दूसरोंके लिए अनुमान सार्थक है। अर्थात् जो अल्पज्ञ हैं उन्हें अनुमान आवश्यक है, तो यह कथन भी सम्यंक् नहीं है, क्योंकि परार्थानुमान स्वार्थानुमानपूर्वक होता है। जिसे स्वार्थानुमान होता है उसे ही परार्थानुमान होता है और योगिके स्वार्थानुमान होता नहीं है, तब स्वार्थानुमानके अभावमें उसे परार्थानुमान कैसे हो सकता है।

यदि माना जाय कि सकलयोगी परका अनुग्रह करनेके लिए प्रवृत्ति करता है और परका अनुग्रह शब्दप्रयोगरूप परार्थानुमानके बिना हो नहीं सकता, अतः योगीके परार्थानुमान सिद्ध होता है और परार्थानुमान बिना स्वार्थानुमानके हो नहीं सकता, इसलिए परको उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त योगीके स्वार्थानुमान भी सिद्ध ही है, यह मान्यता भी संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। वह योगी स्वार्थानुमानसे जब चार आर्यसत्योंका निश्चयकर परार्थानुमानसे परके लिए उनका प्रतिपादन करता है, तो परने साध्य-साधनकी व्याप्ति ग्रहण की है या नहीं ? यदि की है, तो यह बताना आवश्यक है कि उसने किससे व्याप्ति ग्रहण की है ? इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष इन तीन प्रत्यक्षोंसे उसका ग्रहण असम्भव है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। अर्थात् समस्त देशों और समस्त कालोंके साध्य-साधनोंमें रहनेवाली व्याप्ति उन नियत देश और नियत काल विषयक प्रत्यक्षोंसे गृहीत नहीं हो सकती। अगर कहें कि योगिप्रत्यक्षसे वह व्याप्तिका ग्रहण करता है, क्योंकि वह भी एकदेशयोगी है, तो यह कथन युक्त नहीं है, कारण कि देशयोगीको जितने साध्य-साधनोंका योगिप्रत्यक्ष होगा, उतने साध्य-साधनोंमें उसके लिए अनुमान व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि जब योगि-प्रत्यक्षसे ही साध्य-साधनोंका ज्ञान हो जायेगा, तो परके लिए न व्याप्ति-ग्रहणकी आवश्यकता रहेगी और न अनुमानकी। यदि स्पष्ट ज्ञात पदार्थों-में भी अनुमान स्वीकार किया जाय, तो सकलयोगीको भी सभी स्पष्ट ज्ञात पदार्थोंमें अनुमानका प्रसंग आयेगा। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि संशयादिके निराकरणके लिए उनमें अनुमान हो सकता है, क्योंकि योगिप्रत्यक्षसे अवगत पदार्थोंमें संशयादि नहीं होते, जैसे सुगतके प्रत्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा ज्ञात पदार्थोंमें संशयादि नहीं होते। अतः जिसने व्याप्ति ग्रहण की है उसे सकलयोगी उपदेश देता है, यह प्रथम विकल्प सिद्ध नहीं होता। दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिसने व्याप्ति ग्रहण नहीं की, उसके लिए अनुमान नहीं होता, अन्यथा जिस किसीके लिए भी अनुमानका प्रसंग आयेगा। इस प्रकार योगीके उपदेश असम्भव है और उसके अभावमें परार्थानुमान भी सम्भव नहीं है तथा परार्थानुमानके अभावमें स्वार्थानुमान भी उसके नहीं बन सकता है। और उसके न बनने पर सकलयोगिप्रत्यक्षके द्वारा व्याप्तिके ग्रहणकी बात युक्तिसे सिद्ध नहीं होती। तात्पर्य यह कि सकल देश और सकल कालवर्ती साध्य-साधनोंमें व्याप्तिका निश्चय प्रत्यक्षसे नहीं हो सकता।

शङ्का—प्रत्यक्ष (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) से साध्य-साधनों की व्याप्तिका निश्चय सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जब प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ग्रहण उक्त प्रकारसे निराकृत हो जाता है तो प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे भी व्याप्तिका निर्णय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष है ही, अनुपलम्भ भी प्रत्यक्षका ही एक लक्षण है।

शङ्का—कारणानुपलम्भसे कार्यकारणभाव और व्यापकानुपलम्भसे व्याप्य-व्यापकभाव, जो दोनों ही व्याप्तिरूप हैं, अशेषरूपसे अवगत हो जाते हैं तथा कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ दोनों अनुमान हैं, अतः अनुमानसे साध्य और साधनगत व्याप्तिका निश्चय हो जायेगा। वह इस प्रकार है—'जितना कोई धूम है वह सब अग्निजन्य है, तालाब आदिमें अग्निके अनुपलम्भसे धूमका भी अभाव पाया जाता है', यह कारणानुपलम्भानुमान है। 'जितनी शिंशपाएँ हैं वे सब वृक्ष हैं, वृक्षके अभावमें शिंशपाका भी अभाव देखा जाता है', इस प्रकार यह व्यापकानुपलम्भ हेतु है। इस तरह साध्य और साधनमें रहनेवाली व्याप्तिका ज्ञान अनुमानसे सिद्ध है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनुमानसे व्याप्तिका ज्ञान मानने पर अनवस्थादोष आता है। कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ दोनों साधनोंकी अपने साध्योंके साथ रहनेवाली व्याप्तिका निश्चय पूर्वोक्त दोष आनेके कारण प्रत्यक्षसे तो सम्भव नहीं है। और अन्य अनुमानसे उसका निश्चय स्वीकार करने पर निश्चय ही अनवस्था आयेगी। तात्पर्य यह है कि व्याप्तिज्ञानपूर्वक अनुमान होता है और जिस अनुमानसे प्रकृत अनुमान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की व्याप्तिका ज्ञान माना जायेगा, उस अनुमानगत व्याप्तिका ज्ञान करनेके लिए अन्य अनुमान स्वीकार करना पड़ेगा और इस तरह कहीं भी विराम न मिलनेपर प्रकृत अनुमानका उदय ही नहीं हो सकेगा।

शङ्का—प्रत्यक्ष और अनुपलम्भके पश्चात् उत्पन्न एवं अप्रमाणभूत विकल्पके द्वारा साध्य और साधनकी व्याप्तिका ज्ञान सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यदि अप्रमाणभूत विकल्पसे व्याप्तिका निश्चय स्वीकार किया जाय, तो प्रत्यक्ष और अनुमानको प्रमाण माननेकी क्या जरूरत है, मिथ्याज्ञानसे ही प्रत्यक्ष अर्थ और अनुमेय अर्थका निश्चय हो जायेगा, जैसे व्याप्तिका निश्चय अप्रमाणभूत विकल्पसे माना जाता है। अतः जिसप्रकार प्रत्यक्षको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए अनुमानका मानना आवश्यक है, उसके बिना उसकी प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती, उसी प्रकार साध्य और साधनकी व्याप्तिके ज्ञानको प्रमाण माने बिना अनुमानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, अतः उसे (व्याप्तिज्ञानको) भी प्रमाण मानना जरूरी है और वह 'ऊहा' नामक विसंवादरहित उक्त दोनों प्रमाणोंसे अतिरिक्त प्रमाण सिद्ध है। अतएव जो (बौद्ध) कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं' उनकी वह प्रमाणसंख्या विघटित हो जाती है।

वैशेषिकमत-समीक्षा और तर्कप्रमाणसिद्धि

इस विवेचनसे वैशेषिकोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंकी मान्यता भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि व्याप्तिके निश्चयके लिए उन्हें भी 'ऊहा' प्रमाण मानना आवश्यक है।

शङ्का—साध्यसामान्य और साधनसामान्यका किसी व्यक्तिविशेष—महानस (रसोईघर) आदिमें प्रत्यक्षसे ही सम्बन्ध (व्याप्ति–अविनाभाव) अवगत हो जाता है, अतः उसके ज्ञानके लिए पृथक् प्रमाण आवश्यक नहीं है। 'जितना कोई धूम है वह सभी अग्निजन्य है, बिना अग्निके वह उत्पन्न नहीं होता' इस प्रकारका ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान व्याप्तिग्राहक है, जो अलग प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह सम्बन्ध (व्याप्ति) को ग्रहण करनेवाला विकल्पज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणका फल है। जैसे 'सूर्यमें गमनशक्ति है, क्योंकि वह गतिवाला है तथा सूर्य गतिवाला है क्योंकि एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उसकी प्राप्ति है' इस अनुमितानुमानमें साध्य और साधनके सम्बन्धज्ञानका कारण अनुमानफल दूसरा अनुमान है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हम वैशेषिकोंके सिद्ध होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान— उक्त कथन भी निःसार है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्षसे भी समस्त साध्यों और साधनोंके सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण सम्भव नहीं है। प्रश्न है कि साध्य क्या अग्निसामान्य है या अग्निविशेष या अग्नि-सामान्यविशेष ? अग्निसामान्य तो साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सिद्धसाधन है—अग्नि सामान्यमें विवाद न होनेसे उसे सिद्ध करना सिद्धको सिद्ध करना है, जो व्यर्थ है। अग्निविशेष (पर्वतीय अग्नि, चत्वरीय अग्नि आदि विशेष अग्नि) भी साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय नहीं बनेगा। 'जहाँ धूम होता है वहाँ पर्वतीय वह्नि होती है' इस प्रकारके अन्वय प्रदर्शनका कोई स्थल नहीं है, जहाँ दोनों पाये जायें। अग्निसामान्यविशेषको साध्य बनाने पर उसके साथ धूमका सम्बन्ध (अविनाभाव), जो समस्त देश और समस्त कालवर्ती है, प्रत्यक्षसे कैसे जाना जा सकता है। तथा उसका ज्ञान न होने पर 'जहाँ-जहाँ, जब-जब धूम उपलब्ध होता है वहाँ-वहाँ तब-तब अग्निसामान्यविशेष उपलब्ध होता है' इस प्रकारके सम्बन्ध पूर्वक होने वाले अनुमानका उदय नहीं हो सकता। और यह सम्भव नहीं कि सम्बन्धका ग्रहण अन्य प्रकारसे हो और अनुमानकी उत्पत्ति अन्य प्रकारसे, क्योंकि उसमें अतिप्रसङ्ग आवेगा। अतः सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्राही जो ज्ञान है वह एक स्वतंत्र प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानसे सम्बन्धका ज्ञान नहीं हो सकता।

ऊपर जो यह कहा गया है कि 'ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान प्रत्यक्षका फल है, वह प्रमाण नहीं है, फल तो प्रमाणसे भिन्न होता है', वह ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष्यज्ञान भी विशेषणज्ञानका फल होनेसे प्रमाण नहीं हो सकेगा। हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फलको उत्पन्न करनेसे विशेष्यज्ञानको प्रमाण स्वीकार करने पर ऊहापोहविकल्पज्ञानको भी हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फलको उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें भेद नहीं है।

शङ्का—ऊहा प्रमाणके विषयका परिशोधक है, प्रमाण नहीं है ?

समाधान—यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो प्रमाणके विषय-का परिशोधक होगा वह अप्रमाण नहीं हो सकता—अप्रमाणसे प्रमाणके विषयका परिशोधन सम्भव नहीं है। अतः हम कहेंगे कि 'तर्क प्रमाण है, क्योंकि वह प्रमाणके विषयका परिशोधक है। जो प्रमाण नहीं वह प्रमाण-के विषयका परिशोधक नहीं देखा गया, जैसे प्रमेयरूप अर्थ। और प्रमाणके विषयका परिशोधक है तर्क, इस कारण वह प्रमाण है', इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलव्यतिरेकी अनुमानसे, जो अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणरूप है, तर्कमें प्रमाणता सिद्ध होती है। अतः वैशेषिकोंकी भी दो (प्रत्यक्ष और अनुमान) प्रमाणोंकी मान्यता सिद्ध नहीं होती।

सांख्यादिमत-समीक्षा

इसी प्रकार तीन, चार, पाँच और छह प्रमाण माननेवालोंकी प्रमाण-संख्याका भी नियम सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंको स्वीकार करनेवाले सांख्योंके आगमप्रमाणसे भी प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह साध्य और साधनके सम्बन्धका निश्चय न हो सकनेसे उसका निश्चय करनेवाले तर्कको उन्हें प्रमाण मानना पड़ता है। नैयायिकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी तरह उपमानसे भी लिङ्ग और लिङ्गी (साधन और साध्य) के सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण सम्भव न होनेसे उसके ग्रहणके लिए उन्हें भी तर्क प्रमाणको स्वीकार करना अनिवार्य है। तथा प्राभाकरोंके प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमानकी तरह अर्थापत्तिसे साधन-साध्यके सम्बन्धका निश्चय सम्भव न होनेसे उसके निश्चयके लिए उन्हें भी तर्कप्रमाण मानना आवश्यक है। जो भाट्टमीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं, उनके प्रत्यक्ष आदिकी तरह अभाव प्रमाणसे भी व्याप्तिका निर्णय न हो सकनेसे उन्हें भी उसके निर्णयार्थ ऊहा प्रमाणको स्वीकार करना अपरिहार्य है।

शङ्का—ऊहा अपने विषय (साध्य-साधनसम्बन्ध) के साथ सम्बद्ध होकर सम्बन्धका ज्ञान कराता है या असम्बद्ध होकर ही? यदि असम्बद्ध होकर ही वह सम्बन्धका ज्ञान कराता है, तो अनुमान भी बिना व्याप्ति-सम्बन्धके ही अनुमेयका ज्ञान करा देगा। यदि सम्बद्ध होकर वह सम्बन्धका निश्चय कराता है, तो प्रश्न होता है कि उस सम्बन्धका ज्ञान किससे होता है। प्रत्यक्षसे तो सम्भव नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्षका विषय नहीं है। अनुमानसे भी उसके सम्बन्धका निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि अनवस्थाका प्रसङ्ग आयेगा। यदि अन्य ऊहासे उस सम्बन्धका निश्चय माना जाय, तो वह ऊहा भी अपने विषयके साथ सम्बद्ध होकर ही सम्बन्धका निश्चय करायेगा और उस सम्बन्धका ज्ञान अन्य ऊहापूर्वक होनेसे अनवस्था आयेगी। अर्थात् एक दूसरे पृथक् ऊहा प्रमाणसे सम्बन्धका निश्चय माननेपर वही प्रश्न होगा और अन्य-अन्य प्रमाणोंकी परिकल्पना होनेसे प्रमाणकी नियत संख्या कहीं (जैनदर्शनमें) भी सिद्ध न हो सकेगी?

समाधान—नहीं, क्योंकि उक्त प्रकारकी आपत्ति प्रत्यक्षप्रमाणपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी उठायी जा सकती है। अर्थात् प्रत्यक्ष अपने विषयका निश्चय उससे सम्बद्ध होकर कराता है या असम्बद्ध होकर? द्वितीय पक्षमें पूर्ववत् अतिप्रसंग दोष आता है। प्रथम पक्षमें यह बताना आवश्यक है कि उसके सम्बन्धका ज्ञान किससे होता है? अनुमान आदिसे तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। दूसरे प्रत्यक्षसे उसका ज्ञान माननेपर वही प्रश्न उठनेसे अनवस्था आये बिना न रहेगी और उस हालतमें प्रत्यक्ष प्रमाणको भी स्वीकार करना अशक्य हो जायेगा।

शङ्का—प्रत्यक्षमें अपने विषयके सम्बन्धज्ञानके निमित्तसे प्रमाणता नहीं है, अपितु अपनी योग्यताके बलसे ही वह अपने विषयमें प्रमाण है। यदि ऐसा न हो, तो किसी विषयमें वह अपूर्वार्थग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकेगा?

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार ऊहा भी अपनी योग्यताके सामर्थ्यसे ही अपने विषयका निश्चय कराता है, उसके लिए अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। अतः ऊपर उद्भावित दूषण निरर्थक है। वह योग्यताविशेष अपने विषयके आवारक ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषरूप है और वह जिस प्रकार प्रत्यक्षमें है उसी प्रकार ऊहामें भी स्वीकार किया गया है, उसके सद्भावमें कोई बाधक नहीं है। तथा जिस प्रकार प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें मन, इन्द्रिय आदि सामग्री, योग्यताकी सहायक है, क्योंकि वह बाह्यनिमित्त है, उसी प्रकार ऊहाज्ञानकी भी उत्पत्तिमें भूयःप्रत्यक्ष (धूम और अग्निका एक साथ अनेक बार दर्शन) और अनुपलम्भ (अग्नि और धूमका अदर्शन) आदि सामग्री योग्यताकी सहकारिणी है, क्योंकि वह बहिरंगनिमित्त है। उसके होनेपर ऊहाज्ञान होता है और उसके अभावमें वह नहीं होता। तात्पर्य यह कि ऊहा अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक होता है। होनेपर होना अन्वय है और न होनेपर न होना व्यतिरेक है। जैसे अग्निके होनेपर ही धुआँ होता है, यह अन्वय है और अग्निके अभावमें धुआँ नहीं होता, यह व्यतिरेक है। इन अन्वय और व्यतिरेक पुरस्सर व्याप्तिके निश्चयके लिए ऊहा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। और जब तक व्याप्तिका निश्चय नहीं होगा, तबतक अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होगा। अतः कहना होगा कि 'तर्क प्रमाण है, अन्यथा अनुमानप्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता।' इस प्रकार तर्क अपर नाम ऊहा प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यभिज्ञानप्रमाण-विमर्श

प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है, क्योंकि उसे न माननेपर तर्क प्रमाण नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि जिस विषयमें प्रत्यभिज्ञान नहीं होता उसमें तर्क प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती, अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा। अर्थात् बिना प्रत्यभिज्ञानके भी तर्क प्रमाण प्रवृत्त होगा।

शङ्का—प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह ग्रहण किये पदार्थको ही ग्रहण करता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानसे ग्रहण होनेवाला पदार्थ स्मृति और प्रत्यक्षकी विषयभूत अतीत एवं वर्तमान पर्यायोंमें व्याप्त एकद्रव्य है, जो न स्मरणका विषय है और न प्रत्यक्षका। अतएव वह अपूर्वार्थ-ग्राही है। इसका न प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान पर्यायमात्रको विषय करता है। और न अनुमानमें उसका अन्त-र्भाव सम्भव है, क्योंकि उसमें लिङ्ग (साधन) की अपेक्षा नहीं होती। शाब्द प्रमाणमें भी उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह शब्दकी अपेक्षा नहीं करता। उपमानमें भी उसका समावेश नहीं होता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान सादृश्यज्ञानके बिना भी होता है। अर्थापत्तिमें भी उसे अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि छह प्रमाणोंसे ज्ञात पदार्थके ज्ञानके बिना भी उत्पन्न होता है। तथा अभाव प्रमाणमें भी उसका अनुप्रवेश शक्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान निषेध्य (घटादि) की आधार वस्तु (भूतलादि) के ग्रहण और निषेध्यके स्मरणके बिना ही होता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाणको सभी दार्शनिकोंको मानना अनिवार्य है, जो उनकी एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह प्रमाणोंकी संख्याके नियमका विघटन करता है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षादिसे अति-रिक्त प्रत्यभिज्ञान पृथक् प्रमाण है।

स्मृतिप्रमाण-विमर्श

स्मृतिको भी पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है, क्योंकि उसका भी प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। और यह कहा नहीं जा सकता कि वह अप्रमाण है, क्योंकि उसमें किसी प्रकारका विसं-वाद नहीं है—वह भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राही एवं बाधक रहित है, जैसे अनुमान आदि। जो स्मरणको अप्रमाण मानते हैं उनके यहाँ पूर्व ज्ञात साध्य-साधन सम्बन्ध और वाच्य-वाचक सम्बन्धकी अप्रमाणभूत स्मरणसे व्यवस्था न होनेसे न अनमान प्रमाण सिद्ध हो सकेगा और न शाब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण। और जब अनुमान तथा आगम प्रमाण सिद्ध न होंगे, तब उनसे सिद्ध संवाद और असंवादसे प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षाभासकी भी व्यवस्था नहीं होगी। फलतः सभी प्रमाणोंका विलोप हो जायगा। अतएव जो प्रमाण-व्यवस्था स्वीकार करते हैं उन्हें स्मृतिको भी प्रमाण स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार स्मृति भी अलग प्रमाण सिद्ध होनेसे अन्य दार्शनिकोंकी स्वीकृत प्रमाण-संख्याका नियम सिद्ध नहीं होता। परन्तु स्याद्वादियों द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रमाणोंकी संख्याका नियम (दो ही प्रमाण हैं, तीन आदि नहीं) निश्चयतः सिद्ध होता है, क्योंकि उनमें परोक्ष ऐसा व्यापक प्रमाणभेद है, जिसमें पर-सापेक्ष होनेवाले तर्क, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति जैसे सभी प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है। अतः 'प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही संक्षेपमें प्रमाणके भेद हैं' यह जो प्रकरणके आरम्भमें कहा गया था वह सर्वथा युक्त है।

प्रत्यक्ष-विमर्श

परोक्ष प्रमाणका विमर्श करनेके उपरान्त अब प्रत्यक्षका विमर्श किया जाता है।

सर्व प्रथम प्रत्यक्षके सद्भावको सिद्ध किया जाता है। उसका सद्भाव अनुमानसे सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—प्रत्यक्ष विशद-ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। जो विशदज्ञानस्वरूप नहीं है वह प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे अनुमान आदि ज्ञान। और प्रत्यक्ष विचार-कोटिमें स्थित ज्ञान है, इसलिए वह विशदज्ञानस्वरूप है। तात्पर्य यह कि जो ज्ञान विशद (स्पष्ट) होता है उसीका नाम प्रत्यक्ष है। उक्त अनुमान प्रयोगमें दत्त धर्मी, जो 'प्रत्यक्ष' है, अप्रसिद्ध नहीं है क्योंकि उसके विषयमें चार्वाक आदि सभी प्रमाणवादियोंको अविवाद है—सभी उसे स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि जो एकमात्र शून्याद्वैत, संवेदनाद्वैत, पुरुषाद्वैत आदिको स्वीकार करते हैं वे भी स्वरूप-प्रतिभासरूप प्रत्यक्षको मानते हैं। हेतु भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षको स्वीकार करनेवाले प्रत्यक्षके धर्म प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्षपना) को स्वयं स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह कि उक्त अनुमानमें प्रयुक्त 'क्योंकि वह प्रत्यक्ष है' हेतु सिद्ध है और सिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि अवश्य होती है।

शङ्का—यतः प्रतिज्ञा असिद्ध होती है, अतः उसके एक देशको—प्रत्यक्षपना धर्मको हेतु बनानेसे उपर्युक्त हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है और असिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यह बतायें कि प्रतिज्ञा क्या है और उसका एकदेश क्या है ? यदि कहें कि धर्म और धर्मीके समुदायका नाम प्रतिज्ञा है और उसका एकदेश धर्मी है। जैसे 'शब्द नाशशील है क्योंकि वह शब्द है।' इसी प्रकार प्रतिज्ञाका एक साध्यरूप धर्म है। जैसे 'शब्द विनश्वर है, क्योंकि वह नाश होता है।' क्या ये दोनों ही प्रकारके हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हैं ? यदि हाँ, तो यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि धर्मी असिद्ध नहीं होता—वह सिद्ध होता है और उसे हेतु बनानेपर वह असिद्ध कैसे कहा जा सकता है अर्थात् नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि पक्षके प्रयोगके समय धर्मी वादी और प्रतिवादी दोनोंके लिए सिद्ध होता है उसी प्रकार उसे हेतु कहनेपर भी वह सिद्ध ही होता है। किन्तु साध्यरूप धर्मको हेतु बनानेपर वह प्रतिज्ञार्थका एकदेश होनेसे असिद्ध नहीं कहा जायेगा। अन्यथा प्रतिज्ञार्थका एकदेश होनेसे धर्मी भी असिद्ध कहा जायेगा। यथार्थमें वह (साध्यरूप धर्म) तो स्वरूपसे ही असिद्ध होता है। अतः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नामका कोई हेत्वाभास सम्भव नहीं है। अतएव उपर्युक्त हेतु (क्योंकि वह प्रत्यक्ष है) को प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध कहनेवाला अनुमान-स्वरूपका ज्ञाता कैसे कहा जा सकता है। अर्थात् उक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि धर्मीको हेतु बनाया गया है और धर्मी सिद्ध होता है।

शंका—धर्मीको हेतु बनानेपर अनन्वय दोष प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, विशेषको धर्मी और सामान्यको हेतु कहनेपर उक्त दोष नहीं आता। प्रकट है प्रत्यक्षविशेष (प्रत्यक्षव्यक्ति) को धर्मी और प्रत्यक्षत्वसामान्य (प्रत्यक्षव्यक्तियोंमें व्यापक धर्म) को हेतु बनाया है, तब अनन्वय दोष कैसे हो सकता है; क्योंकि वह सभी प्रत्यक्षव्यक्तियोंमें व्याप्त रहता है।

शंका—कदाचित् वह किसी दृष्टान्तमें न रहे, तब तो अनन्वय दोष होगा ?

समाधान—नहीं, इस तरह तो 'सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, क्योंकि वे सत् है' इत्यादि अनुमानोंमें भी हेतु अनन्वयी प्राप्त होता है, क्योंकि कोई सपक्ष नहीं है।

शंका—उपर्युक्त हेतु दृष्टान्तमें अनन्वयी होनेपर भी पक्षमें पूरे तौरसे अन्वयी सिद्ध है। इसके अतिरिक्त विपक्षमें उसके रहनेकी रंचमात्र भी सम्भावना नहीं है, अतएव 'सत्त्व' हेतु निर्दोष माना है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान—यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो 'प्रत्यक्षत्व' हेतु भी निर्दोष माना जायगा और हेतुको अन्वयी होना अनावश्यक कहा जायगा, क्योंकि दोनोंमें कोई फरक नहीं है। दोनोंकी स्थिति एक-सी है। वास्तवमें अनन्वय कोई दोष नहीं है, हेतुको अपने साध्यके साथ व्याप्त (अविनाभावी) होना ही आवश्यक है। यही कारण है कि केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें भी अविनाभावमात्रके निश्चयसे साध्यको सिद्ध करनेकी सामर्थ्य मानी गयी है। अतः अनन्वय नामका कोई दोष नहीं है। अतएव 'प्रत्यक्षत्व' हेतु निर्दोष है और वह अपने साध्य विशदज्ञानपनाको प्रत्यक्ष (पक्ष) में सिद्ध करता है।

यह विशदज्ञानपनारूप साध्य असम्भव भी नहीं है, क्योंकि आत्माको लेकर उत्पन्न हुए ज्ञानमें, जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता है और पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है, सम्पूर्णतया अथवा एकांशसे विशदता रहती है, उसके रहनेमें कोई बाधा नहीं है। तात्पर्य यह कि आत्ममात्रकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न हुआ सकलप्रत्यक्ष (केवलज्ञान) और विकलप्रत्यक्ष (अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान) ये सभी ज्ञान विशद होते हैं। अतः यह कहा ही नहीं जा सकता कि विशदज्ञान होता ही नहीं। उसकी सयुक्तिक सिद्धि आगे विस्तारपूर्वक की गयी है। प्रत्यक्षशब्दकी जो व्युत्पत्ति है उससे भी प्रत्यक्षज्ञान विशदात्मक सिद्ध है। 'प्रत्यक्ष' पदमें दो शब्द हैं—एक प्रति और दूसरा अक्ष। 'अक्ष' का अर्थ अक्षण—व्यापन—जानन करनेसे आत्मा है और उस ही क्षीणावरण अथवा क्षीणोपशान्तावरण आत्माको लेकर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्षशब्दका वाच्य है, तब ऐसे ज्ञानमें विशदताकी असम्भवता कैसे कही जा सकती है। अतः ठीक ही कहा गया है कि जो ज्ञान विशद है वह प्रत्यक्ष है।

अब प्रत्यक्षके भेदोंका कथन किया जाता है।

उक्त प्रत्यक्ष तीन प्रकारका है—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और ३. अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। इनमें इन्द्रियप्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योंकि वह एकदेश ही विशद होता है, पूर्णतया नहीं। इन्द्रियप्रत्यक्षकी तरह अनिन्द्रियप्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है, क्योंकि वह भी उसी तरह एकदेश ही विशद होता है। अन्तर इतना ही है कि अनिन्द्रियप्रत्यक्ष अन्तर्मुखाकाररूपसे होता है और इन्द्रियप्रत्यक्ष बहिर्मुखाकाररूपसे। अतीन्द्रियप्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. विकलप्रत्यक्ष और २. सकलप्रत्यक्ष। विकलप्रत्यक्ष भी दो तरह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का है—१. अवधिज्ञान और २. मनःपर्ययज्ञान। सकलप्रत्यक्ष केवल एक ही प्रकारका है और वह है केवलज्ञान। ये तीनों प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इन तीनोंमें ही न मनकी और न इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है। इसके अलावा ये तीनों व्यभिचाररहित होते हैं—मिथ्या (संशयादिरूप) नहीं होते। इसके अतिरिक्त साकार वस्तु ग्राही (सविकल्पक) होते हैं और अपने विषयों (ज्ञातव्य पदार्थों—मूर्त्तिक-अमूर्तिकों) में पूर्णतया विशद-(स्पष्ट) होते हैं। यही तत्त्वार्थवार्तिककार अकलङ्कदेवने कहा है—

'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्'

—त० वा० १-१२।

'जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनकी सहायतासे उत्पन्न नहीं होता, निर्दोष है और साकार वस्तु ग्राही है वह प्रत्यक्ष है।'

आगे उक्त वार्त्तिकके पदोंकी सार्थकता दिखाते हुए कहा गया है कि **'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्'**—'इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे रहित' इस पदसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्षकी, जो इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है तथा एकांशसे विशद होता है, व्यावृत्ति की है। **'अतीतव्यभिचारम्'**—'व्यभिचाररहित' पदसे विभंगज्ञानकी, जो अवधि-प्रत्यक्षाभास है, निवृत्ति की है और **'साकारग्रहणम्'**—'साकार वस्तु ग्राही' विशेषणसे निराकार ग्रहणका, जिसे दर्शन कहा है, व्यवच्छेद किया है और इस तरह वार्त्तिकगत तीनों विशेषण सार्थक हैं। अतः जो मुख्यप्रत्यक्ष तीन प्रकारका कहा है वह ठीक है।—२-९२।

शंका—स्वसंवेदन नामका एक चौथा भी प्रत्यक्ष है, उसे भी कहना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वह सभी ज्ञानोंका सामान्य स्वरूप है। इन्द्रियप्रत्यक्षका स्वरूपसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्ष ही है, अन्यथा वह अपना और पर (बाह्य) का संवेदन नहीं कर सकेगा। दूसरे, उसमें दो संवेदन मानना पड़ेंगे। एक स्वको जाननेवाला और दूसरा बाह्यको। अनिन्द्रिय-प्रत्यक्षका, जिसे मानसप्रत्यक्ष कहा जाता है और जो सुखादिज्ञानरूप है, स्वरूपसंवेदन भी उक्त प्रकारसे अनिन्द्रियप्रत्यक्ष ही है, वह उससे पृथक् नहीं है। इसी तरह तीनों अतीन्द्रियप्रत्यक्षोंका स्वरूपसंवेदन भी तीनों अतीन्द्रियप्रत्यक्षरूप ही है, उनसे जुदा नहीं। अतः स्वरूपसंवेदन नामका चौथा कोई प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता। इस विवेचनसे श्रुतज्ञानका स्वरूप-संवेदन अनिन्द्रियप्रत्यक्ष जानना चाहिए, क्योंकि वह (श्रुतज्ञान) अनिन्द्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(मन) पूर्वक होता है। भ्रमात्मक ज्ञानोंका स्वरूपसंवेदन भी भ्रमात्मक-ज्ञानस्वरूप है, यह भी समझ लेना चाहिए। अतएव सारे ज्ञान स्वरूप-संवेदनकी अपेक्षा प्रमाण हैं, बाह्य प्रमेयकी अपेक्षासे ही वे प्रमाण और प्रमाणाभास कहे जाते हैं। स्वरूपको जाननेकी अपेक्षासे कोई ज्ञान प्रमाणा-भास नहीं है[1]।—२-९३।

१. इन्द्रियप्रत्यक्ष तथा २. अनिन्द्रियप्रत्यक्ष-विमर्श

प्रश्न—इन्द्रियप्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रियोंकी प्रधानता और मनकी गौणतासे उत्पन्न हुए ज्ञान-को, जिसे मतिज्ञान कहा जाता है, इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। आचार्य गृद्ध-पिच्छने तत्त्वार्थसूत्र (१–१४) में प्रतिपादन भी किया है कि जो इन्द्रिय और अनिन्द्रियपूर्वक होता है वह मतिज्ञान है।

यह इन्द्रियप्रत्यक्ष चार प्रकारका है—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा। पदार्थ और इन्द्रियोंके सम्बन्ध होनेके बाद उत्पन्न हुए आद्य ज्ञानका नाम अवग्रह है। अर्थात् 'क्या है' इस प्रकारके विशेष रहित वस्तुके सामान्यावलोकनरूप दर्शनपूर्वक उत्पन्न हुआ कुछ रूप, आकार आदिकी विशेषताओंको लिए हुए पदार्थका विशिष्टज्ञान अवग्रहज्ञान है। अवग्रहज्ञानसे ग्रहण की गयी वस्तुके विषयमें विशेष जाननेकी आकांक्षा करना ईहा है, जिसमें 'होना चाहिए' रूप ज्ञान होता है। ईहाज्ञानसे जानी हुई वस्तुके विशेषोंका निश्चय करना अवायज्ञान है। सुनिश्चित तथा कालान्तरमें भी अविस्मृतिके कारणभूत ज्ञानका नाम धारणाज्ञान है। ये चारों ही ज्ञान इन्द्रियव्यापारपूर्वक होते हैं, उसके अभावमें वे उत्पन्न नहीं होते। ये चारों ज्ञान मनपूर्वक भी होते हैं, क्योंकि जिनके मन नहीं होता उनके ये मनपूर्वक होनेवाले चारों ज्ञान नहीं होते। अतएव ये इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष दोनों एकदेशसे विशद और अवि-संवादी हैं। स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके निमित्तसे बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंमें होनेके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रत्येक इन्द्रियकी अपेक्षासे ४८, ४८ भेदों तथा व्यंजनावग्रहके (चक्षु और मनको

---

१. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभास-निह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥

—आ० समन्तभद्र, आप्तमी० का० ८३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंसे होनेके कारण) ४८ भेदोंसे सहित होता है और इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्षके ४ × १२ × ५ = २४० + १ × १२ × ४ = ४८ = २८८ भेद हैं। तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्षके ४ × १२ × १ = ४८ भेदोंको भी उनमें मिला देनेपर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (मतिज्ञान) के कुल भेद २८८ + ४८ = ३३६ हैं।

३. अतीन्द्रियप्रत्यक्ष-विमर्श

अतीन्द्रियप्रत्यक्षके पहले विकल और सकल ये दो भेद कहे जा चुके हैं। अब उनका विशेष कथन किया जाता है। विकल अतीन्द्रियप्रत्यक्षका पहला भेद अवधिज्ञान है। यह ज्ञान इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना केवल आत्मामात्रकी अपेक्षासे होता है और मूर्तिक पदार्थोंको ही विषय करता है। तथा अपने विषयमें पूर्ण विशद होता है। इसके छह भेद हैं— १. अनुगामी, २. अननुगामी, ३. वर्धमान, ४. हीयमान, ५. अवस्थित और ६. अनवस्थित। जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी तरह स्वामीके साथ एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें जाता है वह अनुगामी है। जो अवधिज्ञान विमुख पुरुषको दी गई आज्ञाकी तरह वहीं छूट जाता है, न क्षेत्रान्तरमें जाता है और न पर्यायान्तरमें, वह अननुगामी है। जो जंगलके बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्निकी भाँति निरन्तर बढ़ता जाता है वह वर्धमान है। जो अवधिज्ञान सीमित ईंधन-वाली अग्निकी शिखाकी तरह धीरे-धीरे कम होता जाता हैं वह हीयमान है। जो शरीरके मसा, तिल आदि चिन्होंकी तरह हमेशा एक-सा बना रहता है वह अवस्थित है और जो हवाके वेगसे प्रेरित जलकी लहरोंकी तरह घटता-बढ़ता रहता है वह अनवस्थित है। संक्षेपमें यह अवधिज्ञान तीन ही प्रकारका है—१. देशावधि, २. परमावधि और ३. सर्वावधि। देशावधिज्ञान उक्त छहों प्रकारका होता है। अर्थात् उसमें अनुगामी आदि छहों भेद पाये जाते हैं। परन्तु परमावधिज्ञान विशिष्ट संयमके धारकोंके होता है। पर्यायान्तरमें न जानेकी अपेक्षासे अननुगामी और प्रतिपात (छूट जाने) से सहित होता है और उसी पर्यायमें क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जानेकी अपेक्षा अनुगामी ही होता है, अननुगामी नहीं, क्योंकि केवलज्ञान होने एवं पर्यायके अन्त तक वह स्वामीके साथ रहता है। तथा वह वर्धमान ही होता है, हीयमान नहीं। अवस्थित ही होता है, अनवस्थित नहीं। अप्रतिपात ही होता है, सप्रतिपात नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त विशुद्ध परिणामोंसे उत्पन्न होता है। यह उसी पर्याय या केवल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानकी अपेक्षासे कहा गया है, क्योंकि परमावधिज्ञानी दूसरी पर्यायमें जाये या केवलज्ञान प्राप्त कर ले, तो उसका वह परमावधिज्ञान छूट जाता हैं। इस प्रकार इस अवधिज्ञानमें वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे अनुगामी, वर्धमान और अवस्थित ये तीन ही भेद पाये जाते हैं, अन्य तीन भेद नहीं। तथा पर्यायान्तरकी अपेक्षासे अननुगामी और अनवस्थित ये दो भेद और एक सप्रतिपात भेद होते हैं। परमावधिज्ञानकी तरह सर्वावधि-ज्ञानके विषयमें भी जान लेना चाहिए। केवल वह वर्धमान भी नहीं होता, क्योंकि वह जब उत्पन्न होता है तो पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त होता है। अतः उसमें वर्धमानता नहीं है। दूसरी उसकी विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे उद्भूत होता है। अतिसंक्षेपमें अवधिज्ञान दो प्रकारका है—१. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके होता है, क्योंकि वह बाह्य देव भव और नारकी भवके निमित्तसे होता है। इन पर्यायोंके होनेपर ही वह होता है और उनके अभावमें नहीं होता। अतः ऐसे अवधिज्ञानको भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहा गया है। यह केवल देशावधिरूप ही होता है, परमावधि या सर्वावधिरूप नहीं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान असंयतसम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शनगुणके निमित्तसे और संयता-संयतके संयमासंयम (देशसंयम) गुणपूर्वक तथा संयतके संयमगुणके होनेसे होता है। यह दोनों अवधिज्ञानोंके बाह्य निमित्तोंका कथन है। उनका अन्तरंग कारण अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तिरायकर्मका यथासम्भव क्षयोपशम है। उसके सद्भावमें ही सम्यग्दर्शनादिके होनेपर होता है, अन्यथा नहीं।

मनःपर्ययज्ञान-विमर्श

मनःपर्ययज्ञान, जो विकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, दो तरहका है—१. ऋजुमति और २. विपुलमति। इनमें ऋजुमति सरल मन, सरल वाणी और सरल कायवालोंके मनोगत विषयको जानता है, अतः उसके सरल मन, सरल वाणी और सरल कायके निमित्तसे तीन भेद कहे गये हैं। किन्तु विपूलमति मनःपर्ययज्ञान सरल अथवा वक्र दोनों ही प्रकारके मन, वचन और कायवालोंके मनःस्थित चिन्तित, अर्धचिन्तित और अचिन्तित विषयको ऋजुमतिसे भी अधिक स्पष्ट जानता है। अतएव उसके उक्त छह निमित्तोंकी अपेक्षा छह भेद बतलाये गये हैं। यह दोनों ही प्रकार-का मनःपर्ययज्ञान यथाविध मनःपर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तिरायकर्मके यथायोग्य क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है और संयमियोंके होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञान-विमर्श

तीसरा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष केवलज्ञान है, जिसे सकलप्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योंकि वह समस्त मोहनीय, समस्त ज्ञानावरण और समस्त वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उद्भूत होता है। दूसरी बात यह है कि वह सम्पूर्णतया विशद होता है और तीसरे यह कि वह सब (मूर्तिक-अमूर्तिक) को विषय करता है। इस प्रकारके प्रत्यक्षवाला कोई विशेष पुरुष सम्भव है ही, क्योंकि उसमें किसी प्रकारका बाधक प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार कोई विशेष पुरुष शास्त्र (वेद) द्वारा समस्त पदार्थोंका ज्ञान कर सकता है और जिसे दोनों वादी तथा प्रतिवादी स्वीकार करते हैं। हेतु भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि सकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्षवाले पुरुषका प्रत्यक्ष आदि कोई भी प्रमाण बाधक नहीं है, यह इसलिए भी कि समस्त देशों और समस्त कालोंके पुरुषसमूहकी अपेक्षा उसमें अबाधा सिद्ध है। जैसे 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानवान् हूँ' इस प्रतीतिमें किसी भी व्यक्तिको विवाद नहीं हो सकता और इसलिए सुखादिका सद्भाव प्रमाणसिद्ध है। बाधकप्रमाणाभाव वस्तुकी सिद्धिमें एक ऐसा स्वयं प्रमाण है, जिसे सभी स्वीकार करते हैं, अन्यथा किसीके भी अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि न हो सकेगी। इस प्रकार प्रत्यक्षका, जो विशदज्ञानरूप होता है और जिसके सांव्यवहारिक और मुख्य ये दो भेद हैं, संक्षेपमें निरूपण किया।

परोक्षका विशेष विमर्श

परोक्षका पहले संक्षेपमें विचार कर आये हैं। अब उसका कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

जो अविशद (अस्पष्ट) ज्ञान है वह परोक्ष है। इसे अनुमानप्रयोगके माध्यमसे यों भी कह सकते हैं कि परोक्ष अविशद ज्ञानरूप है, क्योंकि वह परोक्ष है। जो अविशद ज्ञानरूप नहीं है वह परोक्ष नहीं है, जैसे अतीन्द्रियप्रत्यक्ष, और परोक्ष विचारणीय ज्ञान है, इसलिए वह अविशद ज्ञानरूप है। जिसका विचार प्रस्तुत है उसकी परोक्षता असिद्ध नहीं है, क्योंकि वह अक्षों अर्थात् इन्द्रियों (बाह्य और आन्तर दोनों) से उत्पन्न होता है। तत्त्वार्थवार्त्तिककार अकलङ्कदेवने परोक्षका लक्षण करते हुए कहा है कि जो उपात्त तथा अनुपात्त कारणोंकी अपेक्षासे होता है वह परोक्ष है। यहाँ उपात्तसे तात्पर्य कर्मोदयसे आत्माके द्वारा गृहीत स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी विवक्षासे है और अनुपात्तसे मतलब शब्द, लिङ्ग आदि बाह्य सहकारियोंसे है। इस तरह दोनों कारणोंकी अपेक्षासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह भी संक्षेपमें दो प्रकारका है—१. मतिज्ञान और २. श्रुतज्ञान। सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छका भी वचन है—'आद्ये परोक्षम्' [त० सू० १-११]—आदिके दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। सूत्रकारने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान कहे हैं। अतः उनके इस सूत्र (त० सू० १-९) की अपेक्षासे 'आद्ये' पदके द्वारा मति और श्रुत ये दो ज्ञान गृहीत हैं। ये दोनों ज्ञान परकी अपेक्षासे होनेके कारण परोक्ष कहे गये हैं। और परकी अपेक्षासे न होनेके कारण अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष बतलाये हैं।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त मतिज्ञानको एकदेश विशद होनेसे इन्द्रियप्रत्यक्ष-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा गया है और यहाँ उसे परोक्ष बतलाया गया है, यह विसंगति (विरोध) कैसे दूर होगी ? यह प्रश्न युक्त नहीं है, क्योंकि उसे सांव्यवहारिक अर्थात् उपचार (लोकव्यवहार) से प्रत्यक्ष कहा है। वस्तुतः वह परापेक्ष होनेसे परोक्ष ही है, इसमें कोई विरोध समुपस्थित नहीं होता।

शेष मतिज्ञान, जो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधरूप है, और श्रुत ये सब परोक्ष हैं। अकलंकदेवने स्पष्ट कहा है—

'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है और वह मुख्य तथा संव्यवहारकी अपेक्षा दो प्रकारका है। शेष स्मृति आदि जितने भी परापेक्ष ज्ञान हैं वे सब परोक्ष हैं। इसी भावको सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छने '**प्रमाणे**' ['तत्प्रमाणे'— त० सू० १-१०] इस सूत्रगत द्विवचनात्मक 'प्रमाण' पदके द्वारा सभी ज्ञानोंका संग्रह किया है।—लघीय०, १-३।

स्मृति-विमर्श

'वह' इस प्रकारके आकारको स्पर्श करनेवाली तथा अनुभूत पदार्थको जाननेवाली प्रतीतिका नाम स्मृति है।

शंका—मनःपूर्वक होनेसे स्मृति अनिन्द्रियप्रत्यक्ष है, क्योंकि वह सुखादिसंवेदनकी तरह विशद है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिमें विशदता लेशमात्र भी नहीं है। पुनः पुनः भावना (चिन्तन) करनेवालेको विशदताकी प्रतीति होती है, क्योंकि वह भावना ज्ञानात्मक है। परन्तु वह स्वप्नज्ञानकी तरह भ्रान्त है। वास्तवमें जो पूर्वानुभूत अतीत पदार्थ है उसमें विशदता सम्भव ही नहीं, तब उस अतीत अर्थको विषय करनेवाली स्मृति विशद कैसे हो सकती है, अतः वह परोक्ष ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंका—श्रुत अथवा अनुमित अर्थमें होनेवाली स्मृति विशद हो सकती है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'वह' इस प्रकारके उल्लेखसे सभी स्मृतियोंका संग्रह है। अर्थात् स्मृति चाहे अनुभूतविषयक हो, चाहे श्रुतविषयक और चाहे अनुमितविषयक, सभीमें 'वह' का उल्लेख रहता है, अनुभूतविषयकमें ही नहीं।

यह स्मृति अविसंवादिनी होनेसे प्रत्यक्षकी ही तरह प्रमाण है। यदि किसी स्मृतिमें विसंवाद पाया जाता है तो वह स्मृत्याभास है, जैसे प्रत्यक्षाभास।

प्रत्यभिज्ञान-विमर्श

'वही यह है' इस प्रकारके ज्ञानका नाम संज्ञा है। उसीको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। अथवा 'उसी तरहका यह है' इस प्रकारके ज्ञानका नाम भी संज्ञा है। यह एकत्व और सादृश्यको विषय करनेकी अपेक्षा दो प्रकारकी है। निश्चय ही प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञानके दो भेद हैं—१. एकत्वप्रत्यभिज्ञान और २. सादृश्यप्रत्यभिज्ञान। 'वही यह है' इस प्रकारके एकत्वविषयक ज्ञानको एकत्वप्रत्यभिज्ञान और 'उसीके समान यह है' इस प्रकारके सादृश्य-विषयक बोधको सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

शंका—'वही' यह अतीतको विषय करनेवाला ज्ञान स्मृति है और 'यह' इस प्रकार होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः प्रत्यभिज्ञा स्मृति और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानात्मक ही है। इसी प्रकार 'उसीके समान है' यह ज्ञान स्मरण है तथा 'यह' इस प्रकारका वर्तमानविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी स्मरण और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानरूप है। इसलिए प्रत्यभिज्ञान नामका कोई एक पृथक् ज्ञान (प्रमाण) नहीं है ?

समाधान—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्षसे उत्पन्न होने वाला तथा अतीत तथा वर्तमान इन दो अवस्थाओंमें रहने-वाले एक द्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान उनसे पृथक् एक ज्ञान अच्छी तरह अनुभवमें आता है। स्पष्ट है कि 'वह' इस प्रकारका स्मरण उक्त एकद्रव्यको विषय नहीं करता, वह तो मात्र अतीत अवस्थाको ही विषय करता है। इसी प्रकार 'यह' इस तरहका ज्ञान भी उस एक द्रव्यको नहीं जानता, वह मात्र वर्तमान पर्यायको ही जानता है। किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष दोनोंसे उत्पन्न होनेवाला, जोड़रूप, दोनों पर्यायोंको लिए हुए द्रव्यका निश्चायक एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञान उन दोनों ज्ञानोंसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जुदा ही है। उसका अपलाप करनेपर कहीं भी एकत्वान्वयकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी, यहाँ तक कि पूर्वोत्तर क्षणोंमें रहनेवाले सन्तानकी एकता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी।

शंका—प्रत्यभिज्ञान गृहीत अर्थको ही ग्रहण करता है, अतः गृहीत-ग्राही होनेसे अप्रमाण है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह कथंचित् अपूर्वार्थ (अगृहीत अर्थ) को जानता है। प्रकट है कि प्रत्यभिज्ञानका विषय जो एक द्रव्य है वह न स्मरण द्वारा गृहीत होता है और न प्रत्यक्ष द्वारा। तब एक द्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही कैसे माना जा सकता है। अर्थात् नहीं माना जा सकता। स्मरण द्वारा गृहीत अतीत पर्याय और प्रत्यक्ष द्वारा अवगत वर्तमान पर्याय इन दोनोंसे द्रव्यका तादात्म्य है, अतः उसे ग्रहण करनेवाले प्रत्यभिज्ञानको कथंचित् अपूर्वार्थ-विषयक होनेसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। अन्यथा अनुमान आदि भी अप्रमाण कहे जावेंगे, क्योंकि वे भी सर्वथा अपूर्वार्थविषयक सिद्ध नहीं होते। सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्राही ज्ञानके विषय साध्यादि सामान्यसे अनु-मानगम्य देशविशिष्ट अथवा कालविशिष्ट साध्यादि विशेष कथंचित् अभिन्न हैं और उन्हें विषय करनेसे अनुमान भी कथंचित् पूर्वार्थविषयक सिद्ध होता है। अतः जिस प्रकार अनुमान कथंचित् अपूर्वार्थग्राही होनेसे प्रमाण है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राहक होनेसे प्रमाण है।

शंका—बाधक प्रमाण मौजूद होनेसे प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण नहीं माना जा सकता ?

समाधान—यह शंका अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानका बाधक कोई प्रमाण नहीं है। न प्रत्यक्ष उसका बाधक है, क्योंकि उसकी उसके विषय (एक द्रव्य) में प्रवृत्ति नहीं है। तब वह साधककी तरह बाधक भी नहीं हो सकता। इसे यों समझना चाहिए—जिसकी जिसमें प्रवृत्ति नहीं है वह उसका न साधक होता है और न बाधक, जैसे रसज्ञान रूपज्ञानका न साधक है और न बाधक। और प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए वह उसका बाधक नहीं है। निश्चय ही प्रत्यक्ष प्रत्यभि-ज्ञानके विषय पूर्वदृष्ट और वर्तमानमें देखी जा रही इन दोनों पर्यायोंमें व्याप्त द्रव्यमें प्रवृत्त नहीं होता, वह तो मात्र दृश्यमान पर्यायको ही विषय करता है। अतः हेतु असिद्ध नहीं है। इसी प्रकार अनुमान भी प्रत्यभि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानका बाधक नहीं है, क्योंकि वह भी प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रवृत्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति केवल अनुमेयमें होती है। कदाचित् उसकी प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रवृत्ति हो, तो वह सर्वथा बाधक नहीं हो सकेगा। अतः प्रत्यभिज्ञान अपने विषय एक द्रव्यमें प्रमाण है, क्योंकि कोई भी उसका बाधक नहीं है, जैसे प्रत्यक्ष अथवा स्मृति।

इसी तरह सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है, क्योंकि वह भी अपने विषयमें बाधकोंसे रहित है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष अपने विषय साक्षात् हो रहे पदार्थमें बाधाओंसे रहित है तथा स्मरण भी अपने अतीत विषयमें बाधारहित है उसीप्रकार प्रत्यभिज्ञान भी अपने विषय एकत्व अथवा सादृश्यमें बाधाओंकी संभावनासे रहित है। तब उसे अप्रमाण कैसे मानें। हाँ, जो प्रत्यभिज्ञान अपने विषयमें बाधित होता है वह प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे प्रत्यक्षाभास अथवा स्मरणाभास और इसे अप्रमाण होनेपर सभी प्रत्यभिज्ञानोंको अप्रमाण कहना उचित नहीं है। अन्यथा प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जावेगा। इसलिए जिस प्रकार शुक्ल शंखमें होनेवाला पीतज्ञानप्रत्यक्ष शुक्ल शंखमें ही हुए शुक्लज्ञानप्रत्यक्षके द्वारा बाधित होनेसे अप्रमाण है, किन्तु पीले सुवर्णादिमें होनेवाला पीतज्ञान-प्रत्यक्ष अप्रमाण नहीं है। इसी प्रकार अपने उसी पुत्रमें ही 'यह उसके समान है', इस प्रकारका होनेवाला सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान 'वही यह है' इस प्रकारके एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञानसे बाधित होनेसे अप्रमाण है, किन्तु अपने पुत्रके समान ही किसी दूसरेके पुत्रमें 'वैसा ही यह है' इस-प्रकारका होनेवाला प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है, क्योंकि वह किसी अन्य ज्ञानसे बाधित नहीं है। इसी तरह जिन नख, केश आदिको काट दिया, किन्तु पुनः वे उत्पन्न हो गये हैं उनमें 'वही ये नख, केश आदि हैं' इस-प्रकारका होनेवाला एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञान 'पुनः उत्पन्न ये नख, केश आदि पूर्वमें काटे गये नख, केश आदिके समान हैं' इस प्रकारके सादृश्य-निमित्तक अन्य प्रत्यभिज्ञानसे बाधित होनेसे अप्रमाण स्पष्ट ज्ञात होता है। किन्तु उनमें होनेवाला सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें कोई बाधा न होनेसे वह प्रमाण ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार पहले किसी देश-विशेषमें रखे रूपसे देखे गये चाँदी आदि पदार्थमें हुआ स्मरण अन्य देशमें रखे रूपसे होनेवाले चाँदी आदिके स्मरणका बाधक है अतएव वह उस विषयमें प्रमाण नहीं है। किन्तु जिस देशमें रखे रूपसे चांदी आदिका अनुभव हुआ था, उसी देशमें रखे रूपसे चाँदी आदिका होनेवाला स्मरण प्रमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः हम यह कह सकते हैं कि जिस जिस ज्ञानसे वस्तुको जानकर उसमें प्रवृत्त हुए व्यक्तिको अर्थक्रिया (जलावगहनादि) में किंचित् भी विसंवाद (भ्रमादि) नहीं होता वह वह ज्ञान प्रमाण है, जैसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान। और स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञानसे वस्तुको जानकर प्रवृत्त हुए पुरुषको विसंवाद नहीं होता, इसलिए स्मरण और प्रत्यभिज्ञान दोनों प्रमाण हैं तथा अविशद होनेसे वे परोक्ष हैं। जैसे अनुमान। अथवा साध्य-साधनके सम्बन्ध (व्याप्ति) को ग्रहण करने वाला तर्क।

तर्क-विमर्श

'जितना धूम है वह सब अग्निसे ही उत्पन्न होता है, बिना अग्निके वह नहीं होता' इस प्रकार समस्त देशों और समस्त कालोंकी व्याप्ति (अविनाभावरूप साध्य तथा साधनके सम्बन्ध) को ग्रहण करनेवाला जो ऊहापोहरूप ज्ञान होता है वह तर्क है और वह भी प्रमाण माना जाना चाहिए, क्योंकि वह भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राही है। वह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किये गये प्रतिनियत देश और प्रतिनियत कालके साध्य तथा साधन विशेषोंको ग्रहण न करनेके कारण गृहीतग्राही नहीं है। इसके अतिरिक्त उसमें कोई बाधक भी नहीं है। निश्चय ही प्रत्यक्ष तर्कका बाधक नहीं, क्योंकि उसकी उसमें प्रवृत्ति ही नहीं, जैसे अनुमान। कदाचित् उसमें उसकी प्रवृत्ति हो भी, तो वह उसका साधक ही होगा, बाधक तो वह किसी भी तरह नहीं हो सकता। कहीं एकाध जगह वह बाधक हो सकता है सो जिसका बाधक होगा वह तर्काभास (अप्रमाण) कहा जायेगा, उसे प्रमाण स्वीकार नहीं किया गया। जिस प्रकार स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास अथवा प्रत्यक्षाभास, अनुमानाभासको प्रमाण नहीं माना।

तर्कको प्रमाण इसलिए भी मानना आवश्यक है, क्योंकि उससे जाने गये पदार्थ (व्याप्तिसम्बन्ध) में प्रवृत्त ज्ञाताको उसकी अर्थक्रियामें कोई विसंवाद (भ्रमादि) नहीं होता, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान। यह तर्कज्ञान चूँकि अविशद होता है, अतएव वह अनुमानकी तरह परोक्ष है।

अनुमान-विमर्श

अब अनुमानका विचार किया जाता है, जिसे चार्वाकको छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिकोंने स्वीकार किया है।

साधन (हेतु) से जो साध्य (अनुमेय) का विशेष ज्ञान होता है वह अनुमान है। यहाँ साधन उसे कहा गया है जिसका साध्यके साथ अवि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाभाव सुनिश्चित है। साधनके त्रैरूप्य आदि लक्षण साधनाभासमें भी पाये जाते हैं, अतः वे लक्षण सदोष लक्षण हैं। यहाँ यही स्पष्ट किया जाता है। सांख्यों और बौद्धोंका मत है कि साधन वह है जो त्रिरूप अर्थात् त्रिलक्षण है। वे तीन रूप इस प्रकार हैं—१. सपक्षमें रहना, २. पक्षका धर्म होना और ३. विपक्षसे व्यावृत्त होना। इन तीन रूपोंसे सम्पन्न साधन ही साध्यका साधक होता है। उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिलक्षणमें साधनपना सिद्ध नहीं होता। 'वह श्याम है, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' यह साधनाभासका उदाहरण है। यहाँ भी वे तीनों रूप विद्यमान हैं। हेतु सपक्ष—अन्य पुत्रोंमें श्यामपनाके साथ मौजूद है, पक्ष—गर्भस्थ पुत्रमें भी वह पाया जाता है तथा विपक्ष—किसी अन्यके गौर पुत्रोंमें वह अविद्यमान है। इस तरह सपक्षसत्त्व, पक्ष-धर्मत्व और विपक्षासत्त्व ये तीनों रूप साधनाभासमें भी पाये जानेसे साधनलक्षण नहीं हो सकते।

शंका—साध्यके न रहनेपर पूर्णतया साधनका अभाव न होनेसे उदाहरणगत साधन सम्यक् साधन नहीं है, क्योंकि उसीके गर्भस्थ गौर पुत्रमें भी हेतुका सद्भाव पाया जाता है?

समाधान—तब तो साध्यकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्णतया साधनकी निवृत्तिके निश्चयरूप एकलक्षणको ही साधन मानना चाहिए, सपक्ष-सत्त्व और पक्षधर्मत्व इन दो रूपोंको और मानना निरर्थक है। उसी साध्य-साधनको विपक्षमें सम्पूर्ण निवृत्तिको ही स्याद्वादी अन्यथानुपपत्ति-नियमनिश्चयके रूपमें साधनका लक्षण बतलाते हैं, क्योंकि उसके सद्भाव-में और पक्षधर्मत्वादिके अभावमें भी साधन अपने साध्यका साधक प्रतीत होता है। 'एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है' इत्यादि साधन पक्षधर्मता आदिके अभावमें भी साध्यके गमक देखे जाते हैं। इसलिए पक्षधर्मता साधनका लक्षण नहीं है।

शंका—उक्त अनुमानमें आकाश अथवा काल धर्मी (पक्ष) है और उसमें उदय होनेवाले शकटका सद्भावरूप साध्य तथा कृत्तिकाके उदयका सद्भावरूप साधन दोनों विद्यमान रहते हैं, अतः 'कृत्तिकाका उदय' पक्षधर्म ही है। पक्षधर्मताके सद्भावमें ही वह साध्यका अनुमापक है?

समाधान—इस प्रकारसे तो पृथ्वीको पक्ष बनाकर समुद्रमें अग्निके सद्भावरूप साध्यको सिद्ध करनेके लिए रसोईघरके धूमके सद्भावरूप साधनको भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी पक्षधर्म है। फलतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महानसके धूमसे समुद्रमें अग्निका अनुमान हो जाय और इस तरह कोई भी हेतु अपक्षधर्म नहीं रहेगा—सभी हेतु हो जायेंगे।

शंका—बात यह है कि इस तरह साधनमें पक्षधर्मता सिद्ध हो जाने पर भी साध्यको सिद्ध करनेकी सामर्थ्य सभीमें नहीं हो सकती, क्योंकि सभीमें अविनाभावके नियमका निश्चय नहीं है। जिसका जिसके साथ अविनाभावके नियमका निश्चय है वही उसका हेतु है, अन्य नहीं ?

समाधान—तो फिर उसी अविनाभावके नियमके निश्चयको ही साधन-का लक्षण मानना युक्त है। पक्षधर्मता आदिको नहीं, वह अप्रयोजक है।

शंका—शकटका उदय कृत्तिकाके उदयका भावी कारण है, क्योंकि उसका उसके साथ अन्वय तथा व्यतिरेक है। भविष्यमें होनेवाले शकटो-दयके अपने कालमें होनेपर ही कृत्तिकाका उदय होता है और न होनेपर नहीं होता। इस प्रकार भावि शकटोदय और कृत्तिकोदयमें अन्वय और व्यतिरेकसे कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। जैसे अतीत और वर्तमानमें कार्यकारणभाव होता है। 'भरणीका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है' इस अनुमानमें अतीत भरणीका उदय कारण है और कृत्तिकाका उदय उसका स्पष्टतया कार्य है, क्योंकि अतीत भरणीका उदय अपने कालमें होनेपर ही कृत्तिकाका उदय होता है और न होनेपर नहीं होता है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे उनमें कार्यकारणभाव जिस प्रकार सिद्ध है उसी प्रकार भविष्यत् शकटोदय और वर्तमान कृत्तिकोदय रूप साध्य-साधनोंमें कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। न्याय (युक्ति) दोनों-का समान है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि एक कृत्तिकोदय कार्यके भावि और अतीत दो कारणोंका होना विरुद्ध है, क्योंकि दो भिन्न देशोंकी तरह दो भिन्न कालोंमें भी सहकारिता हो सकती है। एक साथ एक कार्यका करना सहकारितापर ही आधृत है, एक काल अथवा एक देशपर नहीं। यहाँ यह भी नहीं कि अतीत भरणी-उदय और भावि शकटोदय कृत्तिकोदयके उपादान कारण हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती कृत्तिकाका क्षण, जो उदयको प्राप्त नहीं है, उसका उपादान कारण सुनिश्चित है ?

समाधान—प्रज्ञाकरकी उक्त शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार-की प्रतीति नहीं होती। जो कार्यके कालमें नहीं है, ऐसे अतीत और भाविको उसका कारण माननेपर अतीततम और भावितमको भी कारण होनेसे रोका नहीं जा सकता। यदि कहा जाय कि उनका कार्यके साथ सम्बन्धविशेष न होनेसे उन्हें कारण नहीं माना जा सकता है, तो इसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह हुआ कि जिन्हें कारण कहा जा रहा है उन अतीत और भविष्यत्‌को कारण होनेमें वह सम्बन्धविशेष हेतु है। इसपर प्रश्न उठता है कि वह सम्बन्धविशेष क्या है? क्योंकि अतीतका वर्तमान कार्यमें व्यापार सम्भव नहीं, वह कार्यके समयमें है ही नहीं, जैसे भविष्यत्‌का। यदि कहा जाय कि 'उसके होनेपर उसका होना' प्रत्यासत्तिविशेष है तो यह कथन भी दमदार नहीं है, क्योंकि अतीत और अनागतके अभावमें ही कार्य होता है, उनके सद्भावमें कार्य नहीं होता। अन्यथा कार्य और कारण दोनोंका एक काल हो जायेगा। फलतः समस्त सन्तान एकक्षण-वर्ती हो जायेंगे। और एकक्षणवर्ती सन्तान नहीं है। सन्तान तो उसे कहा गया है जो भेदरहित नाना कार्यकारणक्षण हैं।

शंका—अतीत और अनागत कारणके अपने कालमें रहनेपर कार्य होता है और उसके न रहनेपर नहीं होता, इस प्रकार होनेपर होना अन्वय और न होनेपर न होना व्यतिरेक है, यह अन्वय-व्यतिरेकरूप सम्बन्धविशेष अतीत-अनागत कारण और वर्तमान कार्यमें विद्यमान है ही। अतः अतीत और अनागत भी कारण हो सकते हैं, कोई बाधा नहीं है?

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिन्हें कारण नहीं माना जाता, उन अतीततम और अनागततममें भी उक्त प्रकारका अन्वय-व्यतिरेक पाये जानेसे कारणता स्वीकार करना पड़ेगी। अतः भिन्न काल-वर्ती अतीत या अनागत पदार्थ कार्यका कारण नहीं हो सकता। किन्तु भिन्न देशवर्तीको कारण माननेमें कोई दोष नहीं है। उसके होनेपर कार्य होता है और न होनेपर नहीं होता। उदाहरणके लिए घट और कुम्हार आदिको लिया जा सकता है। कुम्हार आदिके अपने देशमें रहनेपर घट उत्पन्न होता है और उनके न रहनेपर नहीं होता, क्योंकि कुम्हार आदि अपने देशमें रहते हुए घट आदिको बनाते हैं। पर जिसे कारण नहीं माना जाता, ऐसे भिन्न देशवर्तीका कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, क्योंकि उसका उसमें व्यापार नहीं है, जैसे अतीत और अनागतका कार्यमें व्यापार सम्भव नहीं है। यथार्थमें किसी विद्यमानका ही किसीमें व्यापार हो सकता है, जो है ही नहीं उसका व्यापार नहीं हो सकता। जैसे खर-विषाणका व्यापार असम्भव है। अतः भिन्नदेशवर्ती तो कोई किसी कार्यमें व्यापार कर सकता है और इसलिए वह सहकारी कारण हो सकता है। किन्तु भिन्नकालवर्ती नहीं, क्योंकि वैसी प्रतीति ही नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती। अतएव कृत्तिकोदय और शकटोदयमें कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। जैसे उनमें व्याप्य-व्यापकभाव नहीं बनता। किसी तरह उनमें कार्यकारणभाव भी बन जाय, तथापि हेतु (कृत्तिकोदय) में पक्षधर्मता नहीं है और वह पक्षधर्मताके बिना भी साध्यका साधक होता है। अतः पक्ष-धर्मता हेतुका लक्षण नहीं है। इसी तरह हेतुमें सपक्षसत्त्वका निश्चय भी नहीं है, क्योंकि उसके अभावमें भी समस्त पदार्थोंको अनित्य सिद्ध करनेके लिए कहे जानेवाले सत्त्व आदि साधनोंको स्वयं प्रज्ञाकरने सम्यक् हेतु बतलाया है। तथा विपक्षासत्त्व (विपक्षमें न रहना) का निश्चय साध्याविनाभावरूप नियमके निश्चयरूप ही है, अतः उसे ही हेतुका प्रधान लक्षण मानना चाहिए, अन्य लक्षणोंको माननेसे क्या लाभ।

शंका—बात यह है कि हेतुके तीन दोष हैं—१. असिद्ध, २. विरुद्ध और ३. अनैकान्तिक। असिद्ध दोषके निराकरणके लिए हेतुमें पक्षधर्मताका निश्चय किया जाता है। विरुद्ध हेत्वाभासकी निवृत्तिके लिए सपक्षसत्त्व आवश्यक है और अनैकान्तिक दोषके निरासके लिए विपक्षासत्त्वका निश्चय अनिवार्य है। यदि हेतुमें इन तीन रूपोंका अनिश्चय रहे तो हेतुके उक्त असिद्धादि तीन दोषोंका परिहार नहीं हो सकता। अतः हेतु-का त्रैरूप्य लक्षण सार्थक है। कहा भी है—

'हेतुके तीन रूपोंका निश्चय असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचारी इन तीन दोषोंका निराकरण करनेके कारण प्रतिपादित किया गया है।'

समाधान—उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उक्त तीनों दोषोंका परिहार तो हेतुमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके निश्चयसे ही हो जाता है। जो हेतु असिद्ध होगा उसमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार जो हेतु विरुद्ध या अनै-कान्तिक होगा उसमें भी अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय नहीं हो सकता। साध्यके होनेपर ही हेतुका होना और साध्यके अभावमें हेतुका न होना अन्यथानुपपत्ति अथवा तथोपपत्तिरूप नियमका निश्चय है। विरुद्ध तो साध्यके अभावमें ही होता है और अनैकान्तिक साध्यके अभावमें भी होता है। अतः विरुद्ध और अनैकान्तिक हेतुओंमें अन्यथा-नुपपत्तिरूप नियमका निश्चय सम्भव ही नहीं है। अतः असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेतुओंमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कहा जाय कि उक्त तीनों रूप अविनाभावरूप नियमका विस्तार होनेसे हेतुके लक्षण हो सकते हैं, तो उसी आधारपर पांचरूप्यको भी हेतुका लक्षण मानना चाहिए। स्पष्ट है कि पक्षव्यापकत्व (पक्षमें हेतुका रहना), अन्वय (सपक्षमें हेतुका होना), व्यतिरेक (विपक्षमें हेतुका न रहना), अबाधितविषयत्व (साध्यका प्रत्यक्षादिसे बाधित न होना) और असत्प्रतिपक्षत्व (विरोधी दूसरे हेतुका न होना) ये पाँचों रूप अविनाभाव-रूप नियमका विस्तार ही हैं, क्योंकि जो हेतु असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष होगा उसमें अविनाभावरूप नियमका निश्चय नहीं हो सकता। दूसरे, यह आवश्यक नहीं है कि पक्षधर्मताके होने पर ही हेतु सिद्ध हो, जिससे असिद्धकी व्यावृत्ति करनेके कारण उसे (पक्षधर्मताको) हेतुका लक्षण कहा जाय, क्योंकि जो (कृत्तिकोदयादि) हेतु पक्षमें नहीं रहते वे भी सिद्ध माने जाते हैं। इसी तरह सपक्ष-सत्त्व भी जरूरी नहीं है, जिससे विरुद्धका निरास करनेके कारण उसे हेतु-लक्षण माना जाय, क्योंकि 'सभी वस्तुएँ अनेकान्त स्वरूप हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इत्यादि अनुमानोंमें सपक्षसत्त्वके अभावमें भी हेतु विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है। जैसे बौद्ध स्वयं सब पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेके लिए दिये गये सत्त्व आदि हेतुओंको सपक्ष सत्त्वके अभावमें भी विरुद्ध नहीं मानते—उन्हें समीचीन हेतु मानते हैं। इसी प्रकार विपक्षव्यावृत्ति-सामान्यके होने पर भी अनैकान्तिकका निरास नहीं होता, क्योंकि 'गर्भमें स्थित पुत्र श्याम होगा, क्योंकि उसका पुत्र है' आदि हेतुओंमें विपक्षव्यावृत्तिसामान्यके होने पर भी व्यभिचार देखा जाता है। यदि कहा जाय कि विपक्षव्यावृत्तिविशेषका होना जरूरी है, तो वही तो अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) है। अतः उक्त तीन रूप अविनाभावका विस्तार नहीं हैं। यदि कहें कि उन तीन रूपोंके होने पर हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व देखा जाता है, अतः वे अविनाभावका विस्तार हैं, तो काल, आकाश आदि पदार्थोंको भी अविनाभावका विस्तार मानिए, क्योंकि उनके होने पर ही हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व देखा जाता है। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि काल, आकाश आदि पदार्थ तो सर्व सामान्य हैं, वे अविनाभाव-का विस्तार नहीं है, क्योंकि यह तर्क तो पक्षधर्मत्व आदि रूपोंमें भी समान है, कारण कि वे भी हेतु-अहेतु रूपोंमें पाये जाते हैं। अतः हेतुका असाधारण लक्षण बतलाना ही युक्त है और वह अन्यथानुपपन्नत्व ही असाधारण हेतुलक्षण है। उसे ही स्वीकार करना चाहिए। इसी बातको कहा भी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जिस हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व (अन्यथा—साध्यके अभावमें अनुपपन्नत्व—नहीं होना, अविनाभाव) है वही सच्चा हेतु है, उसमें त्रैरूप्य रहे, चाहे न रहे, तथा जिसमें अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वह सच्चा हेतु नहीं है, उसमें त्रैरूप्य रहने पर भी वह बेकार है।'

यहाँ इन दोनों (अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भाव और असद्भाव) स्थलोंके उदाहरण उपस्थित है—

१. एक मुहूर्त्तके बाद शकट नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। इस सद् अनुमानमें कृत्तिकोदय हेतु शकट नामक पक्षमें नहीं रहता, अतः उसमें पक्षधर्मत्व नहीं है। पर कृत्तिकोदयका शकटोदय साध्यके साथ अन्यथानुपपन्नत्व होनेके कारण वह गमक है और सद्धेतु है।

२. गर्भस्थ मैत्रीपुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मैत्रीका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह। इस असद् अनुमानमें मैत्रीपुत्र हेतुमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व तीनों रूप विद्यमान हैं। परन्तु मैत्रीपुत्रत्व हेतुका श्यामत्व साध्यके साथ अविनाभाव नहीं है और इसलिए मैत्रीपुत्रत्व हेतु श्यामत्व साध्यका गमक नहीं है और न सद्धेतु है।

अतः सर्वत्र हेतुओंमें अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भावसे गमकता और उसके असद्भावसे अगमकता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यौगों (नैयायिक और वैशेषिकों) द्वारा स्वीकृत पाँच रूप भी अविनाभावका विस्तार नहीं हो सकते, क्योंकि उनके रहने पर भी अविनाभावरूप नियम नहीं देखा जाता। पक्षधर्मत्व (पक्षव्यापकत्व), सपक्षसत्त्व (अन्वय) और विपक्षासत्त्व (व्यतिरेक) इन तीन रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको और मिलाकर पाँच रूप कहे गये हैं। 'वह (गर्भस्थ पुत्र) श्याम होगा, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें, जो असद् अनुमान है, 'उसका पुत्र' हेतुके विषय (साध्य) श्यामत्वका बाधक प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण न होनेसे हेतु अबाधितविषय होने पर भी अविनाभावरूप नियमके अभावसे गर्भस्थ पुत्रके अश्याम होनेकी संभावनासे व्यभिचारी है। तथा गर्भस्थ पुत्रमें अश्यामपनाको सिद्ध करने वाला प्रतिपक्षी दूसरा अनुमान न होनेसे हेतु असत्प्रतिपक्ष भी है, किन्तु व्यभिचारी होनेसे उसमें अविनाभावका अभाव पाया जाता है। अतः पाँच रूप हेतुके लक्षण नहीं हैं। अतएव यों कहना चाहिए कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जहां अन्यथानुपपन्नत्व है वहाँ पाँच रूपोंकी क्या आवश्यकता है और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वहाँ पाँच रूप रहकर भी कुछ नहीं कर सकते—व्यर्थ हैं।'

इस प्रकार अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके निश्चयको ही हेतुका एक प्रधान लक्षण स्वीकार करना चाहिए, उसके होने पर त्रिलक्षण और पंचलक्षणका प्रयोग हम नहीं रोकते, क्योंकि प्रयोगशैली प्रतिपाद्योंके अनुसार सत्पुरुषों द्वारा स्वीकार की गयी है। यही कुमारनन्दि भट्टारकने कहा है—

'अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका एक लक्षण है। किन्तु अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु आदि) का प्रयोग प्रतिपाद्योंकी आवश्यकतानुसार स्वीकार किया गया है॥ २–११८

हेतु-भेद

उपर्युक्त एकलक्षण हेतु सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारका होकर भी विशेषकी अपेक्षा अतिसंक्षेपमें दो प्रकारका है—१. विधिसाधन और २. प्रतिषेधसाधन। उनमें विधिसाधनके तीन भेद कहे गये हैं—१. कार्य हेतु २. कारण हेतु और ३. अकार्यकारण हेतु। अन्य सम्भव हेतुओंका इन ही तीनमें अन्तर्भाव हो जाता है। अतः वे इनसे अतिरिक्त नहीं हैं।

१. कार्य हेतु—जहाँ कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है। जैसे 'यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है।' यहाँ धूम कार्यसे अग्नि कारणका अनुमान किया गया है। अतः 'धूम' कार्य हेतु विधिसाधन हेतु है। कार्य-कार्य आदि परम्परा कार्य-हेतुओंका इसीमें समावेश है।

२. कारण हेतु—जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान किया जाता है वह कारण हेतु कहलाता है। जैसे 'यहाँ छाया है, क्योंकि छत्र है।' यहाँ छत्र कारणसे छाया कार्यका अनुमान किया गया है। अतः 'छत्र' कारण हेतु विधिसाधन हेतु है। कारण-कारण आदि परम्परा कारणहेतुओंका इसीमें अन्तर्भाव हो जाता है।

३. अकार्यकारण हेतु—जो न किसीका कार्य है और न कारण है उससे जहाँ अकार्यकारणरूप साध्यकी सिद्धि की जाती है वह अकार्य-कारण विधिसाधन हेतु है। इसके चार भेद हैं—१. व्याप्य, २. सहचर, ३. पूर्वचर और ४. उत्तरचर। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं। १. व्याप्य हेतु—जहाँ व्याप्यसे व्यापकका अनुमान किया जाता है। जैसे—'सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं क्योंकि वे सत् हैं।' सत् वस्तु होती है, क्योंकि 'उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है', ऐसा सूत्रकार गृद्धपिच्छ-का वचन है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुके एक धर्मके साथ, जो सुनयका विषय है, सत्त्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वह वस्तुका अंश है और जो वस्तुका अंश है वह पूर्ण सत् नहीं है। २. सहचर हेतु—जहाँ साथमें रहनेवाले एकसे दूसरे साथमें रहनेवालेका अनुमान किया जाता है। जैसे 'आगमें स्पर्शसामान्य है, क्योंकि उसमें रूपसामान्य है।' यहाँ स्पर्शसामान्य रूपसामान्यका न कार्य है न कारण है।

इसी प्रकार रूपसामान्य भी स्पर्शसामान्यका न कार्य है और न कारण है, क्योंकि वे दोनों हमेशा सब जगह एक कालमें होनेके कारण सहचारी हैं। इसी विवेचनसे एकसामग्रीसे होनेवाले तथा साध्यके सम-कालवर्ती संयोगी और एकार्थसमवायी भी सहचर जानना चाहिए। जैसे समवायीमें कारणता है। ३. पूर्वचर—जहाँ पूर्ववर्तीसे उत्तरवर्तीका अनुमान किया जाता है, जैसे—'शकटका एक मुहूर्त बाद उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है।' यहाँ कृत्तिकाका उदय पूर्ववर्ती है और शकटका उदय उत्तरवर्ती। अतः कृत्तिकाका उदय पूर्वचर हेतु है। पूर्वपूर्वचर आदि परम्परा पूर्वचरहेतुओंका इसीमें संग्रह हो जाता है। ४. उत्तरचर—जहाँ उत्तरवर्तीसे पूर्ववर्तीका अनुमान किया जाता है। जैसे—'भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है।, यहाँ उत्तरवर्ती कृत्तिकाके उदयसे पूर्ववर्ती भरणीके उदयका अनुमान किया गया है। अतः कृत्तिकाका उदय उत्तरचर हेतु है। उत्तरो-त्तरचर आदि परम्परा उत्तरचरहेतुओंका इसी हेतुमें समावेश हो जाता है।

इस प्रकार ये छह हेतु सद्भावरूप साध्यको सिद्ध करते हैं और स्वयं भी सद्भावरूप हैं। इसलिए ये विधिसाधक-विधिसाधन हेतु कहे जाते हैं।

प्रतिषेधरूप साध्यको सिद्ध करनेवाले प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन हेतुके भी तीन भेद हैं—१. विरुद्ध कार्य, २. विरुद्ध कारण और ३. विरुद्ध अकार्यकारण। ये तीनों हेतु प्रतिषेध्य साध्यसे विरुद्ध होनेके कारण प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन कहे जाते हैं। इनके उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

१. विरुद्ध कार्य—'यहाँ ठंडा स्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम पाया जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।' स्पष्ट है कि ठंडे स्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है, उसका कार्य धूम है। उसके सद्भावसे ठंडे स्पर्शका अभाव सिद्ध होता है।

२. विरुद्ध कारण—'इस पुरुषके असत्य नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है।' प्रकट है कि असत्यसे विरुद्ध सत्य है, उसका कारण सम्यग्ज्ञान है। राग-द्वेषरहित यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। वह उसके किसी यथार्थ कथन आदिसे सिद्ध होता हुआ सत्यको सिद्ध करता है और वह भी सिद्ध होता हुआ असत्यका प्रतिषेध करता है।

३. विरुद्धाकार्यकारण—इसके चार भेद हैं—१. विरुद्ध व्याप्य, २. विरुद्ध सहचर, ३. विरुद्ध पूर्वचर और ४. विरुद्ध उत्तरचर।

१. विरुद्ध व्याप्य—'यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है।' यहाँ निश्चय ही शीतस्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है और उसका व्याप्य उष्णता है।

२. विरुद्ध सहचर—'इसके मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन है।' यहाँ मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है और उसका सहचर (सहभावी) सम्यग्दर्शन है।

३. विरुद्ध पूर्वचर—'मुहूर्त्तान्तमें शकटका उदय नहीं होगा, क्योंकि रेवतीका उदय है।' यहाँ शकटोदयसे विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतीका उदय है।

४. विरुद्धोत्तरचर—'एक मुहूर्त्तपूर्व भरणीका उदय नहीं हुआ, क्योंकि पुष्यका उदय है।' भरणीके उदयसे विरुद्ध पुनर्वसुका उदय है और उसका उत्तरचर पुष्यका उदय है।

ये छह साक्षात्प्रतिषेध्यसे विरुद्धकार्यादि हेतु विधिद्वारा प्रतिषेधको सिद्ध करनेके कारण प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन हेतु कहे गये हैं।

परम्परासे होनेवाले कारणविरुद्धकार्य, व्यापकविरुद्धकार्य, कारणव्यापकविरुद्धकार्य, व्यापककारणविरुद्धकार्य, कारणविरुद्धकारण, व्यापकविरुद्धकारण, कारणव्यापकविरुद्धकारण और व्यापककारण-विरुद्धकारण तथा कारणविरुद्धव्याप्यादि और कारणविरुद्धसहचरादि हेतु भी प्रतीत्यनुसार कहे जाना चाहिए। उनके भी उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. कारणविरुद्धकार्य—'इसके शीतजनित रोमहर्षादिविशेष नहीं हैं, क्योंकि धूम है।' यहाँ प्रतिषेध्य रोमहर्षादिविशेषका कारण शीत है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. व्यापकविरुद्धकार्य—'यहाँ शीतस्पर्शसामान्यसे व्याप्त शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है।' निषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

३. कारणव्यापकविरुद्धकार्य—'यहाँ हिमसामान्यसे व्याप्त हिमविशेषजनित रोमहर्षादि नहीं है, क्योंकि धूम है।' रोमहर्षादिविशेषका कारण हिमविशेष है, उसका व्यापक हिमसामान्य है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

४. व्यापककारणविरुद्धकार्य—'यहाँ शीतस्पर्शविशेषव्यापक शीतस्पर्शसामान्यके कारण हिमसे होने वाला शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है।' प्रतिषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका कारण हिम है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

५ कारणविरुद्धकारण—'इसके मिथ्याचरण नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

६. व्यापकविरुद्धकारण—'इसके आत्मामें मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' मिथ्याज्ञानविशेषका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी सत्यज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है,

७. कारणव्यापकविरुद्धकारण—'इसके मिथ्याचरण नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' यहाँ मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञानविशेष है, उसका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

८. व्यापककारणविरुद्धकारण—'इसके मिथ्याचरणविशेष नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' मिथ्याचरणविशेषका व्यापक मिथ्याचरणसामान्य है, उसका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

९. कारणविरुद्धव्याप्य—'सर्वथैकान्तवादीके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य नहीं हैं, क्योंकि विपरीत मिथ्यादर्शनविशेष है।' प्रशमादिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शनसामान्य है, उससे व्याप्य विपरीतमिथ्यादर्शनविशेष है।

१०. व्यापकविरुद्धव्याप्य—'स्याद्वादीके विपरीतादि मिथ्यादर्शनविशेष नहीं हैं, क्योंकि सत्यज्ञानविशेष है।' विपरीतादि मिथ्यादर्शन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान-सामान्य है, उसका व्याप्य सत्यज्ञानविशेष है।

११. कारणव्यापकविरुद्धव्याप्य—'इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञानविशेष है।' प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष है, उसका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका व्याप्य मिथ्याज्ञानविशेष है।

१२. व्यापककारणविरुद्धव्याप्य—'इसके तत्त्वज्ञानविशेष नहीं है, क्योंकि मिथ्यार्थोपदेशका ग्रहण है।' तत्त्वज्ञानविशेषोंका व्यापक तत्त्वज्ञान-सामान्य है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है, उसका विरोधी मिथ्यार्थोपदेशग्रहणसामान्य है, उससे व्याप्त मिथ्यार्थोपदेशग्रहणविशेष है।

१३. कारणविरुद्धसहचर—'इसके प्रशम आदि नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञान है।' प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१४. व्यापकविरुद्धसहचर—'इसके मिथ्यादर्शनविशेष नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है।' मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

१५. कारणव्यापकविरुद्धसहचर—'इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञान है।' प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष है, उनका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१६. व्यापककारणविरुद्धसहचर—इसके मिथ्यादर्शनविशेष नहीं है, क्योंकि सत्यज्ञान है।' मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका कारण दर्शनमोहोदय है, उसका विरोधी सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार साक्षात् विरोधी ६ और परम्पराविरोधी १६, कुल २२ विरोधी हेतु, जिन्हें प्रतिषेधसाधकविधिसाधन कहा जाता है, जानना चाहिए। ये सभी हेतु अन्यथानुपपत्तिनियमके बलसे अभूत—असद्भाव—प्रतिषेधके गमक हैं और स्वयं भूत—सद्भाव—विधिरूप हैं। अतः इन विरोधी लिंगोंको 'अभूतभूत' भी कहा गया है। विधिसाधकविधिरूप हेतुके पूर्वोक्त कार्यादि ६ भेदोंको, जिन्हें 'भूत-भूत' कहा जाता है, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं सद्भावरूप होकर सद्भावरूप साध्यके साधक हैं, उक्त २२ भेदोंमें मिलाने पर हेतुके प्रथम भेद विधिसाधन (उपलब्धि) के कुल २८ भेद हैं। इस तरह विधिसाधनके विधिसाधक और विधिप्रतिषेधक इन दो भेदों-का कथन किया गया। विधिसाधकको 'भूत-भूत' और विधिप्रतिषेधकको 'अभूत-भूत' नामोंसे भी वर्णित किया गया है।

अब हेतुके दूसरे भेद प्रतिषेधसाधन (अनुपलब्धि) के भी विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन और प्रतिषेधसाधक-प्रतिषेधसाधन इन दो भेदोंका कथन किया जाता है। प्रथमको भूत-अभूत और द्वितीयको अभूत-भूत कहा गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि विद्यानन्दने कणादके द्वारा कथित लिंगके भूत-भूत, अभूत-भूत और भूत-अभूत इन तीन भेदोंके साथ सम-न्वय किया है और अभूत-अभूत नामक चौथे नये भेदको स्वीकार कर हेतुके चार भेदोंका निर्देश किया है।

विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन हेतु (भूत-अभूत)—

जिन हेतुओंका साध्य सद्भाव (भूत) रूप और साधन निषेध (अभूत) रूप हो उन्हें विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन (भूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा

१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि—इस प्राणीके व्याधिविशेष है, क्योंकि निरा-मय चेष्टा नहीं है।

२. विरुद्धकारणानुपलब्धि—सर्वथा एकान्तवादका कथन करने वालोंके अज्ञानादि दोष हैं, क्योंकि उनके युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी वचन नहीं है।

३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि—इस मुनिके आप्तत्व है, क्योंकि विसंवादी नहीं है।

४. विरुद्धसहचरानुपलब्धि—इस तालफलकी पतनक्रिया हो चुकी है, क्योंकि डंठलके साथ संयोग नहीं है।

इस प्रकार और भी जानना चाहिए।

विधि प्रतिषेधक-प्रतिषेधसाधन हेतु (अभूत-अभूत)—

जिनमें साध्य निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो और साधन भी निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो उन्हें विधिप्रतिषेधक-प्रतिषेधसाधन (अभूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा—

१. कार्यानुपलब्धि—इस शवशरीरमें बुद्धि नहीं है, क्योंकि विशिष्ट चेष्टा, वार्तालाप और विशिष्ट आकारकी उपलब्धि नहीं होती। बुद्धिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य विशिष्ट चेष्टा आदि हैं, उसकी शवशरीरमें उपलब्धि नहीं है, अतः उसमें बुद्धिका अभाव सिद्ध किया गया है।

२. कारणानुपलब्धि—इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वार्थ-श्रद्धान उपलब्ध नहीं होता। यहाँ प्रशम आदिका कारण तत्त्वार्थश्रद्धान है, उसकी अनुपलब्धिसे प्रशमादिका अभाव सिद्ध किया है।

३. व्यापकानुपलब्धि—यहाँ शिंशपा नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है। यहाँपर शिंशपाके व्यापक वृक्षकी अनुपलब्धिसे शिंशपा व्याप्यका अभाव किया गया है।

४. सहचरानुपलब्धि—इसके तत्त्वज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है। तत्त्वज्ञानके सहचर सम्यग्दर्शनकी अनुपलब्धिसे तत्त्वज्ञानका अभाव अनुमानित किया गया है।

५. पूर्वचरानुपलब्धि—एक मुहूर्त्तके अन्तमें शकटका उदय नहीं होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं है। यहाँ शकटके पूर्वचर कृत्तिका-के उदयकी अनुपलब्धिसे शकटोदयके अभावका अनुमान किया गया है।

६. उत्तरचरानुपलब्धि—एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय नहीं हुआ, क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं है। यहाँ भरणिके उत्तरचर कृत्तिकाके उदयकी अनुपलब्धिसे भरणिके उदयका अभाव बोधित किया गया है।

इसी प्रकार कारणकारणानुपलब्धि, व्यापकव्यापकानुपलब्धि आदि परम्पराप्रतिषेधसाधकप्रतिषेधसाधन हेतुओंको भी जान लेना चाहिए।

इस समस्त निरूपणकी सम्पुष्टिके लिए ग्रन्थकारने हेतुभेदोंकी संग्राहिका पूर्वाचार्योंकी सात कारिकाएँ प्रस्तुत की हैं। उनका अर्थ यह है—

'कार्य, कारण, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरके भेदसे लिंग (विधिसाधक-विधिसाधन) छह प्रकारका है, जो भूत (सद्भाव) रूप होकर भूत (सद्भाव) का साधक होता है और जिसमें लिंगका लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व निश्चित रूपमें रहता है। ये छहों हेतु **भूतभूत** हैं ॥१॥

प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन लिंगके साक्षात्की अपेक्षा विरुद्ध कार्य, विरुद्ध कारण, विरुद्ध व्याप्य, विरुद्ध सहचर, विरुद्ध पूर्वचर और विरुद्ध उत्तरचर ये छह भेद बतलाये गये हैं, जो अभूत (अभाव) रूप साध्यके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक और स्वयं भूत (सद्भाव-विधि) रूप हैं और इस लिए **अभूत-भूत** कहे जाते हैं ॥२॥

परम्पराकी अपेक्षा इस हेतुके कार्य, कारण, व्याप्य और सहचारी-के भेदसे चार और इन प्रत्येकके चार-चार भेद बतलाये हैं ॥३॥

जिनके उदाहरण कारणविरुद्धकार्य, व्यापकविरुद्धकार्य, कारण-व्यापकविरुद्धकार्य, व्यापककारणविरुद्धकार्य आदिके रूपमें ज्ञातव्य हैं। इस प्रकार इस हेतुके परम्परा भेद १६ हैं। इनमें इसी हेतुके पूर्वोक्त साक्षात् ६ भेदोंको सम्मिलित करनेपर इसके कुल २२ भेद कहे गये हैं ॥४॥

जिसमें अन्यथानुपपत्ति हो वही हेतु है, और ऊपर कहे सभी हेतु अन्यथानुपपत्तिसे युक्त हैं। तथा अभूत-भूत (प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन)-के और भी इसी तरहके भेद जानना चाहिए ॥५॥

भूत (सद्भाव—विधि) के साधक अभूत (प्रतिषेध) रूप साधनके भी मनीषियोंने अनेक भेद कहे हैं। अर्थात् **भूत-अभूतके**, जिसे विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन कहा जाता है, अनेक भेद हैं। इसी प्रकार अभूत (असद्भाव) के साधक अभूत (प्रतिषेध) रूप अर्थात् **अभूत-अभूत** साधनके भी अनेक भेद हैं, जिन्हें उदाहरणों द्वारा यथायोग्य समझ लेना चाहिए ॥६॥

इस प्रकार लिंगके संक्षेपमें उपर्युक्त (भूत-भूत, भूत-अभूत, अभूत-भूत और अभूत-अभूत) चार भेद कहे गये हैं और अतिसंक्षेपमें उपलम्भ और अनुपलम्भ ये दो भेद प्रतिपादित किये हैं ॥७॥

उपर्युक्त विवेचनसे बौद्धों द्वारा कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भके भेदसे तीन ही प्रकारके हेतुओंको माननेका नियम निरस्त हो जाता है, क्योंकि सहचर आदि भी पूर्वोक्त प्रकारसे अतिरिक्त हेतु सिद्ध हैं। इसी तरह नैयायिकों द्वारा प्रत्यक्षपूर्वक होने वाले अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीन भेदोंका स्वीकार भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उन्हें पूर्वोक्त सहचर आदि भी मानना अनिवार्य है।

यदि कहा जाय कि अक्षपाद गौतमके न्यायसूत्रगत (१।१।५) सूत्र-का त्रिसूत्रीकरण करनेसे इस प्रकार व्याख्यान किया जा सकता है कि पूर्ववत्-शेषवत् केवलान्वयि, पूर्ववत्-सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकि और पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट अन्वयव्यतिरेकि हेतु हैं, अतः उक्त दोष सम्भव नहीं है, तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ऊपर कहे हेतुओंमें त्रैविध्य भी सम्भव है। अर्थात् उक्त हेतुओंको केवलान्वयि आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन रूप भी माना जा सकता है। केवलान्वयि हेतुमें तथोपपत्तिका नियम पाये जानेसे गमकताका कोई विरोध नहीं है। यही बात केवल-व्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि हेतुओंमें भी समझना चाहिए।

यदि उक्त सूत्रकी यह व्याख्या करें कि कारणसे कार्यका अनुमान करना पूर्ववत् है, कार्यसे कारणका अनुमान शेषवत् है और अकार्यकारण-से अकार्यकारणका अनुमान सामान्यतोदृष्ट है, क्योंकि सामान्यतः उनमें अविनाभाव है, तो वह भी हमें अभिमत है, क्योंकि हम पहले ही संक्षेपमें उक्त सभी हेतुओंका संग्रह प्रतिपादन कर आये हैं।

अगर उसको यह व्याख्या करें कि लिङ्ग-लिङ्गीसम्बन्धका कहीं निश्चय करके अन्यत्र प्रवृत्त होनेवाला हेतु पूर्ववत् है, प्रसक्तका निषेध करके शेषका अनुमान करनेवाला शेषवत् है, जिसे परिशेषानुमान भी कहा गया है और किसी विशिष्ट व्यक्तिमें सम्बन्ध (व्याप्ति) के ग्रहणपूर्वक सामान्यतः देखना सामान्यतोदृष्ट है, 'जैसे सूर्य गतिमान् है, क्योंकि एक देशसे दूसरे देशमें प्राप्ति होती है, देवदत्तकी तरह', तो यह व्याख्या भी स्याद्वादियोंके लिए तिरस्कृत नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा पूर्वोक्त हेतुओंके विस्तारका ही विशेष प्रकाशन होता है। निश्चय ही सभी हेतु पूर्ववत् ही है, क्योंकि शेषवत् भी पूर्ववत् सिद्ध होता है। जो प्रसक्तका प्रतिषेध है वह परिशेषकी प्रतिपत्तिका अविनाभावी है। उसका पहले कहीं निश्चय किया जाता है तभी वह अन्यत्र साध्य (परिशिष्ट) की सिद्धि-में साधनके रूपमें प्रयुक्त होता है। सामान्यतोदृष्ट पूर्ववत् अनुमान है, क्योंकि गतिकी अविनाभाविनी ही देशान्तरप्राप्ति देवदत्त आदिमें देखी जाती है। यदि वह गतिकी अविनाभाविनी न हो तो वह अनुमान ही नहीं हो सकता। इसी तरह सभी हेतु शेषवत् ही हैं, यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि धूमसे अग्निका अनुमान करने रूप पूर्ववत् भी प्रसक्त अनग्नि-का निषेध करके प्रवृत्त होता है। यदि अनग्निकी प्रसक्ति न हो तो अग्निमें विवाद न होनेसे अनुमान व्यर्थ हो जायगा। तथा देशान्तरप्राप्तिसे सूर्यमें गतिका अनुमान करने रूप सामान्यतोदृष्ट भी सूर्यमें प्रसक्त अगतिका निषेध करनेसे शेषवत् सिद्ध होता है। अथवा सभी हेतु सामान्यतोदृष्ट ही हैं, क्योंकि सभी अनुमानोंमें सामान्यसे ही लिंग और लिंगीके सम्बन्ध (अविनाभाव)का ज्ञान किया जाता है, विशेषरूपसे उसका ज्ञान नहीं किया जा सकता। कुछ विशेषताकी दृष्टिसे हेतुभेद माने जायें तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। जैसे भिन्न प्रकारसे हेतुभेदोंकी कल्पना की जाती है। हमारा कहना इतना ही है कि हेतुका प्रयोजक तत्त्व अन्यथानुप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पन्नत्वके नियमका निश्चय ही है, उसके होनेपर ही प्रतिपत्ता (अनुमाता) अपने भिन्न अभिप्रायवश हेतुभेदोंकी कल्पनाको भी अनेक प्रकारको मान सकता है, उसके अभावमें नहीं, नहीं तो वे हेतु न कहे जाकर हेत्वाभास कहे जायेंगे। इस प्रकार यह हमारा सुनिश्चित मत है। उसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है।

सांख्य अवीत, वीत और वीतावीत ये तीन हेतुके भेद मानते हैं सो वे भी अन्यथानुपपन्नत्वके नियमके निश्चयका अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित नहीं होते और न उपर्युक्त हेतुभेदोंसे अतिरिक्त हैं। नैयायिकोंके सिद्धान्तानुसार केवलान्वयी आदि तीन हेतुओंके रूपमें ही उनका कथन है। किसी एक जगह साध्यधर्म और साधनधर्मका अविनाभावनियमरूप साहचर्यको ज्ञातकर दूसरी जगह साधनधर्मको देखकर साध्यधर्मका ज्ञान करना अवीतानुमान है। जैसे—गुण और गुणी परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न ज्ञानोंका विषय हैं, घट और पटकी तरह। सो यह केवलान्वयो कहा जाता है। यथार्थमें कथंचित् भेदको ही साध्य बनानेपर हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व सिद्ध होता है। सर्वथा भेदको साध्य बनानेपर तो गुण-गुणीभावका विरोध होनेसे हेतु गमक नहीं हो सकता।

किसी जगह एक धर्म (साध्य)की व्यावृत्ति (अभाव) होनेपर दूसरे धर्म (साधन)की व्यावृत्ति (अभाव)को अविनाभावनियमसे सहित ज्ञातकर अन्य स्थानमें उस धर्म (साधन)के निश्चयसे साध्यकी सिद्धि करना वीतानुमान है। जैसे—'जीवित शरीर आत्मासहित है, क्योंकि उसमें प्राणादि पाये जाते हैं।' इसीको केवलव्यतिरेकि माना गया है। आत्मा परिणामी होनेसे उसकी राखमें आत्माकी व्यावृत्ति होनेपर प्राणादिकी भी व्यावृत्ति नियमसे पायी जाती है। जो आत्माको निरन्वय क्षणिक अथवा कूटस्थ (सर्वथा नित्य) स्वीकार करते हैं उन्हींके मतमें प्राणादि अर्थक्रियाकी उत्पत्ति नहीं बन सकती।

तथा अवीत और वीत दोनोंका जिसमें लक्षण पाया जाये वह वीतावीत अनुमान है। इसीको अन्वयव्यतिरेकि कहा गया है। जैसे—'पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि उसमें धूम है'। इस अनुमानमें वीत और अवीत दोनोंके लक्षण अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक दोनों पाये जाते हैं, इसलिए यह वीतावीत अथवा अन्वयव्यतिरेकि अनुमान माना गया है। अतः वीतावीत अतिरिक्त हेतु नहीं है।

अत एव 'अन्यथानुपपन्नत्वके नियमका जिसमें निश्चय हो वह हेतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है' यह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि उसके साथ हेतुओंके सभी भेद, चाहे वे अतिसंक्षेपसे या संक्षेपसे या विस्तारसे या अतिविस्तारसे कहे गये हों, व्याप्त हैं अर्थात् इन सभी हेतुभेदोंमें अन्यथानुपपन्नत्वके नियमका निश्चय होनेसे वे सम्यक् हेतु माने गये हैं। इस प्रकारके साधनसे जो शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध साध्यको सिद्ध करनेके लिए विशिष्ट ज्ञान किया जाता है वह अनुमान है। किन्तु जो साध्य बाधित है, जैसे सर्वथा एकान्त, उसमें साधनकी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें वह विरुद्ध है, इसी तरह जो स्वयं अनिष्ट (अनभिप्रेत) है वह भी साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि अतिप्रसंग दोष होता है। तथा जो प्रसिद्ध है वह भी साध्य नहीं बन सकता, क्योंकि वह सिद्ध होनेसे उसे पुनः सिद्ध करना व्यर्थ है। अतः बाधित, अनभिप्रेत और सिद्ध ये तीनों साध्याभास हैं, क्योंकि वे साधनके विषय नहीं हैं। अकलंकदेवने भी कहा है—

'जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है वह साध्य है और उससे भिन्न अर्थात् अशक्य, अनभिप्रेत और प्रसिद्ध है वह साध्याभास है क्योंकि वह साधनका विषय नहीं होता। वह विरुद्ध (बाधित-अशक्य) आदि है।'

इस प्रकार उपर्युक्त साधनसे होनेवाला साध्यका विशिष्ट ज्ञान स्वार्थ अनुमान है, जो अभिनिबोधस्वरूप है और जो विशिष्ट मतिज्ञान है। उसकी 'अभिनिबोध' संज्ञा इस लिए है, क्योंकि साध्यको सिद्ध करनेके लिए अभिमुख (प्रवृत्त) एवं नियमित (अन्यथानुपपन्नत्वके नियमसे सहित) साधनसे वह ज्ञान (अनुमान), जो तर्क (ऊहा)का फल है उत्पन्न होता है (अभि – अभिमुख + नि – नियमित + बोध = अभिनिबोध। ऐसा ज्ञान स्वार्थानुमान है। परार्थ अनुमान श्रोत्रमतिज्ञान और अश्रोत्रमतिज्ञान-पूर्वक होनेके कारण अक्षरश्रुतज्ञान और अनक्षरश्रुतज्ञान है। किन्तु वचनात्मक परार्थानुमान मानना युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द, चाहे प्रत्यक्ष-परामर्शी (प्रत्यक्षोल्लेखी) हों और चाहे अनुमानपरामर्शी (अनुमानोल्लेखी) सभी द्रव्यश्रुत (पौद्गलिक) हैं, वे अज्ञाननिवृत्ति करानेमें असमर्थ हैं, ज्ञानात्मक परार्थानुमान ही अज्ञान-निवृत्ति करानेमें समर्थ है। यदि वचनात्मक परार्थानुमान माना जाय तो प्रत्यक्ष भी वचनात्मक परार्थ क्यों नहीं होगा, क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है—दोनों समान हैं। प्रतिपादक और प्रतिपाद्यजनोंके स्वार्थानुमान और परार्थानुमानके कार्य तथा कारण होनेसे अनुमानपरामर्शी वाक्य (अनुमानावयववाक्यों)को उपचारसे परार्थानुमान कहनेमें हमें विरोध नहीं है, उन्हें मुख्य परार्थानुमान नहीं माना जा सकता, मुख्य परार्थानुमान तो ज्ञानात्मक ही हो सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, क्योंकि अज्ञानकी निवृत्ति उसीसे संभव है, अज्ञानरूप वचनात्मक परार्थानुमानसे नहीं।

यह 'अनुमान परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वह अविशद है, जैसे श्रुत-ज्ञान', इस प्रकार अनुमानका विस्तृत निरूपण किया गया।

श्रुत-ज्ञान

श्रुतज्ञानका स्वरूप क्या है? श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म-का क्षयोपशमविशेष, जो अन्तरंग कारण है, होनेपर और बहिरंग कारण मतिज्ञानके होनेपर मनके विषयको लेकर होनेवाला अविशद ज्ञान श्रुत-ज्ञान है, यह श्रुतज्ञानका स्वरूप है।

शंका—केवलज्ञान और तीर्थंकरनामक विशिष्ट पुण्यप्रकृतिके उदय-का निमित्त पाकर होनेवाली भगवान् तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे उत्पन्न और गणधरदेवको प्राप्त श्रुतज्ञानका उक्त श्रुतज्ञानलक्षणद्वारा संग्रह नहीं होता, अतः उक्त लक्षण अव्याप्त है?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतज्ञान भी श्रोत्र-मतिज्ञानपूर्वक होनेसे उक्त लक्षणद्वारा संग्रहीत हो जाता है, जैसे प्रसिद्ध मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानीके वचनोंसे उत्पन्न प्रतिपाद्य (शिष्य) जनोंका श्रुतज्ञान अथवा समुद्रके घोष, मेघोंकी गर्जना (गड़गड़ाहट) आदिसे जन्य और उसके अविनाभावी पदार्थोंको विषय करनेवाला श्रुतज्ञान। इसलिए श्रुतज्ञानका उपर्युक्त लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष है, जैसे ऊपर कहा गया अनुमानका लक्षण। यह श्रुतज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह अविसंवादी है, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान। श्रुतज्ञानमें अवि-संवादीपना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि उससे पदार्थका ज्ञान करके प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषको किसी प्रकारका भ्रम आदि नहीं होता और अर्थ-क्रियामें सदा यथार्थता अवगत होती है, जैसे प्रत्यक्ष आदिसे होती है।

शंका—श्रोत्रमतिपूर्वक उत्पन्न श्रुतज्ञानसे वस्तुको जानकर प्रवृत्त हुए पुरुषको कहीं अविसंवादीपना प्राप्त नहीं होता, अतः श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि अन्यत्र भी वह अविसंवादी नहीं हो सकता?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि इस तरह तो प्रत्यक्षादि भी प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकेंगे। सीपमें चाँदीका ज्ञान करके प्रवृत्त हुए पुरुषको चाँदीसे होनेवाली अनुरागादि अर्थक्रियामें विसंवाद (विपरीत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान) होनेसे अन्यत्र होनेवाले प्रत्यक्षमें भी विसंवादकी सम्भावना होनेसे वह भी प्रमाण नहीं हो सकेगा।

यदि कहा जाय कि सीपमें होनेवाला चाँदीका ज्ञान तो प्रत्यक्षाभास है, अतः उसमें विसंवाद हो सकता है, सत्य प्रत्यक्षमें नहीं, जैसे अनुमान, तो श्रुतज्ञानाभाससे विसंवाद सम्भव है, सत्य श्रुतज्ञानसे वह कैसे हो सकता है। यहाँ नहीं कहा जा सकता कि सत्य श्रुतज्ञान असिद्ध है, क्योंकि लोकमें कितना ही व्यवहार उसीकी सत्यता पर आधृत है। दूसरे, सत्य श्रुतज्ञानकी साधिका युक्ति भी मौजूद है। वह यह है—'श्रोत्रमतिपूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान, जिसका प्रकरण चल रहा है, सत्य ही है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, जैसे प्रत्यक्ष आदि।' वह दो प्रकारका है—१. सर्वज्ञके वचनोंको सुननेसे होनेवाला और २. असर्वज्ञ (अस्मदादि) के वचनोंको सुनकर होनेवाला। सो यह दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, क्योंकि गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे वह होता है।

शंका—'नदीके किनारे लड्डुओंके ढेर पड़े हैं' ऐसा हास्यसे कहे गये किसी गुणवान् वक्ताके शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञानके साथ, जो असत्य है, 'निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न' साध्यको सिद्ध करनेके लिए दिया गया 'गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे वह होता है' हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है, अतः वह साध्यका गमक नहीं है?

समाधान—यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि हँसी-मजाक करनेवाला वक्ता गुणवान् नहीं हो सकता, हँसी-मजाक ही दोष है, जैसे अज्ञान आदि।

शंका—विचारप्राप्त श्रोत्रमतिपूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे उत्पन्न है, यह कैसे सिद्ध है?

समाधान—वह इस प्रकार सिद्ध है। हम कह सकते हैं कि 'विचारप्राप्त श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे उत्पन्न है, क्योंकि उसके बाधकोंका अभाव सुनिश्चित है। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष अर्थको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष, अनुमेय अर्थका साधक अनुमति और अत्यन्त परोक्ष अर्थका बोधक आगम ये तीनों भिन्न विषय होनेसे श्रुतज्ञानके बाधक नहीं हैं, अतः श्रुतज्ञानमें बाधकाभाव सिद्ध है। देशान्तर, कालान्तर और पुरुषान्तरकी अपेक्षासे भी उसमें संशय न होनेके कारण 'सुनिश्चित' विशेषण भी हेतुमें सुसिद्ध है, अतः श्रुतज्ञानके असिद्ध होनेकी आशंका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरस्त हो जाती है। हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि विपक्षमें कहीं वह रहता नहीं। विरुद्ध भी वह नहीं है, क्योंकि अगुणवान् वक्ताके शब्दोंसे जन्य श्रुतज्ञान, जिसमें बाधकाभाव सुनिश्चित हो, और जिसे वादी तथा प्रतिवादी दोनों स्वीकार करते हों, असम्भव है तथा परस्पर विरोध भी है। जो कथंचित् अपौरुषेय शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञान है वह गुणवान् व्याख्याताके व्याख्यात शब्दोंसे उत्पन्न होनेके कारण निर्दोष कारणोंसे जन्य सिद्ध है। इस लिए वह सत्य है। इस प्रकार स्याद्वादियोंके लिए कोई दोष नहीं है। पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिकनयकी गौणतासे कथन करने पर श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके शब्दोंसे जनित सिद्ध होता है तथा द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और पर्यायार्थिकनयकी गौणताकी विवक्षा करनेपर वह गुणवान् व्याख्याताके व्याख्यात शब्दोंसे जनित भी उपपन्न हो जाता है। ध्यातव्य है कि शब्द न सर्वथा पौरुषेय प्रमाणसे सिद्ध होता है और न अपौरुषेयसे।

शंका—'विचारप्राप्त शब्द पौरुषेय ही है, क्योंकि वह प्रयत्नका अविनाभावि है, जैसे पटादिक' इस अनुमानसे आगमको, जो दो प्रकारका है—१. अंगप्रविष्ट और २. अंगबाह्य, और अंगप्रविष्ट द्वादशांग (बारह अंगों) रूप तथा अंगबाह्य अनेक भेद (चउदह) रूप है, पौरुषेय मानना ही युक्त है, जैसे महाभारत आदि ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यह बतलाना आवश्यक है कि हेतु 'सर्वथा प्रयत्नका अविनाभावी' विवक्षित है अथवा 'कथंचित् प्रयत्नका अविनाभावी ?' प्रथम पक्ष असिद्ध है, क्योंकि स्याद्वादी द्रव्यार्थिककी अपेक्षा आगमको प्रयत्नका अविनाभावी स्वीकार नहीं करते। द्वितीय पक्ष विरुद्ध है, क्योंकि उससे आगम कथंचित् अपौरुषेय भी सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि 'प्रवचन प्रयत्नका अविनाभावी है' इसका क्या मतलब है ? क्या उच्चारक पुरुषके प्रयत्नके अनन्तर उसकी उपलब्धि होती है या उत्पादक पुरुषके प्रयत्नके अनन्तर वह उपलब्ध होता है ? प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर उच्चारक पुरुषकी अपेक्षा प्रवचन अपौरुषेय ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसका प्रवाह विद्यमान रहता है। द्वितीय विकल्प मानने पर पुराणपुरुषों द्वारा रचित काव्यप्रबन्ध ही पौरुषेय सिद्ध होंगे, प्रवचन नहीं, क्योंकि अनादिनिधन होनेसे उसका उत्पादक पुरुष नहीं है। 'सर्वज्ञ उसका उत्पादक है', यह भी नहीं, क्योंकि प्रश्न होगा कि वह वर्णात्मक प्रवचनका उत्पादक है अथवा पदवाक्यात्मक प्रवचनका ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णोंका सद्भाव उससे पूर्व भी विद्यमान रहता है। यह कहना भी युक्त नहीं कि 'उन वर्णोंके समान वर्णोंका सद्भाव उससे पूर्व रहता है, उन्हीं-का नहीं, जैसे घटादिक', क्योंकि इस प्रकार उन वर्णोंका अनुवादक उत्पादक क्यों नहीं हो जायेगा ? वर्णोंके अनुवादसे पहले भी उन्हींके समान वर्णोंका सद्भाव रहनेसे अनुवादित होनेवाले वर्ण उसी समय होते हैं। फलतः कोई भी वर्णोंका अनुवादक नहीं बन सकेगा, सभी उत्पादक ही सिद्ध होंगे। जिस प्रकार कुम्हार आदि घड़ा आदिके उत्पादक हैं, अनुकारक नहीं, उसी प्रकार वर्णोंके भी उत्पादक हैं और इस तरह अनुवादकका व्यवहार नहीं हो सकेगा।

यदि कहें कि पूर्वोपलब्ध वर्ण और वर्तमान वर्ण दोनोंमें सादृश्य होनेसे उनमें एकत्वका उपचार हो जाता है, अतः उन वर्णोंको पीछे बोलनेवाला अनुवादक ही है, क्योंकि 'उसने वर्णोंको कहा है, मैंने नहीं' इस प्रकारसे स्वतंत्रताका परिहार होकर परतंत्रताका अनुसरण होता है, तब तो जैसे वह वर्णोंका पठितानुवादक है उसी तरह उनका पाठयिता भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसका भी स्वातंत्र्य नहीं है, सभी अपने उपाध्यायसे पढ़नेके कारण उनके अधीन हैं। अतः इस प्रकार कहा जाना चाहिए—

'इस जगत्में कोई पुरुष वर्णोंको स्वतंत्रतापूर्वक प्राप्त नहीं करता, जिस प्रकार इसके लिए दूसरोंने वर्णोंको कहा है उसी प्रकार यह वर्णोंको दूसरोंके लिए कहेगा और दूसरे भी इसी तरह अन्योंके लिए उन वर्णोंको कहेंगे, इस तरह सम्प्रदाय (परम्परा) को न तोड़नेवाले व्यवहारके द्वारा इन वर्णोंमें अनादित्व सिद्ध होता है ॥१,२॥

फलतः सर्वज्ञ भी अनुवादक ही है, क्योंकि पूर्व-पूर्व सर्वज्ञके द्वारा कहे गये ही चौंसठ वर्णोंका उत्तरोत्तरवर्ती सर्वज्ञों द्वारा अनुवाद होता है। यदि पूर्व सर्वज्ञके द्वारा कहे वर्ण उपलब्ध न हों तो उत्तरवर्ती सर्वज्ञ असर्वज्ञ हो जायेगा। इस प्रकार जो अनादि सर्वज्ञ-परम्परा मानते हैं उनके मतमें कोई सर्वज्ञ वर्णोंका उत्पादक नहीं है, वह उनका अनुवादक है। द्वितीय पक्ष (अर्थात् पदवाक्यात्मक प्रवचनका सर्वज्ञ उत्पादक है) भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि प्रवचनके पद-वाक्य भी पूर्व-पूर्व सर्वज्ञों द्वारा कहे गये ही हैं, उन्हींका उत्तरोत्तरवर्ती सर्वज्ञ अनुवाद करते हैं। प्रवचन (आगम) हमेशा अंग-प्रविष्ट, जिसके बारह भेद हैं और अंगबाह्य, जिसके अनेक (चउदह) भेद हैं इन दो रूपोंमें विभक्त रहता है। उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य प्रकारके वर्णों या पद-वाक्योंकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा अपूर्व उत्पन्न नहीं होता ॥२-१६५॥

शंका—एक महेश्वर, जो अनादि सर्वज्ञ है, वर्णोंका उत्पादक है, जैसे वह प्रथम सृष्टिके समय लोकोंका उत्पादक है, क्योंकि वह सदा स्वतंत्र है, किसी दूसरे सर्वज्ञके पराधीन नहीं है। अतः वह वर्णोंका अनुवादक नहीं है ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि इस अनादि एक ईश्वर-का निरास आप्तपरीक्षा (का० १०, पृ० ५०) में किया गया है, अतः अनादि एक ईश्वर कपिल आदिकी तरह युक्तिसे सिद्ध नहीं होता। किसी तरह वह सम्भव भी हो, तो वह, जो सदा ईश्वर है, सर्वज्ञ है और ब्राह्म मानके अनुसार सौ-सौ वर्षोंके अन्तमें लोकोंका स्रष्टा है, पूर्व-पूर्व सृष्टिके समय स्वयं उत्पन्न किये गये वर्ण और पद-वाक्योंका उत्तर-उत्तर सृष्टि-कालमें उपदेष्टा होनेसे अनुवादक क्यों नहीं होगा। एक कवि, जिसने अपनी काव्यरचना की है, उसका पुनः-पुनः कथन करनेपर अनुवादक नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'शब्द और अर्थ दोनोंका पुनर्वचन पुनरुक्त है, केवल, अनुवादके अतिरिक्त' इस प्रतिपादनका विरोध आता है। उसी एकका पुनः-पुनः कथन किये जानेपर भी उसे अनुवाद न मानने पर वह पुनरुक्त ही सिद्ध होगा, जो एक दोष है और अनुवाद दोष नहीं है। अतः यदि कोई अपनी रची रचनाको पुनः कहता है और इस लिए उसे अनुवादक कहा जाता है तो महेश्वर भी अपने उत्पादित वर्ण-पद-वाक्योंका दूसरी आदि सृष्टिके समय पुनः पुनः कथन करनेसे अनुवादक है, क्योंकि पूर्व-पूर्व कथनको उत्तरोत्तर दुहराना अनुवाद है।

शंका—महेश्वर पूर्व-पूर्व वर्ण-पद-वाक्योंसे विलक्षण ही वर्ण-पद-वाक्योंकी रचना करता है, अतः वह अनुवादक नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि ऐसा किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता और यदि सिद्ध भी हो, तो प्रश्न उठता है कि वह क्या पूर्व-पूर्व वर्ण-पद-वाक्योंका ज्ञान न होनेसे उनका अप्रणेता है या शक्ति न होनेसे या प्रयोजन न होनेसे ? प्रथम पक्षमें उसके सर्वज्ञता नहीं बनेगी, जब कि वह सब प्रकारके वर्ण-पद-वाक्योंका ज्ञाता है, अन्यथा वह अनीश्वर हो जायेगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरको अनन्तशक्ति माना गया है। यदि एक समयमें कुछ ही वर्ण-पद-वाक्योंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचनेकी शक्ति ईश्वरमें कही जाय, तो वह अनीशकी तरह अनन्तशक्ति कैसे हो सकता है ? तृतीय पक्ष भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि समस्त वाचकों (वर्ण-पद-वाक्यों) का प्रकाशन ही उसका प्रयोजन है, जैसे समस्त वाच्यार्थका प्रकाशन अथवा समस्त जगत्की रचना उसका प्रयोजन है। प्रतिपाद्यजनोंके अनुरोधसे किन्हीं ही वर्णादिकोंका प्रणयन माननेपर जगत्के उपभोक्ता प्राणियोंके अनुरोधसे किन्हीं ही जगत्के कार्योंकी सृष्टि होगी, सबकी नहीं। फलतः ईश्वरके द्वारा जो कार्य नहीं रचे गये उनके साथ 'कार्यत्व' हेतु व्यभिचारी होनेसे वह समस्त कार्योको ईश्वरनिमित्तक सिद्ध नहीं कर सकेगा ॥२, १६७॥

यदि कहें कि समस्त प्रकारके वर्णादिवाचकोंके समूहको जाननेकी इच्छा रखनेवाला कोई प्रतिपाद्य ही सम्भव नहीं है, तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञका उपदेश प्रतिग्राहक (सर्वकल्याणकारी) नहीं हो सकेगा। इसे सम्भव माननेपर प्रत्येक सर्गमें समस्त वर्णादिकोंका प्रणेता ईश्वर अनुवादक ही सिद्ध होगा, उत्पादक कभी सिद्ध न होगा। इसलिए अनेक ही सर्वज्ञ मानना चाहिए, एक ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है। तथा जिस प्रकार एक सर्वज्ञ किसी वस्तुको 'नयी' कहता है उसीको दूसरा सर्वज्ञ 'पुरानी' बतलायेगा और इस तरह अनेक सर्वज्ञोंकी कल्पना करनेपर परस्पर विरोध आता है और वस्तुकी व्यवस्था असम्भव है। उसी प्रकार एक ईश्वरकी भी अनेक सर्गोंमें प्रवृत्ति माननेपर उसके अनेक उपदेश मानने होंगे। सो पूर्व सर्गमें जिस वस्तुको ईश्वरने 'नयी' कहा उसे ही उसने उत्तर सर्गमें 'पुरानी' बतलाया और इस तरह एक ईश्वरके माननेपर भी परस्पर विरोध आता है। यदि कहा जाय कि एक ईश्वर एक वस्तुको 'नयी पुरानी' एक कालमें ही नहीं बतलाता, इसलिए परस्पर विरोध नहीं आता, तो अनेक सर्वज्ञोंके भी कालभेदसे 'नयी पुरानी' बतलानेपर कैसे परस्पर विरोध आता है। अतः अनादि एक ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है।

सोपायविशेषसिद्ध अनेक सर्वज्ञ तो प्रमाणसिद्ध हैं और वे चिरतर कालतक विच्छेदको प्राप्त होनेपर भी प्रवाहसे परमागमके अभिव्यंजक—अनुवादक हैं, क्योंकि प्रयत्नके बाद उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः 'कथंचित् प्रयत्नका अविनाभावी' हेतु उसे कथंचित्पौरुषेय सिद्ध करता है। उसीको पद्यों द्वारा बताया जाता है—

'परमागमकी परम्परा अनादिनिधन है। असर्वज्ञकी तरह कोई सर्वज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं उसका उत्पादक नहीं है। एक सर्वज्ञ अपनी महिमासे उसका प्रकाशन करता है तथा दूसरा भी उसे प्रकाशित करता है। इस प्रकार सर्वज्ञकी परम्परा अनादि सिद्ध है। उनके द्वारा कहे शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञान पूर्णतया प्रमाण जानना चाहिए, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होता है। बाह्य (अनाप्तोक्त) श्रुत पुरुषकृत पदरचनात्मक होनेसे दो प्रकारका है—१. आर्ष और २. अनार्ष अथवा संक्षिप्त और विस्तृत। जो निर्दोष ऋषियोंके द्वारा कहे गये वचनोंसे उत्पन्न है वह आर्ष श्रुतज्ञान है और निर्बाध होनेसे प्रमाण है और जो ऋषियोंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंके द्वारा कहे वचनोंसे उत्पन्न होता है वह अनार्ष श्रुतज्ञान है। यह दो प्रकारका कहा गया है—१. एकान्तवादियों द्वारा कथित, जो विभिन्न मतरूप है और २. लौकिक। यह दोनों प्रकारका श्रुत मिथ्या है, क्योंकि वह राग-द्वेष-मोहादि दोषकारणोंसे उत्पन्न होता है और इसलिए वह प्रमाण नहीं है। किन्तु सम्यग्दृष्टिका श्रुतज्ञान सुनयकी विवक्षा रखनेके कारण प्रमाण है॥ श्लो० १-७॥'

शंका—निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण श्रुतज्ञानको प्रमाण सिद्ध करनेपर चोदना (वेद) ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिए, क्योंकि वह भी पुरुषगत दोषोंसे रहित चोदना (वेद) से उत्पन्न होता है और चोदना सर्वथा अपौरुषेय है। कहा भी है—

'चोदनाजन्य ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होता है, जैसे लिंगसे, आप्तवचनसे और इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान।'

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न' शब्दके द्वारा 'गुणवान् कारणोंसे उत्पन्न' यह अर्थ अभिप्रेत है, लिंगज्ञान, आप्तवचनज्ञान और इन्द्रियज्ञान इन तीनोंमें भी वही अर्थ लिया गया है। प्रकट है कि लिंगमें अपौरुषेयतारूप निर्दोषता नहीं है, अपितु साध्यके साथ अविनाभावनियमका निश्चय होना रूप गुणके सद्भावसे गुणवत्तारूप निर्दोषता पायी जाती है। इसी तरह आप्तवचनमें अविसंवाद गुणके कारण गुणवत्ता है तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंमें निर्मलता आदि गुणोंके रहनेसे गुणवत्ता है।

शंका—कारणकी निर्दोषता दोषरहितता है। वह कहीं दोषोंके विरोधी गुणोंके सद्भावसे होती है, जैसे मनु आदि ऋषियोंके द्वारा रचित स्मृतियोंमें। और कहीं दोषोंके कारणके अभावसे वह (दोषरहितता) होती है। जैसे वेदमें। वही कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'शब्दोंमें दोषोंकी उत्पत्ति वक्ताके अधीन हैं सो दोषोंका अभाव कहीं तो गुणवान वक्ताके कारण हो जाता है, क्योंकि उसके गुणोंसे दोष भाग जायेंगे और फिर वे शब्दमें संक्रमण नहीं कर सकते। अथवा वक्ताके न होनेसे वे निराश्रय नहीं रहेंगे ?'

समाधान—इस शंकामें कुछ भी सार नहीं है, क्योंकि सर्वत्र गुणोंका अभाव ही दोष है और गुणोंका सद्भाव ही निर्दोषता है। अभाव दूसरी वस्तुके सद्भावरूप प्रसिद्ध है। यदि वह (अभाव) तुच्छरूप हो तो वह प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। यथार्थमें 'गुणवान वक्ता' कहनेसे 'दोषरहित वक्ता' का ही बोध होता है। यदि ऐसा न हो तो गुणों और दोषोंमें सहानवस्थान (एक साथ न रहना) कैसे बन सकेगा। राग, द्वेष और मोह ये निश्चय ही वक्ताके दोष हैं, जो असत्य कथनके कारण हैं और उनके विरोधी वैराग्य, क्षमा और तत्त्वज्ञान वक्ताके गुण हैं, जो उनके अभावरूप हैं और सत्य कथनके कारण हैं, यह सभी परीक्षकोंका हार्द है।

एक बात और है। स्मृतिशास्त्रोंके रचयिता मनु आदि गुणवान् नहीं हैं, क्योंकि उनके उक्त प्रकारके गुण नहीं पाये जाते। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि मनु आदिका उपदेश निर्दोष वेदके आश्रयसे हुआ है, अतः वे गुणवान् हैं, क्योंकि वेदमें गुणवत्ता नहीं है। उसका कारण गुणवान् पुरुषका अभाव है। जिस प्रकार दोषवान् पुरुष वेदका कर्त्ता न होनेसे उसमें निर्दोषता सिद्ध होती है उसी प्रकार गुणवान् पुरुष भी उसका कर्त्ता न होनेसे उसमें अगुणवत्ता सिद्ध होगी। अतः वेद गुणवान् नहीं है। अगर कहा जाय कि वेदका अपौरुषेय होना ही उसका गुण है, तो अनादि कालीन म्लेच्छादिके व्यवहार (परम्परा) भी अपौरुषेय होनेसे गुणवान् कहे जायेंगे। अतः कहना चाहिए कि—

'वेद निर्दोष नहीं है, क्योंकि गुणवान् पुरुष उसका कर्ता नहीं है, न गुणवान् पुरुष उसका व्याख्याता अथवा प्रवक्ता है, जैसे म्लेच्छादिके व्यवहार। अतः वेदसे जो ज्ञान होता है वह निर्दोष कारण जन्य नहीं है, तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है, जैसे परमागमका ज्ञान प्रमाण है। इतने लम्बे अनादिकालमें अपौरुषेयवेदका उच्छेद भी सम्भव है, जिसका सर्वज्ञके बिना कोई अतीन्द्रियार्थदर्शी उद्धारक नहीं है। स्याद्वादियोंके मतमें तो उक्त लम्बे समयमें उच्छिन्न परमागमकी परम्पराको प्रकाशक सर्वज्ञसन्तति है। और जिस प्रकार सर्वज्ञसन्तति परमागमकी परम्पराकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक है उसी प्रकार वह समस्त भाषाओं तथा कुभाषाओंकी भी प्रकाशक है, क्योंकि उनकी ध्वनि (उपदेश) सर्वभाषास्वभाववाली है। अतः वह परमागमरूप श्रुतज्ञान परमार्थसे परोक्ष प्रमाण सुसिद्ध है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, जैसे प्रत्यक्ष ।। श्लो० १-६।।'

इसलिए यह बिलकुल ठीक कहा कि 'प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण हैं, इन्हींमें अन्य सभी प्रमाणोंका भी समावेश हो जाता है।' इस प्रकार प्रमाण-संख्या सम्बन्धी विवादका जो ऊपर निराकरण किया गया है वह युक्त और निर्दोष है, जैसे प्रमाण-लक्षणसम्बन्धी विवादका निराकरण ।।२-१७५ ।।

३. प्रमाणविषय-परीक्षा

इस प्रकरणमें प्रमाणके विषयका विवाद दूर करनेके लिए उसकी भी परीक्षा की जाती है।

'प्रमाणका विषय (प्रमेय) द्रव्य और पर्यायरूप वस्तु है, क्योंकि उसके सिवाय अन्य विषय सिद्ध नहीं होता।' इस अनुमानसे प्रमाणका विषय—परिच्छेद्य द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप अवगत होता है।

इस अनुमानमें प्रयुक्त हेतुको दूषित करनेके लिए बौद्ध कहते हैं कि 'प्रत्यक्षप्रमाण केवल स्वलक्षण (विशेष-पर्याय) को और अनुमान-प्रमाण केवल सामान्य (सन्तान–द्रव्य)को विषय करता अर्थात् जानता है, दोनों-को विषय करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। अतः उक्त अनुमानमें प्रयुक्त हेतु इन (प्रत्यक्षप्रमाणके विषय मात्र विशेष और अनुमानप्रमाणके विषय केवल सामान्य)के साथ अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है।' बौद्धोंका यह कथन सम्यक् नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। प्रकट हैं कि प्रत्यक्ष केवल सामान्यकी तरह केवल विशेषको और अनुमान केवल विशेषकी तरह केवल सामान्यको विषय करनेवाला प्रतीत नहीं होता। यथार्थमें सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्यरूप वस्तु होती, तो प्रत्यक्ष और अनुमान उक्त प्रकारकी वस्तुको विषय करते। किन्तु वस्तु तो सामान्य और विशेषरूप अथवा द्रव्य और पर्यायरूप जात्यन्तर अर्थात् तृतीय प्रकारकी उभयात्मक प्रतीति होती है तथा प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्तिकी प्रवृत्ति भी उसीमें होती है और प्राप्ति भी उसे उसीकी होती है। वस्तु उभयात्मक न हो, केवल विशेष अथवा केवल सामान्यरूप ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, तो उससे कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि स्वलक्षण (विशेष), जो गोत्वसामान्यसे रहित गोव्यक्तिरूप कहा जाता है, गोदोहन आदि अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है, क्योंकि उसमें क्रम और यौगपद्य (अक्रम) दोनों ही नहीं बनते, जैसे वे केवल सामान्यमें नहीं बनते। क्रम और यौगपद्यकी व्याप्ति परिणमनके साथ है और परिणमन क्षणिक स्वलक्षणमें सम्भव नहीं, जैसे वह नित्य सामान्यमें सम्भव नहीं है। इस तरह केवल स्वलक्षणमें परिणमनके अभावमें क्रम और यौगपद्यका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि उसके साथ उनकी व्याप्ति (अविनाभाव) है तथा क्रम और यौगपद्यके अभावमें अर्थक्रियाका अभाव और अर्थक्रियाके अभावमें उसमें अवस्तुत्व ही प्राप्त होता है, वस्तुत्व नहीं। इसी प्रकार केवल सामान्यके विषयमें भी जान लेना चाहिए। अतः वस्तु सामान्य और विशेष अथवा द्रव्य और पर्याय उभयरूप प्रसिद्ध होती है। प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति ये तीनों भी उसी प्रकारकी वस्तुमें दृष्टिगोचर होती हैं, अत एव वही प्रमाणका विषय है। उसके एक देशरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्यको विषय करनेवाला प्रमाणाभास कहा जायेगा। प्रमाण वही है जो यथार्थ वस्तुको ग्रहण करता है। किन्तु हाँ, प्रमाणके उभयात्मक विषयके एक देश (सापेक्ष विशेष अथवा सापेक्ष सामान्य) को जो ग्रहण करता है और इतर अंशका निषेध नहीं करता वह सुनय (सम्यक्नय) अर्थात् प्रमाणका एक देश है। किन्तु इतर अंशका निषेध करके मात्र एक अंश (केवल विशेष या केवल सामान्य अथवा केवल पर्याय या केवल द्रव्य)को ही जो ग्रहण करता है वह दुर्नय (मिथ्यानय) है। अतएव दुर्नयके विषय (केवल विशेष अथवा केवल सामान्य)के साथ उपर्युक्त हेतु अनैकान्तिक नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणका विषय नहीं हैं अर्थात् प्रमाणविषयत्व हेतु उसमें नहीं जाता।

अतः प्रमाणका विषय द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप अनेकान्तात्मक जात्यन्तर वस्तु है। इस प्रकार प्रमाणके विषयमें जो दार्शनिकोंका विवाद है वह निरस्त हो जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्ध केवल विशेषको, सांख्य केवल सामान्यको और नैयायिक-वैशेषिक स्वतंत्र दोनोंको प्रमाणका विषय स्वीकार करते हैं, जो उक्त प्रकारसे परीक्षा करनेपर युक्त नहीं हैं।

४. प्रमाणफल-परीक्षा

इस अन्तिम (चौथे) प्रकरणमें प्रमाणके फलका विमर्श किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणके फलपर विमर्श करनेपर वह प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि वह प्रमाणका फल है। प्रमाण-का फल प्रमाणसे न सर्वथा भिन्न होता है और न सर्वथा अभिन्न।

स्मरणीय है कि बौद्ध प्रमाणके फलको प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न और सांख्य तथा नैयायिक-वैशेषिक सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। ग्रन्थकार इन दोनों (अभेदवादियों और भेदवादियों) के मतोंकी समीक्षा करते हुए कहते हैं कि उक्त दोनों मत युक्त नहीं हैं, क्योंकि अनुमानसे प्रमाण-का फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न दोनों सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—

'प्रमाणसे फल कथंचित्—करण और क्रियाके भेदकी अपेक्षासे भिन्न है और कथंचित्—एक प्रमातारूप आधारकी अपेक्षासे वह अभिन्न है, क्योंकि वह प्रमाणका फल है।'

शंका—हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धिरूप फल (परम्परा) के साथ हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि वह सर्वथा भिन्न होता है ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि हानादिबुद्धिरूप परम्पराफल भी एक प्रमाता आत्मामें होनेके कारण प्रमाणसे अभिन्न सिद्ध है। यथार्थमें जो वस्तुको सम्यक् जानता है, वही छोड़ने योग्यको छोड़ता, ग्रहण करने योग्यको ग्रहण करता और उपेक्षायोग्यकी उपेक्षा करता है। यदि उसे (परम्पराफलको) प्रमातासे भिन्न माना जाय, तो अन्य प्रमाताकी तरह उस प्रमाताके प्रमाण और फलमें प्रमाण-फल भावकी व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः परम्पराफलके साथ, जो हानादि बुद्धिरूप है, उक्त हेतु अनैकान्तिक नहीं है।

शंका—अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात् प्रमाणफलके साथ हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वह प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न होता है ?

समाधान—यह शङ्का भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि उनमें करण और भावसाधनका स्पष्ट भेद है। निश्चय ही प्रमाण करणसाधन[1] होता है, क्योंकि वह स्वार्थनिर्णय (अज्ञाननिवृत्ति)में साधकतम (असाधारण कारण) होता है और स्वार्थनिर्णय (अज्ञाननिवृत्ति) रूप फल भावसाधन[2] (क्रिया)

---

१. प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणसाधनम्।

२. प्रमितिमात्रं प्रमाणमिति भावसाधनम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, जो उससे निष्पन्न होती है। इस तरह प्रमाण और अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात् फलमें कथंचित् भेद भी सिद्ध है।

इस विवेचनसे कर्त्तासाधनरूप[1] प्रमाणमें और फलमें भी कथंचित् भेद जानना चाहिए क्योंकि स्व और बाह्य अर्थके निर्णयमें वह स्वतंत्र है और जो स्वतंत्र होता है वह कर्ता कहा जाता है तथा स्व और बाह्य अर्थका निर्णय अज्ञाननिवृत्तिरूप होनेसे क्रियारूप है। क्रिया क्रियावान्से न सर्वथा भिन्न ही होती है और न सर्वथा अभिन्न ही। अन्यथा दोनोंमें क्रिया और क्रियावान्‌की व्यवस्था नहीं बन सकती। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं है कि **'प्रमितिमात्रं प्रमाणम्'**—**'प्रमिति ही प्रमाण है'** इस प्रमाणशब्दकी व्युत्पत्तिके आधारपर भावसाधन प्रमाणसे अज्ञाननिवृत्तिरूप फल अभिन्न ही है, क्योंकि जिस समय प्रमाता उदासीन है, किसी पदार्थको जान नहीं रहा—अव्यापृत है उस समय भी भावसाधनप्रमाणरूप प्रमाणशक्ति सिद्ध है और वह शक्ति अज्ञाननिवृत्तिरूप फल नहीं हो सकती। वास्तवमें जो अपने तथा बाह्य पदार्थके सम्यक् जाननेमें संलग्न है वही प्रमाण प्रमाताके अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ है, अन्य नहीं है, अन्यथा प्रमाताके वस्तुपरिच्छित्तिके लिए व्यापार न करनेपर भी अज्ञाननिवृत्ति हो जायेगी। अतः ठीक कहा है कि **'प्रमाणका फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और अभिन्न है।**

यदि प्रमाणके फलको प्रमाणसे सर्वथा भिन्न स्वीकार किया जाय, तो उसमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, ठीक उसी तरह, जिस तरह अभिन्न माननेमें बाधाएँ आती हैं। तात्पर्य यह कि प्रमाणके फलको प्रमाणसे सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न स्वीकार करनेपर अनेक दोष आते हैं। पहला यही कि भिन्न माननेपर प्रमाण-फलकी नियत व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अमुक फल अमुक प्रमाताका ही है, अन्यका नहीं, यह व्यवस्था भंग हो जायगी, क्योंकि उनमें नियत व्यवस्थाको स्थापित करनेवाला कोई संयोगादि सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है। दूसरा दोष यह है कि प्रमाणका फल प्रमाणसे अभिन्न स्वीकार करनेपर दोनों एक हो जायेंगे—यह जानना और बताना असम्भव हो जायेगा कि यह

---

१. प्रमिणोति जानाति स्वपरार्थं यः सः प्रमाणः आत्मा इति कर्तृसाधनम्। एवं प्रमाणशब्दः करण-भाव-कर्तृसाधनेषु त्रिष्वपि वर्तते विवक्षावशात्तथा-प्रतीतेः।—सं०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण है और यह प्रमाणफल है। अभेदमें एकका अनुप्रवेश दूसरेमें हो जानेपर या तो प्रमाण ही रहेगा या प्रमाणफल। फलतः प्रमाण और फलकी भेदपक्षकी तरह अभेदपक्षमें भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

अभेदवादी बौद्धोंका यहाँ कहना है कि 'प्रमाणके फलको प्रमाणसे अभिन्न माननेपर भी संवृति (कल्पना—तदन्यव्यावृत्ति) से अर्थात् अप्रमाणव्यावृत्तिसे प्रमाण और अफलव्यावृत्तिसे फल दोनों (प्रमाण-प्रमाणफल) का व्यवहार हो जायेगा—प्रमाण तथा प्रमाणफलकी व्यवस्था बन जायगी।' उनका यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि कल्पनासे उनका व्यवहार माननेपर उनकी काल्पनिक ही सिद्धि होगी, वास्तविक नहीं। इसलिए इष्टसिद्धिसाधनरूप प्रमाण और इष्टसिद्धिरूप फल दोनोंको वास्तविक मानना चाहिए, काल्पनिक नहीं, तभी इष्टसिद्धि सम्भव है और तभी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी भी सिद्धि हो सकेगी।

इसप्रकार संक्षेपमें प्रमाणके स्वरूप, उसकी संख्या, उसके विषय और उसके फलका सयुक्तिक परीक्षण किया।

ग्रन्थके अन्तमें आदि मंगल-पद्यकी तरह एक अन्त्य मंगल-पद्य भी ग्रन्थकारने दिया है, जिसमें उपसंहार पूर्वक उच्च (उत्तम) विद्या-फलकी प्राप्तिकी मंगल-कामना की गयी है—

सत्यासत्यके परीक्षक विवेकीजन उक्त प्रकारसे समीक्षित प्रमाणके लक्षण, प्रमाणकी संख्या, प्रमाणके विषय और प्रमाणके फलकी सम्यक् परीक्षा करके तथा वस्तुतत्त्व (यथार्थता) को अवगत कर दृढ़ एवं शुद्ध (निष्पक्ष) दृष्टि बनें अर्थात् यथार्थताको ग्रहण करें, जिससे वे विद्या (ज्ञान) का उच्च फल—पूर्ण आनन्द (मुक्ति) को प्राप्त करें। तात्पर्य यह कि बुद्धिमान् लोगोंको उचित है कि वे सत्यकी खोज करें और उसे प्राप्त कर ज्ञानके वास्तविक फल आनन्द (मोक्ष) को उपलब्ध करें। इसके लिए आवश्यक है कि वे प्रमाणके यथार्थ स्वरूप, यथार्थ संख्या, यथार्थ विषय और यथार्थ फलका निर्णय करें तथा अपनी दृष्टिको स्थिर और शुद्ध (निष्पक्ष) बनायें। फलतः वे विद्याफल (विद्यानन्द अर्थात् विद्या और आनन्द) को अवश्य प्राप्त करते हैं। 'विद्याफल' पदसे ग्रन्थ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारने अपना 'विद्यानन्द' नाम भी प्रकट किया जान पड़ता है, जिसका भाव यह है कि यह प्रमाण-परीक्षा आचार्य विद्यानन्द प्रणीत है। इसका जो अध्ययन-मनन करेंगे वे विद्यानन्द—विद्या और आनन्दके भोक्ता बनेंगे। साथ ही ग्रन्थकारने भी अपने लिए विद्याफलकी प्राप्तिकी मंगल-कामना की है।

इस प्रकार प्रमाण-परीक्षा पूर्ण हुई।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. ग्रन्थकार

इस 'प्रमाण-परीक्षा' ग्रन्थके कर्त्ता आचार्य विद्यानन्द हैं। ये विद्यानन्द वे ही विद्यानन्द हैं, जिन्होंने विद्यानन्द-महोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री आदि सुप्रसिद्ध एवं उच्चकोटिके दार्शनिक एवं न्याय-ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। यहाँ उन्हींका कुछ परिचय प्रस्तुत किया जाता है। विशेष परिचय हमने 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावनामें दिया है।

आ० विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ-वाक्योंका अपने ग्रन्थोंमें उद्धरणादिरूपसे उल्लेख करने वाले उत्तरवर्त्ती ग्रन्थकारोंके समुल्लेखों तथा विद्यानन्दकी स्वयंकी रचनाओंपरसे जो उनका संक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है, उसपरसे विदित हैं[1] कि विद्यानन्द वर्तमान मैसूर राज्यके पूर्ववर्त्ती गंगराजाओं—शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समकालीन विद्वान् हैं। इनका कार्यक्षेत्र मुख्यतया इन्हीं गंगराजाओंका राज्य मैसूर प्रान्तका वह बहुभाग था, जिसे 'गंगवाडि' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईस्वी चौथी शताब्दीसे ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवीं शतीमें श्रीपुरुष (शिवमार द्वितीयके पूर्वाधिकारी) के राज्यकालमें वह चरम उन्नतिको प्राप्त था। शिलालेखों तथा दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि इस राज्यके साथ जैनधर्मका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दिने इसकी स्थापनामें भारी सहायता की थी और आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि इस राज्यके गंगनरेश दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं कि ऐसे जिनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्यमें विद्यानन्दने बहुवास किया हो और वहाँ अपने बहुत समय-साध्य विशाल तार्किक ग्रन्थोंका प्रणयन किया हो। कार्यक्षेत्रकी तरह संभवतः यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा ज्ञात होता है, क्योंकि अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियोंमें उल्लिखित इस प्रदेशके राजाओंकी उन्होंने पर्याप्त प्रशंसा एवं यशोगान किया है[2]। इन्हीं तथा दूसरे प्रमाणोंसे विद्यानन्दका समय इन्हीं राजाओंका काल स्पष्ट ज्ञात होता है। अर्थात् विद्यानन्द ई० ७७० से ८४० के विद्वान् निश्चित होते है[3]।

---

१. लेखकद्वारा सम्पादित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना।

२. वही, प्रस्तावना पृ० ५२ तथा ५४।

३. ,, ,, ,, पृ० ५३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यानन्दके विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, अद्‌भुत अध्ययनशीलता, अपूर्व तर्कणा आदिके सुन्दर और आश्चर्यजनक उदाहरण उनकी रचनाओंमें पद-पदपर मिलते हैं। उनके ग्रन्थोंमें प्रचुर व्याकरणके सिद्धि-प्रयोग, अनूठो पद्यात्मक काव्य-रचना, तर्कागमयुक्त वादचर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शी जिनशासनभक्ति उन्हें निःसन्देह उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठतम कवि, अद्वितीय वादी, महान् सैद्धान्ती और सच्चा जिनशासनभक्त सिद्ध करनेमें पुष्कल समर्थ हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्‌मयमें कम-से-कम जैन परम्परामें तो कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियां उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, लघु समन्तभद्र, अभिनव धर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकोंके लिए पथप्रदर्शक एवं अनुकरणीय सिद्ध हुई हैं। माणिक्यनन्दि-का परीक्षामुख जहाँ अकलङ्कदेवके वाङ्‌मयका उपजीव्य है, वहाँ वह विद्यानन्दकी प्रमाण-परीक्षा आदि तार्किक रचनाओंका भी आभारी है। उसपर उनका उल्लेखनीय प्रभाव है[1]। वादिराजसूरि[2] (ई० १०२५) ने लिखा है कि यदि विद्यानन्द अकलङ्कदेवके वाङ्‌मयका रहस्योद्‌घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था। विदित है कि विद्यानन्दने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा अकलङ्कदेवकी अत्यन्त जटिल एवं दुरूह रचना अष्टशतीके तात्पर्यको 'अष्टसहस्री' व्याख्यामें उद्‌घाटित किया है। पार्श्वनाथचरितमें[3] भी वादिराजने विद्यानन्दके तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए यहाँ तक लिखा है—'आश्चर्य है कि विद्यानन्दके इन दीप्तिमान् अलङ्कारोंकी चर्चा करने-कराने और सुनने-सुनाने वालोंके भी अङ्गोंमें कान्ति आ जाती है तब फिर उन्हें धारण करने वालोंकी तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषणकी कृतियां भी विद्यानन्दके तार्किक ग्रन्थोंकी उपजीव्य हैं। उन्होंने इनके ग्रन्थोंसे स्थल-

---

१. प्रमाणपरीक्षा और परीक्षामुखकी तुलना, देखें—आप्तप०, प्रस्तावना पृ० २८-२९।

२. न्यायविनिश्चयविवरण भाग २, पृ० १३१।

३. ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
श्रृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति॥ पा० च० १–२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के-स्थल उद्धृत किए और अपने अभिधेयको उनसे पुष्ट किया है। विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीको, जिसके विषयमें उन्होंने स्वयं लिखा है[1] कि '**हजार शास्त्रोंको** सुनने**की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्रीको सुन लीजिए, उसीसे ही समस्त सिद्धान्तोंका ज्ञान हो जायेगा,**' पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए कि उन्होंने उस पर 'अष्टसहस्री-तात्पर्यविवरण' नामकी नव्यन्यायशैली प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस तरह हम देखते हैं कि आ० विद्यानन्द एक उच्चकोटिके प्रभावशाली दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनकी अनूठी दार्शनिक कृतियाँ भारतीय विशेषतः जैनवाङ्मयाकाशकी दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

जैन दर्शनको उनकी अपूर्व देन—

विद्यानन्दने जैन दर्शनको दो तरहसे समृद्ध किया है। एक तो अपनी कृतियोंके निर्माणसे और दूसरे उनमें कई विषयोंपर किए गए नये चिन्तन से। हम यहाँ उनके इन दोनों प्रकारोंपर कुछ विस्तारसे विचार करेंगे।

(क) कृतियाँ

जैन दर्शनके लिए विद्यानन्दकी जो सबसे बड़ी देन है वह है उनकी नौ महत्वपूर्ण रचनाएँ। वे ये हैं—

(१) विद्यानन्दमहोदय, (२) तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालङ्कार, (५) आप्तपरीक्षा, (६) प्रमाणपरीक्षा, (७) पत्रपरीक्षा, (८) सत्यशासनपरीक्षा और (९) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र। इनमें तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनालङ्कार ये तीन व्याख्या और शेष उनके मौलिक ग्रन्थ हैं।

(१) **विद्यानन्दमहोदय**—यह विद्यानन्दकी सम्भवतः आद्य रचना है, क्योंकि उनके उत्तरवर्ती प्रायः सभी ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख मिलता है[2]। और जो सूचनाएँ दी हैं उनमें कहा गया है कि प्रकृत विषयको विद्यानन्द-महोदयसे जानना चाहिये। किन्तु आज यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। विक्रमकी १३वीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व मिलता है। देव-

---

१. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः॥—अष्टस. पृ० १५७।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २७२, ३८५; अष्टसहस्री पृ० २९०; आप्तपरीक्षा पृ० २६२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूरिने[1] अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसके नामोल्लेख पूर्वक इसकी एक पंक्ति दी है और पंक्तिगत विषयकी आलोचना की है। देवसूरिके उल्लेखसे जहाँ इस ग्रन्थकी प्रसिद्धि और महत्ता प्रकट है वहाँ विद्यानन्द (नवमी शती) से देवसूरि (तेरहवीं शती) तक चार सौ वर्ष बाद भी इसका अस्तित्व सिद्ध है। शास्त्रभण्डारोंमें इसकी गहरी और सूक्ष्म खोज होना चाहिए। सम्भव है वह मिल जाय।

(२) **तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक**—यह आ० गृद्धपिच्छ (उमास्वामी अथवा उमास्वाति) रचित तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई विद्वत्तापूर्ण विशाल टीका है। जैन वाङ्मयके उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें यह बेजोड़ रचना है और तत्त्वार्थसूत्रकी समग्र टीकाओंमें प्रथम श्रेणीकी टीका है। इसमें अनेक नये विषयोंका अपूर्व चिन्तन है। लगता है कि जैमिनिसूत्रपर कुमारिलभट्ट द्वारा रचे गए मीमांसाश्लोकवार्त्तिकके जवाबमें विद्यानन्दने आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रपर यह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और उसका भाष्य लिखा है, जबकि कुमारिलने अपने मीमांसाश्लोकवार्त्तिकका भाष्य नहीं लिखा।

(३) **अष्टसहस्री**—यह स्वामी समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) पर लिखी गई महत्त्वपूर्ण रचना है। भट्टाकलङ्कदेव द्वारा देवागमपर रची गई गहन एवं दुरूह व्याख्या 'अष्टशती' को विद्यानन्दने इसमें ऐसा आत्मसात् किया है कि उसका पार्थक्य दिखाई नहीं देता। विद्यानन्दने मूल देवागमका तो मर्मोदघाटन इसमें किया ही है, अष्टशतीका भी हृदयस्पर्शी एवं आश्चर्यजनक मर्म उद्घाटित किया है।

(४) **युक्त्यनुशासनालङ्कार**—स्वामी समस्तभद्रके ही एक दूसरे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ युक्त्यनुशासनकी विद्यानन्दने इसमें व्याख्या की है। यह मध्यम परिमाणकी सुन्दर एवं विशद टीका है।

(५) **आप्तपरीक्षा**—स्वामी समन्तभद्रने जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मङ्गल-पद्य पर उसके व्याख्यानमें 'आप्तमीमांसा' लिखी है उसी प्रकार विद्यानन्दने उसी मङ्गलश्लोकके व्याख्यानमें यह 'आप्तपरीक्षा' रची है और उसकी स्वयं 'आप्तपरीक्षालङ्कृति' नामकी व्याख्या भी लिखी है। यह रचना विशद और सुबोध है।

(६) **प्रमाण-परीक्षा**—यह प्रस्तुत है। पूर्वोक्त ग्रन्थ-परिचयसे विदित है कि इसमें दर्शनान्तरीय प्रमाणोंके स्वरूपादिकी समीक्षापूर्वक

---

१. "महोदये च कालान्तराविस्मरणकरणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत् ।"—स्या० रत्ना पृ० ३४९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन सम्मत प्रमाणके स्वरूप, संख्या, विषय और फलका संक्षेपमें अच्छा एवं बोधगम्य विवेचन किया है।

(७) **पत्र-परीक्षा**—यह गद्य-पद्यात्मक लघु तर्क-रचना है। इसमें जैन दृष्टिसे पत्र (अनुमानप्रयोग) की व्यवस्था की गयी है और पराभिमत पत्रमान्यताओंकी मीमांसा की है। रचना बड़ी सुन्दर और प्रवाह-पूर्ण है।

(८) **सत्यशासनपरीक्षा**—इसमें विद्यानन्दने पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनों (मतों) की परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की है। परन्तु वर्तमान रचनामें ९ शासनोंकी तो पूरी परीक्षाएँ उपलब्ध हैं। किन्तु प्रभाकर-शासनका कुछ अंश, तत्त्वोपप्लवपरीक्षा और अनेकान्त-परीक्षा इसमें उपलब्ध नहीं हैं। इससे लगता है कि यह कृति विद्यानन्दके अन्तिम जीवनकी है, जिसे वे पूरा नहीं कर पाये हैं। रचना तर्कणाओंसे ओतप्रोत और बहुत ही विशद है।

(९) **श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र**—यह अतिशय क्षेत्र श्रीपुरके पार्श्वनाथके सातिशय प्रतिबिम्बको लक्ष्य कर रचा गया है और देवागमकी तरह इसमें उनके शासनको युक्तिशास्त्राविरोधी सिद्ध करके उन्हें स्तुत्य सिद्ध किया है। इसमें ३० पद्य हैं। २९ पद्य तो ग्रन्थ-विषयके प्रतिपादक हैं और अन्तिम ३० वां पद्य उपसंहारात्मक है। रचना दार्शनिक है।

(ख) नया चिन्तन

इन कृतियोंमें कितना ही नया चिन्तन उपलब्ध है। यदि हम उस सबका संकलन करें तो उसकी एक लम्बी और बृहद् सूची बनायी जा सकती है। किन्तु यहाँ कतिपय ही नये चिन्तित विषयोंकी चर्चा की जायगी।

(१) **भावना-विधि-नियोग**—इसमें सन्देह नहीं कि आ० विद्यानन्दका दर्शनान्तरीय अभ्यास अपूर्व था। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्ध दर्शनोंके वे निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें इन दर्शनोंके जो विशद पूर्वपक्ष प्रस्तुत किए हैं और उनकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है, उससे स्पष्टतया विद्यानन्दका समग्र दर्शनोंका अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जाना जाता है। किन्तु मीमांसा-दर्शनकी भावना, नियोग और वेदान्तदर्शनकी विधि सम्बन्धी दुरूह चर्चाको जब हम उन्हें अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्रीमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तारके साथ करते हुए देखते हैं तो उनकी अगाध विद्वत्ता, असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म प्रज्ञापर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उनका मीमांसा और वेदान्त दर्शनोंका कितना गहरा और तलस्पर्शी पाण्डित्य था, यह सहज ही उनका पाठक जान जाता है। जहाँ तक हम जानते हैं, जैन वाङ्मयमें यह भावना-नियोग-विधिकी दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्ण-बुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही की गई है और इसलिए जैन दर्शनको यह उनकी अपूर्व देन है। मीमांसादर्शनकी जैसी और जितनी सबल मीमांसा तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें है वैसी और उतनी जैन वाङ्मयकी अन्य कृतियोंमें नहीं है।

(२) **जाति-समीक्षा**—आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८२-४८७) और न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७६८–७७२) में जो ब्राह्मणत्व जातिकी विस्तृत और विशद मीमांसा की है तथा जाति-वर्णकी व्यवस्था जन्मसे न होकर गुण-कर्मसे सिद्ध की है उसका आरम्भ जैन ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम आ० विद्यानन्दसे हुआ जान पड़ता है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ३५८) में ब्राह्मणत्व आदि जातियोंकी व्यवस्था गुण-कर्मसे बतलाते हुए लिखा है कि ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियाँ सम्यग्दर्शनादि गुणों तथा मिथ्यात्वादि दोषोंसे व्यवस्थित हैं, नित्य जाति कोई नहीं है। जो उन्हें अनादि, नित्य सर्वगत और अमूर्त स्वभाव मानते हैं वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनोंसे बाधित है। इस तरह विद्यानन्दने जातियोंके सम्बन्धमें नये चिन्तनका सूत्रपात किया, जिसे प्रभाचन्द्र आदि उत्तरवर्ती तार्किकोंने पल्लवित एवं विस्तृत किया।

(३) **सह-क्रमानेकान्तकी परिकल्पना**—आचार्यमूर्धन्य गृद्धपिच्छने द्रव्यका लक्षण गुण और पर्याययुक्त प्रतिपादित किया है। यद्यपि यही लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द भी प्रकट कर चुके हैं। इसपर शङ्का की गई कि 'गुण' संज्ञा तो इतर दार्शनिकों (वैशेषिकों) की है, जैनोंकी नहीं। उनके यहाँ तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित है और इसीसे उनके ग्राहक द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो ही नयोंका उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहाँ मान्य हो तो उसको ग्रहण करनेके लिए एक और तीसरे गुणार्थिक नयकी भी व्यवस्था होना चाहिये? इस शङ्काका समाधान सिद्धसेन, अकलङ्क और विद्यानन्द इन तीनों प्रमुख तार्किकोंने किया है। सिद्धसेनने[1] बतलाया कि 'गुण' पर्यायसे

१. सन्मतिसूत्र ३–९, १०, १२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न नहीं—पर्यायमें ही गुणसंज्ञा जैनागममें स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक हैं। अतएव पर्यायार्थिक नय द्वारा ही गुणका ग्रहण होनेसे गुणार्थिक नय पृथक् उपदिष्ट नहीं है। अकलङ्क[1] कहते हैं कि द्रव्यका स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये सब उसके पर्याय शब्द हैं। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों विशेषके पर्यायवाची हैं। अतः सामान्यको ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेषको विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। अतएव गुणका ग्राहक द्रव्यार्थिक नय ही है, उससे जुदा गुणार्थिक नय प्रतिपादित नहीं हुआ। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं—पर्यायका ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलङ्कके इन समाधानोंके बाद भी शङ्का उठायी गयी कि यदि गुण, द्रव्य या पर्यायसे अतिरिक्त नहीं है तो द्रव्यलक्षणमें गुण और पर्याय दोनोंका निवेश क्यों किया? '**गुणवद् द्रव्यम्**' या '**पर्यायवद् द्रव्यम्**' इतना ही लक्षण पर्याप्त था? इसका उत्तर विद्यानन्दने[2] जो दिया वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सूक्ष्मप्रज्ञतासे भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरहके अनेकान्तोंका रूप (पिण्ड) है—१. सहानेकान्त और २. क्रमानेकान्त। सहानेकान्तका ज्ञान करानेके लिए गुणयुक्तको और क्रमानेकान्तका निश्चय करानेके लिए पर्याययुक्तको द्रव्य कहा है। अतः द्रव्यलक्षणमें गुण तथा पर्याय दोनों पदोंका निवेश युक्त एवं सार्थक है।

जहाँ तक हम जानते हैं, विद्यानन्दसे पूर्व अकलङ्कदेवने सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्तके भेदसे दो प्रकारके अनेकान्तोंका तो प्रतिपादन किया है। परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकांत इन दो तरहके अनेकान्तोंका कथन विद्यानन्दसे पूर्व उपलब्ध नहीं होता। इन अनेकान्तोंके कथन और उनकी सिद्धिके लिए द्रव्यलक्षणमें गुण तथा पर्याय दोनों पदोंके निवेशका समाधान विद्यानन्दकी अद्भुत प्रतिभाका सुपरिणाम है। उनका यह समाधान और स्पष्ट शब्दोंमें सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तोंकी परिकल्पना इतनी सजीव एवं सबल सिद्ध हुई कि स्याद्वाद-

---

१. तत्त्वार्थवार्त्तिक ५-३७।

२. गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये॥—तत्त्वा० श्लो० पृ० ४३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धिकार आ० वादीभसिंहने[1] उससे प्रेरणा पाकर उक्त अनेकान्तोंकी प्रतिष्ठाके लिए सहानेकान्तसिद्धि और क्रमानेकान्तसिद्धि नामसे दो स्वतन्त्र प्रकरणोंकी सृष्टि स्याद्वादसिद्धिमें की है तथा उनका विस्तृत विवेचन किया है।

(४) **व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुविवेचन**—अध्यात्मके क्षेत्रमें तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुका विवेचन किया ही जाता है, पर तर्कके क्षेत्रमें भी उनके द्वारा वस्तुविवेचन हो सकता है, यह दृष्टि हमें विद्यानन्दसे प्राप्त होती है। उन्होंने इन दोनों नयोंसे अनेक स्थलोंमें वस्तु-विवेचन किया है। **'निष्क्रियाणि च'** (त० सू० ५-७) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए वे तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ० ४०१) में लिखते हैं कि निश्चयनयसे सभी वस्तुएँ कथंचित् निष्क्रिय हैं और व्यवहारनयसे कथंचित् सक्रिय हैं। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्योंमें आधाराधेयताका विचार करते हुए वे कहते हैं[2] कि व्यवहारनयसे लोकाकाश तथा धर्मादि द्रव्योंमें आधाराधेयता है तथा निश्चयनयसे उनमें उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य अपनेमें अवस्थित होता है। अन्य द्रव्यकी स्थिति अन्य द्रव्यमें नहीं होती, अन्यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमें स्वरूपसांकर्य हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्यवस्था करते हुए वे त० सू० ५-१६ की टीकामें लिखते हैं[3] कि निश्चयनयसे सभी द्रव्योंकी उत्पादादि व्यवस्था विस्रसा (स्वभावतः) है। व्यवहारनयसे उनके उत्पादादिक सहेतुक हैं। अतः व्यवहार और निश्चयनयके स्वरूपको समझकर द्रव्योंकी आधाराधेयता तथा कार्यकारणभावकी व्यवस्था जहाँ जिस नयसे की गयी हो उसे उसी नयसे जानना चाहिए। इस तरह विद्यानन्दका व्यवहार और निश्चय द्वारा दर्शनके क्षेत्रमें वस्तु-विचार भी जैन दर्शनके लिए उनकी एक अन्यतम उपलब्धि है।

(५) **उपादान और निमित्तका विचार**—यों तो कारणोंका विचार सभी दर्शनोंमें है और उनकी विस्तारसे चर्चा की गयी है किन्तु जैन दर्शनमें उनका चिन्तन बहुत सूक्ष्म किया गया है। कार्यकी उत्पत्तिमें कितने कारणोंका व्यापार होता है, इस सम्बन्धमें न्याय तथा वैशेषिक

---

१. स्याद्वादसिद्धि ३-१ से ३-७४ तथा ४-१ से ४-८९।

२. त० श्लो० पृ० ४१०.

३. त० श्लो० पृ० ४१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनका मन्तव्य है कि समवायि, असमवायि और सहकारी इन तीन कारणोंका व्यापार कार्योत्पत्तिमें होता है। बौद्धदर्शनका मत है कि उपादान और सहकारी इन दो ही कारणोंसे कार्य उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन भी कारणोंका विचार करता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण कार्यकी उत्पत्तिसे न होकर उसके आविर्भावसे और कारणसे तात्पर्य केवल उपादानसे है। जो भी सरूप अथवा विरूप कार्य उत्पन्न होता है वह एकमात्र प्रकृतिरूप उपादानसे होता है, उसका कोई प्रकृतिसे भिन्न सहकारी कारण नहीं है। जैन दर्शन यद्यपि बौद्ध दर्शनकी तरह प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त इन दो ही कारणोंको स्वीकार करता है। परन्तु बौद्ध दर्शनकी मान्यतासे जैन दर्शनकी मान्यतामें बड़ा अन्तर है। बौद्ध दर्शन पूर्व रूपादिक्षणको उत्तर रूपादिक्षणमें उपादान तथा रसादि-क्षणको सहकारी मानता है। पर जैनदर्शन अव्यवहित पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्यको उपादान और कालादि सामग्रीको निमित्त स्वीकार करता है। यहाँ हम विद्यानन्दके सूक्ष्म चिन्तनके दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

प्रश्न है[1] कि उपादानके नाशसे उपादेयकी उत्पत्ति होती है। सम्यक्-दर्शन सम्यक्ज्ञानका उपादान है। अतः सम्यक्ज्ञानके उत्पन्न हो जाने पर सम्यक्दर्शनका नाश हो जाना चाहिए? इसके उत्तरमें विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेयकी उत्पत्तिमें उपादानका नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं, अन्यथा कार्यको उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दर्शनपरिणामसे परिणत आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है और वह विशिष्ट ज्ञानपरिणामकी उत्पत्तिका उपादान है। अन्वयरहित केवल पर्याय या केवल जीवद्रव्य उसका उपादान नहीं हैं, क्योंकि केवल पर्याय या केवल जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदिकी तरह अवस्तु हैं। इसी तरह दर्शन-ज्ञान परिणत जीव दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्रका उपादान है, क्योंकि पर्यायविशेष परिणत द्रव्य उपादान है, जिस प्रकार घटपरिणमनमें समर्थ पर्यायरूप मिट्टीद्रव्य घटका उपादान होता है। विद्यानन्द[2] उपादानका स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—'जो

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवा. पृ० ६८–६९।

२. त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥२॥—अष्टस० पृ० २१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व रूपको छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूपको न छोड़ता हुआ तीनों कालोंमें भी विद्यमान रहता है उस द्रव्यको उपादान कहा गया है। किन्तु जो सर्वथा अपने रूपको छोड़ देता है अथवा जो बिलकुल नहीं छोड़ता वह किसी भी वस्तुका उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य।' विद्यानन्दने उपादानके इसी लक्षणको सामने रखकर सर्वत्र उपादानोपादेयकी व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादानका विचार।

इसी प्रकार उन्होंने[1] निमित्त—सहकारि कारणका भी चिन्तन किया है। वे लिखते हैं कि बिना सहकारीसामग्रीके उपादान कार्यजननमें समर्थ नहीं है। जब तक अयोगकेवलिगुणस्थानका उपान्त्य और अन्त्य समय प्राप्त नहीं होता तब तक नामादिक कर्मोंके निर्जरणकी शक्ति प्रकट नहीं होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अतः अयोगकेवलीका अन्त्य क्षण ही शेष कर्मोंके क्षयमें कारण है। इस तरह सहकारी-सापेक्ष उपादान कार्यजनक है, अकेला नहीं। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दका यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जैन दर्शनके अनेकान्तवादी दृष्टिकोणको पुष्ट करता है।

इस तरह आचार्य विद्यानन्दने कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया है जो उनकी जैन दर्शनको नयी देन है और जो उसे गौरवास्पद एवं सर्वादरणीय बनाता है।

●

१. स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्षते।
कालादिसामाग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलः, तथाऽप्रतीतेः।
क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।
यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता॥
ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं तद्वदयोगिनः।
पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ॥—त० श्लो० पृ० ७०–७१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

: १ :

प्रमाणपरीक्षामें स्वोपज्ञ-पद्यानुक्रम

स्वोपज्ञ पद्य	पृ०
अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः	४९
जयन्ति निर्जिताशेष–	१
तत्प्रमाणं श्रुतज्ञानं	६५
ततो बाह्यं पुनः	६३
तया यज्जनितं ज्ञानं	६५
तत्रार्षमृषिभिः	६३
दुष्टकारणजन्यत्वा–	६३
नादुष्टा चोदना	६५
नेह वर्णान्निरः	६१
परमागमसन्तान–	६१
परेऽप्येवं	६३
प्रमाणादिष्टसंसिद्धे–	२८
यथैकः सकलार्थज्ञः	६३
वेदस्यापौरुषेयस्यो–	६५
सर्वभाषा कुभाषाश्च	६५
सिद्धा, तत्प्रोक्त–	६३
स्याद्वादिनां तु सर्वज्ञ–	६५

: २ :

प्रमाणपरीक्षामें उद्धृत अवतरणवाक्य

अवतरण वाक्य	पृ०
अन्यथानुपपत्त्येक– [ ]	४९
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र [ ]	४९
अभूतं लिंगमुन्नीतं [ ]	५५
आत्मा मनसा युज्यते [न्यायमं. पृ. ७४]	२
आद्ये परोक्षम् [त. सू. १।११]	४१
इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष– [त० वा० १।१२]	३८
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् [त० सू० ५।३०]	५०
कर्तृस्था कर्त्तरनन्या [ ]	१६
कर्मस्था क्रिया कर्मणो–[ ]	१६
कारणाद् द्विष्ठकार्यादि–[ ]	५५
चोदनाजनिता बुद्धिः [मी. श्लो. सू. ५ श्लो. १८४]	६३
तथोपात्तानुपात्तपर– [त० वा० १।११]	४१
तद्गुणैरपकृष्टानां [मी. श्लो. सू. २ श्लो. ६३]	६४
तदिन्द्रियानिन्द्रियनि– [त० सू० १।१४]	३९
तत्रापूर्वार्थविज्ञानं [ ]	२६
नैकं स्वस्मात्प्रजायते [आ० मी० का० २४]	१६
परपर्यनुयोगपराणि [ ]	२६
पारम्पर्यात्तु कार्यं [ ]	५५
पुनर्विकल्पयन् [ ]	८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविध- ५५
[न्या॰ सू॰ १।१।५]
प्रत्यक्षं विशदं ४२
[लघी॰ १।३]
प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ [ ] २६
प्रमाणेतरसामान्य- [ ] ३१
बहुधाप्येवमाख्यातं [ ] ५५
यस्तु पश्यति रात्र्यंते [ ] १६
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् २२
[त॰ सू॰ २।१८]
लिंगं समुदितं [ ] ५५
व्यवसायात्मनो दृष्टेः [ ] ९
सर्वं वै खल्विदं [ ] १५
संहृत्य सर्वतश्चिंतां [ ] ८
स्यात्कार्यं कारणं [ ] ५५
साध्यं शक्यमभिप्रेत- ५७
[न्याय वि॰ २।१७२]
षोढा विरुद्धकार्यादि-[ ] ५५
शब्दे दोषोद्भव— ६४
[मी. श्लो. सू. २ श्लो. ६२]
हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु ४८
[प्र॰ वा॰ १।१६]
ज्ञाते त्वर्थेऽनुमाता- २१
[शा॰ भा॰]
ज्ञानवान् मृग्यते क- [ ] ११

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. **प्रमाणलक्षण-परीक्षा**	१-२८
(क) सम्यग्ज्ञानप्रमाणसिद्धि	१
(ख) सन्निकर्ष-परीक्षा	१-५
(ग) सम्यग्ज्ञानमें स्वार्थ व्यवसायात्मकत्वसिद्धि	५
(घ) अव्यवसायात्मकत्व-परीक्षा	५-१२
(ङ) अर्थाव्यवसायात्मकत्व-परीक्षा	१३
(१) योगाचारमत-परीक्षा	१४
(२) वेदान्तमत-परीक्षा	१४
(३) स्वप्नज्ञानमें अर्थ-व्यवसायात्मकत्व-सिद्धि	१६
(च) अस्वसंवेदिज्ञान-परीक्षा	१७
(छ) परोक्षज्ञान-परीक्षा	२१
(ज) प्रधानपरिणामज्ञान-परीक्षा	२३
(झ) भूतचैतन्य-परीक्षा	२४
(ञ) तत्त्वोपप्लव-परीक्षा	२४
(ट) अद्वैत-परीक्षा	२७
(ठ) प्राणाण्य-परीक्षा	२७
२. **प्रमाणसंख्या-परीक्षा**	२८-६५
(अ) प्रमाणद्वय-सिद्धि	२८-३७
(आ) प्रत्यक्षैकप्रमाण-परीक्षा	२८-३०
(इ) प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वय-परीक्षा	३१-३४
(ई) वैशेषिकमत-परीक्षा	३४-३५
(उ) सांख्यमत-परीक्षा	३५
(ऊ) नैयायिकमत-परीक्षा	३५
(ए) प्राभाकर-परीक्षा	३५
(ऐ) भाट्टमत-परीक्षा	३५
(ओ) प्रत्यक्ष-सिद्धि	३७-४१
(१) प्रत्यक्ष-स्वरूप	३७
(२) प्रत्यक्ष-भेद	३८
(३) स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-परीक्षा	३९
(४) इन्द्रियप्रत्यक्ष	३९
(५) इन्द्रियप्रत्यक्ष-भेद	३९-४०
(६) अनिन्द्रियप्रत्यक्ष	४०
(७) अतीन्द्रियप्रत्यक्ष	४०
(८) अतीन्द्रियप्रत्यक्ष-भेद	४०
(i) अवधिज्ञान	४०
(ii) मनःपर्ययज्ञान	४०
(iii) केवलज्ञान	४१
(औ) परोक्ष-सिद्धि	४१-६५
(१) परोक्ष-स्वरूप	४१
(२) परोक्ष-भेद	४१
(i) मतिज्ञान	४१
(ii) श्रुत ज्ञान	४१
(३) परोक्षके दार्शनिक भेद	४२
(i) स्मृति	४२
(ii) प्रत्यभिज्ञा	४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) तर्क ४४

(iv) अनुमान ४५-५८

(क) त्रैरूप्य-परीक्षा ४५-४९

(ख) पाँचरूप्य-परीक्षा ४९

(ग) साधन-लक्षण ४९

(घ) साधन-भेद ४९-५७

(ङ) साध्य-लक्षण ५७

(v) श्रुत ५८-६५

३. **प्रमाणविषय-परीक्षा** ६५

४. **प्रमाणफल-परीक्षा** ६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमदाचार्यविद्यानन्द-विरचिता

प्रमाण-परीक्षा

[मङ्गलाचरणम्]

जयन्ति निर्जिताशेष-सर्वथैकान्त-नीतयः ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥ १ ॥

§ १. अथ प्रमाण-परीक्षा ।

§ २. तत्र प्रमाणलक्षणं परीक्ष्यते ।

[प्रमाणलक्षण-परीक्षा]

§ ३. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः । 'संनिकर्षादिरज्ञानमपि प्रमाणम्, स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वात्' इति नाशङ्कनीयम्; तस्य स्वप्रमितौ साधकतमत्वासंभवात् । न ह्यचेतनोऽर्थः स्वप्रमितौ करणम्, पटादिवत्[1]। [१]सोऽर्थप्रमितौ करणम्, इत्यप्यनालोचितवचनं नैयायिकानाम्; स्वप्रमितावसाधकतमस्यार्थप्रमितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः । तथा हि—न संनिकर्षादिरर्थप्रमितौ साधकतमः, स्वप्रमितावसाधकतमत्वात्, पटादिवत्। प्रदीपादिभिर्व्यभिचारः साधनस्य; इति न मन्तव्यम्; तेषामर्थपरिच्छित्तावकरणत्वात्, तत्र[२] नयन-मनसोरेव करणतया स्वयमभिमतत्वात्, प्रदीपादीनां तत्सहकारितयोपचारतः करणव्यवहारानुसरणात्[2] । न चोपचारतोऽर्थप्रकाशन एव प्रदीपादिः करणम्, न पुनः स्वप्रकाशन इति मन्यमानो निर्मलमना मनीषिभिरनुमन्यते; नयनादेरर्थसंवेदनमिव प्रदीपादिसंवेदनमप्युपजनयतः प्रदीपादीनां सहकारित्वाविशेषात्तेषामर्थप्रकाशनवत् स्वप्रकाशनेऽपि करणतोपचारव्यवस्थितेः । नयनादिनानेकान्तः; इत्यपि न मननीयम्; तस्याप्युपकरणरूपस्याचेतनस्वभावस्यार्थप्रतिपत्तौ करणतोपचारात् । परमार्थतो भावेन्द्रियस्यैवार्थग्रहणशक्तिलक्षणस्य साधकतमतया करणताध्यवसानात्[3]। न चैतदसिद्धम्, विशुद्धधिषणजनमनसि युक्तियुक्ततया

---

१. संनिकर्षः । २. अर्थपरिच्छित्तौ ।

---

1. 'घटादिवत्' अ । 2. 'व्यवहरणानुसरणात्' अ । 3. 'अध्यवसनात्' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तमानत्वात्। तथा हि—यदसंनिधाने कारकान्तरसंनिधानेऽपि यन्नोत्पद्यते[1] तत्तत्करणकम्, यथा कुठारासंनिधाने काष्ठच्छेदनमनुत्पद्यमानं कुठारकरणकम्, नोत्पद्यते च भावेन्द्रियासमवधानेऽर्थसंवेदनमुपकरणसद्भावेऽपि इति तत् भावेन्द्रियकरणकम्। बहिःकरणसंनिकर्षाधीनतायां हि पदार्थसंवेदनस्य नयनसंनिकर्षात् कलश इव नभसि नायनसंवेदनोदयः कुतो न भवेत्। न च नयनममूर्तिमदेव, तस्य परैर्भौतिकतयोपगतत्वात्, पौद्गलिकतयास्माभिरुपकरणस्याभिमतत्वात्।

§ ४. ननु नभसि नयनसंनिकर्षस्य योग्यताविरहान्न संवेदननिमित्तता; इत्यपि न साधीयः; तद्योग्यताया एव साधकतमत्वानुषङ्गात्।

§ ५. का चेयं संनिकर्षस्य योग्यता नाम। विशिष्टा शक्तिः; इति चेत्; सा[2] तर्हि सहकारिसंनिधिलक्षणानुमन्तव्या, 'सहकारिसांनिध्यं शक्तिः' इति **उद्योतकर**वचनात्। सहकारिकारणं[4] च द्रव्यं गुणः कर्मादि वा स्यात्। न तावदात्मद्रव्यं सहकारि, तत्संनिधानस्य नयननभःसंनिकर्षेऽपि समानत्वात्। एतेन[5] कालद्रव्यं दिग्द्रव्यं च सहकारि निराकृतम्; तत्सांनिध्यस्यापि सर्वसाधारणत्वात्। मनोद्रव्यं सहकारि; इत्यपि न संगतम्; तत्संनिधेरपि समानत्वात्, कदाचित्तद्गतमनसः पुरुषस्याक्षार्थसंनिकर्षस्य संभवात्।

§ ६. एतेन 'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति चतुष्टयसंनिकर्षोऽर्थप्रमितौ साधकतमः' [न्यायमं. पृष्ठ ७४] इति सामग्रीप्रमाणवादो दूषितः, तत्सामग्र्याश्च नभसि सद्भावात्, कालादिनिमित्तकारणसामग्रीवत्।

§ ७. यदि पुनस्तेजोद्रव्यं सहकारि तत्संनिधानाच्चाक्षुष[3]ज्ञानप्रभवात्; इति मतम्; तदापि न विशेषः, घटादाविव गगनेऽपि लोचनसंनिकर्षस्यालोकसंनिधिप्रसिद्धेः संवेदनानुषङ्गस्य दुर्निवारत्वात्।

---

१. तुलना—'यदसंनिधाने कारकान्तरसंनिधानेऽपि यन्नोत्पद्यते तत्तत्करणकम्, यथा कुठारासंनिधाने कुठारकाष्ठच्छेदनमनुत्पद्यमानं कुठारकरणकम्, नोत्पद्यते च भावेन्द्रियासंनिधाने स्वार्थसंवेदनं संनिकर्षादिसद्भावेऽपीति तद्भावेन्द्रियकरणकम्'—प्रमेयक० मा० १–१। २. जैनैः। ३. आत्मद्रव्यस्य सहकारित्वनिराकरणेन। ४. तुलना—'सहकारिकारणं चात्र द्रव्यं गुणः कर्म वा स्यात्। द्रव्यं चेत्, किं व्यापि द्रव्यम्, अव्यापि द्रव्यं वा। न तावद् व्यापि द्रव्यम्, तत्सांनिध्यस्याकाशादीन्द्रियसन्निकर्षेऽप्यविशेषात्। ....'—प्रमेयक० १-१। ५. कालादेः सहकारित्वनिरासेन।

---

1. 'यन्नोपपद्यते' मु। 2. 'तर्हि तस्य' अ ब स व। 3. 'चाक्षुषादि' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ८. अथादृष्टविशेषो गुणः सहकारी तत्सांनिध्यं संयुक्तसमवायः[1], चक्षुषा संयुक्ते पुरुषेऽ[2]दृष्टविशेषस्य समवायादिति मन्यध्वम्; तर्हि कदाचिन्नभसि नायनसंवेदनोदयः कुतो न भवेत्। सर्वदा सर्वस्य तत्रादृष्टविशेषस्य सहकारिणोऽसंनिधानादिति चेत्; कथमेव**मीश्वरस्य** नभसि चक्षुषा ज्ञानं श्रोत्रादिभिरिव घटेत[3]। समाधिविशेषोपजनितधर्मविशेषानगृहीतेन मनसा गगनाद्यशेषपदार्थसंवेदनोदये तु **महेश्वरस्य** बहिःकरणमनर्थकतामियात्, फलासंभवात्। बहिःकरणरहितस्य च नान्तःकरणमुपपद्येत, परिनिर्वृता[4]त्मवत्। ततः कथमन्तःकरणेन[5] गगनादिग्रहणम्। मनसोऽसंभवे च न समाधिविशेषस्तदुपजनितधर्मविशेषो वा घटामटाट्यते, तस्यात्मान्तःकरणसंयोगनिबन्धनत्वात्[6]।

§ ९. स्यान्मतं ते[7]—**शिशिररश्मिशेखरस्य**[२] समाधिविशेषसंततिर्धर्मविशेषसंततिश्च सर्वार्थज्ञानसंततिहेतुरनाद्यपर्यवसाना[8], सततमेनोमलैरस्पृष्टत्वात्, तस्य[३] संसारि-सादिमुक्तविलक्षणत्वात् सर्वदा[9] मुक्ततयैव प्रसिद्धत्वात् इति; तदप्यसमीचीनम्; एवमनीश्वरस्यापि[10] एनोमलविलयादेवा[11]-र्थसंवेदनोद्भवप्रसक्तेः। सततमेनोमलाभावो हि यथा सततमर्थज्ञानसन्तानहेतुरुररीक्रियते तथा कादाचित्कैनोमलाभावः कदाचिदर्थप्रमितिनिमित्तमिति[12] युक्तमुत्पश्यामः, तस्यैव[४] संनिकर्षसहकारितोपपत्तेः। तत्सांनिध्यस्यैव च संनिकर्षशक्तिरूपत्वसिद्धेः। [५]तदभावादेव[13] च नयनसंनिकर्षेऽपि नभसि संवेदनानुत्पत्तिघटनात्। तत्र[६] विशिष्टधर्मोऽपि न पापमलापायादपरः प्रतिपद्यते, भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य[७], निःस्वभावस्य सकलप्रमाणगोचरातिक्रान्तत्वेन व्यवस्थापयितुमशक्यत्वादिति पुरुषगुणविशेषसद्भाव एव पापमलाभावो विभाव्यते। स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरण-वीर्यान्त-

---

१. तुलना—'प्रमातृगतोऽप्यदृष्टोऽन्यो वा गुणो गगनेन्द्रियसन्निकर्षसमयेऽस्त्येव।·········'—प्रमेयक० १-१। २. महेश्वरस्य। ३. महेश्वरस्य। ४. एनोमलाभावस्यैव। ५. एनोमलाभावसांनिध्याभावादेव। ६. महेश्वरे। ७. तुलना—'भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदर्हतस्ते। प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थाङ्गममेयमन्यत्॥'—युक्त्यनुशा. का. ५९।

---

1. 'समवायेन' मु। 2. 'पुरुषे त्वदृष्ट' मु। 3. 'घटते' मु। 4. 'परनिर्वृत्त' मु। 5. करणेन विना गगनादिग्रहणं' ब द। 'करणेन धर्मादिग्रहणं' अ मु। मूले स प्रति-पाठो निक्षिप्तः। 6. 'निबन्धनात्' मु। 7. 'ते' नास्ति मु। 8. 'अनादिरपर्यवसाना' ब स द। 9. 'सर्वथा' मु। 'सदा' स। 10. 'एवमीश्वरस्यापि' मु। 11. 'विलयादेरेव' मु। 12. 'निमित्तयुक्त-' मु। 13. 'तद्भावादेव' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रायक्षयोपशमभेदः स्वार्थप्रमितौ शक्तिर्योग्यतेति च स्याद्वादन्यायवेदिभि[1]-रभिधीयते। प्रमातुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तताऽपि नातोऽर्थान्तरभावमनुभवति, पुंसः संवेदनावरणवीर्यान्तरायलक्षणपापमलापगमविरहे क्वचिदुपलब्धि-लक्षणप्राप्तताऽनुपपत्तेः[2]। नयनोन्मीलनादिकर्मणो दृश्यादृश्ययोः साधार-णत्वात्, प्रद्योतादिकारण[3] साकल्यवत्।

§ १०. एतेन नयनोन्मीलनादिकर्म संनिकर्षसहकारि विषयगतं चोप-लभ्यत्वसामान्यमिति प्रत्याख्यातम्; तत्संनिधाने सत्यपि क्वचित्कस्यचित्प्र-मित्यनुत्पत्तेः[4] कालाकाशादिवत्। न हि तत्रोपलभ्यत्वसामान्यमसम्भा-व्यम्, योगिनोऽप्यनुपलब्धिप्रसंगात्। मादृशा[5]पेक्षयोपलभ्यत्वसामान्यमन्य-देव योगीश्वरापेक्षादुपलभ्यतासामान्यादिति चेत्; तत्किमन्यदन्यत्र योग्यताविशेषात्प्रतिपुरुषं भेदमास्तिघ्नुवानादिति। स एव प्रमातुः प्रमित्युपजनने साधकतमोऽनुमन्तव्यः, संनिकर्षादौ सत्यपि [तदभावे] क्वचित्संविदुपजननाभावविभावनात्। स च योग्यताविशेषः स्वार्थग्रहण-शक्तिः आत्मनो भावकरणं ज्ञानमेव, फलरूपात्[6] स्वार्थज्ञानात्कथञ्चिद-भिन्नत्वात्, सर्वथापि ततो भेदेऽनात्मस्वभावत्वापत्तेः[7]। न चैवमुपगन्तुं युक्तम्, आत्मन एवोभयनिमित्तवशात्तथापरिणामात्। आत्मा[8]हि जानात्य-नेनेति ज्ञानमिति[9] करणसाधनात् भेदोपवर्णनम्, कथंचिदभिन्नकर्तृकस्य करणस्य प्रसिद्धेः, अग्निरौष्ण्येन दहतीन्धनमिति यथा। स्वातन्त्र्यविव-क्षायां तु[४] जानातीति ज्ञानमात्मैव, कर्तृसाधनत्वात्[10], आत्मज्ञानयोरभेदप्रा-

---

१. ज्ञाननिरोधकं कर्म ज्ञानावरणम्, शक्तिनिरोधकं कर्म वीर्यान्तरायः, एतयोः क्षयोपशमभेदः योग्यताविशेषः। २. आत्मनः ३. परिच्छेद्यलक्षणे प्रमेये। ४. तुलना—'अत्र प्रमाणशब्दः कर्तृकरणभावसाधनः.........स्वातन्त्र्यसाधकतम-त्वादिविवक्षापेक्षया तद्भावाविरोधात्। तत्र क्षयोपशमविशेषवशात् 'स्वपरप्रमेय-स्वरूपं प्रमिमीते यथावज्जानाति' इति प्रमाणमात्मा, स्वपरग्रहणपरिणतस्यापरतन्त्र-स्याऽऽत्मन एव हि कर्तृसाधनप्रमाशब्देनाभिधानं स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वात्.........। साधकतमत्वादिविवक्षायां तु 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्, प्रमितिमात्रं वा' प्रति-बन्धापाये प्रादुर्भूतविज्ञानपर्यायस्य प्राधान्येनाश्रयणात्।'—प्रमेयक० प्रतिज्ञाश्लो०।

---

1. 'स्याद्वादवेदिभि-' मु। 2. 'अनुपलब्धेः' मु। 3. 'करण' मु। 4. 'अनुपपत्तेः' मु। 5. 'अस्मादृशा' मु ब। 6. फलरूपत्वात्' मु अ। 7. 'भेदे नात्मस्वभावत्वोपत्तेः' मु। 8. 'आत्मनो' मु। 9. 'अनेनेति करण–' मु। 10. 'साधनत्वात्तदात्म-' मु अ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धान्यादात्मन एव स्वार्थग्रहणपरिणाममापन्नस्य ज्ञानव्यपदेशसिद्धेः, औष्ण्यपरिणाममापन्नस्याग्नेरौष्ण्यव्यपदेशवत्। तेन ज्ञानात्मा ज्ञानात्मना ज्ञेयं जानातीति व्यवहारस्य प्रतीतिसिद्धत्वात्। यथा च ज्ञानात्मैव प्रमाता स्यात्, अज्ञानात्मनः खादेः प्रमातृत्वायोगात् तथा ज्ञानात्मैव प्रमाणम्, [तस्यैव] स्वार्थप्रमितौ ज्ञानात्मिकायां करणत्वात्, अज्ञानात्मनस्तत्र साधकतमत्वाघटनादिति[1] नाज्ञानं प्रमाणमन्यत्रोपचारात्[2]। ततो नाज्ञानेन इन्द्रियसंनिकर्ष-लिंग-शब्दादिना साधनस्य[2] व्यभिचारः। नापि व्यतिरेकासिद्धिः, सम्यग्ज्ञानत्वस्य साध्यस्य निवृत्तौ प्रमाणत्वस्य साधनस्य पटादौ[3] विनिवृत्तिनियमनिश्चयात्[4] केवलव्यतिरेकिणोऽपि साधनस्य समर्थनात्। ततः सूक्तम्—'सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणम्, अज्ञानस्य प्रमाणत्वायोगान्मिथ्याज्ञानवत्' इति।

§ ११. किं पुनः सम्यग्ज्ञानम्। समभिधीयते[5]—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्ज्ञानत्वात्। यत्तु न स्वार्थव्यवसायात्मकं तन्न सम्यग्ज्ञानम्, यथा संशय-विपर्ययानध्यवसायाः[6]। सम्यग्ज्ञानं च विवादापन्नम, तस्मात्स्वार्थव्यवसायात्मकम्, इति सुनिश्चितान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणो हेतुः प्रसिद्ध एव सम्यगवबोधवादीनाम्[7], साध्यधर्मिणि[3] सद्भावात्।

§ १२. स्वसंवेदन-इन्द्रिय-मनो-योगिप्रत्यक्षैः सम्यग्ज्ञानैरव्यवसायात्मकैर्व्यभिचारी हेतुः; इति स्वमनोरथमात्रं **सौगतस्य**; तेषां [8]सम्यग्ज्ञानत्वविरोधात्। सम्यग्ज्ञानत्वं ह्यविसंवादकत्वेन व्याप्तम्, तदभावे तदसंभवात्[9]। तदप्यर्थप्रापकत्वेन, अर्थाप्रापकस्याविसंवादित्वाभावात्[10], निर्विषयज्ञानवत्। तदपि प्रवर्तकत्वेन व्याप्तम्, अप्रवर्तकस्यार्थाप्राकत्वात्[11] तद्वत्। प्रवर्तकत्वमपि स्वविषयोप[12]दर्शकत्वेन व्याप्तम्, स्वविषयमुपदर्शयतः प्रवर्तकव्यवहार-

---

१. तुलना—'तन्न अज्ञानस्य प्रमाणता अन्यत्रोपचारात्।'—लघी०का० ३। २. प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेरिति पूर्वोक्तस्य हेतोः। ३. सम्यग्ज्ञाने।

---

1. 'घटनान्नाज्ञानं' मु। 2. 'उपचारतः' मु। 3. 'घटादौ' स। 4. 'विनिवृत्तिविनिश्चयात्' मु अ। 5. 'अभिधीयते' मु। 6. 'विपर्यासानध्यसायाः' मु। 7. अवबोधादीनां' मु। 8. सम्यग्ज्ञानत्वस्य विरोधात् अ। 9. 'तदपि प्रवर्तकत्वेन व्याप्तं तदभावे तदसम्भवात्' इत्यतिरिक्तो पाठः मु अ ब द। असौ स–प्रतौ नास्ति। स युक्तः प्रतिभाति। 10. 'अर्थप्रापकस्याविसंवादित्वात्' मु। 11. अर्थप्रत्यायकत्वात्' मु। 12. 'विश्वविषयो'–मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयत्वसिद्धेः। न हि पुरुषं हस्ते गृहीत्वा ज्ञानं प्रवर्तयति। स्वविषयं तूपदर्शयत्[1] प्रवर्त्तकमुच्यते अर्थप्रापकं चेत्यविसंवादकं सम्यग्वेदनं[2] प्रमाणम्, तद्विपरीतस्य मिथ्याज्ञानत्वप्रसिद्धेः, संशयादिवत्[3], इति **धर्मोत्तर**मतम्। तत्राव्यवसायात्मकस्य चतुर्विधस्यापि समक्षस्य सम्यग्वेदनत्वं न व्यवतिष्ठते, तस्य स्वविषयोपदर्शकत्वासिद्धेः। तत्सिद्धौ वा नीलादाविव क्षणक्षयादावपि तदुपदर्शकत्वप्रसक्तेः। ततो यदव्यवसायात्मकं ज्ञानं न तत्स्वविषयोपदर्शकम्, यथा गच्छत्तृण[4]स्पर्शसंवेदनमनध्यवसायि प्रसिद्धम्, अव्यवसायात्मकं च **सौगता**भिमतं[5] दर्शनमिति व्यापकानुपलब्धिः सिद्धा। व्यवसायात्मकत्वस्य[6] व्यापकस्याभावे तद्व्याप्यस्य[7] स्वविषयोदर्शकत्वस्याननुभवात्[8]।

§ १३. स्यादाकूतं ते—न व्यवसायात्मकत्वेन स्वविषयोपदर्शकत्वस्य व्याप्तिः सिद्धिमधिवसति, तस्य व्यवसायजनकत्वेन व्याप्तत्वात्। नीलधवलादौ व्यवसायजननाद्दर्शनस्य तदुपदर्शकत्वव्यवस्थितेः। क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादौ व्यवसायाजनकत्वात्तदनुपदर्शकत्वव्यवस्थानात्। गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनस्यापि तत एव स्वविषयोपदर्शकत्वाभावसिद्धेः मिथ्याज्ञानत्वव्यवहारात् अन्यथानध्यसायित्वाघटनात् इति; तदेतदविचारितरमणीयं **ताथागतस्य;** व्यवसायो हि दर्शनजन्यः। स किं दर्शनविषयस्योपदर्शकोऽनुपदर्शको वा, इति विचार्यते—यद्युपदर्शकः, तदा स एव तत्र प्रवर्त्तकः प्रापकश्च, संवादकत्वात्, सम्यक्संवेदनवत्[9], न तु तन्निमित्तं दर्शनम्, संनिकर्षादिवत्। अथानुपदर्शकः, कथं दर्शनं तज्जननात् स्वविषयोपदर्शकम्, अतिप्रसंगात्, संशय-विपर्यासकारणस्यापि स्वविषयोपदर्शकत्वापत्तेः। दर्शनविषयसामान्याध्यवसायित्वाद्विकल्पस्य[10] तज्जनकं दर्शनं स्वविषयोपदर्शकमिति च न चेतसि स्थापनीयम्, दर्शनविषयसामान्यस्यान्यापोहलक्षणस्यावस्तुत्वात्, तद्विषयव्यवसायजनकस्य वस्तूपदर्शकत्वविरोधात्। दृश्यसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायाद्वस्तूपदर्शक एव व्यवसाय इत्यपि मिथ्या, तयोरेकत्वाध्यवसायासम्भवात्। तदेकत्वं हि दर्शनमध्यवस्यति तत्पृष्ठजो व्यवसायो वा ज्ञानान्तरं वा? न तावद्दर्शनम्, तस्य विकल्प्या[11]विषयत्वात्। नापि तत्पृष्ठजो व्यवसायः, तस्य दृश्यागोचरत्वात्। तदुभयविषयं ज्ञाना-

1. 'स्वविषयं रूपं दर्शयत्' मु। 2. 'वेदकं' मु। 3. 'संशयवत्' मु। 4. 'गच्छतः तृण-' मु। 5. 'सौगताभिमतदर्शन' मु अ ब द। 6. 'व्यवसायात्मकस्य' मु द। 7. 'तद्व्याप्यत्वस्य' मु। 8. 'अननुभवनात्' स। 9. 'संवेदनम्' अ ब द। 10. 'विकल्पतज्जनकं दर्शनं' मु। 11. 'विकल्पा-' मु अ ब।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्तरं तु निर्विकल्पकं विकल्पात्मकं वा। न तावन्निर्विकल्पकम्, तस्य दृश्य-विकल्प्यद्वयविषयत्वविरोधात्। नापि विकल्पात्मकम्, तत एव। न च तदुभयाविषयं[1] संवेदनं तदुभयैकत्वमध्यवसातुं समर्थम्। तथाहि[2]—यद्यन्न विषयीकुरुते न तत्तदेकत्वमध्यवस्यति, यथा रससंवेदनं स्पर्शरूपोभयम्, न विषयीकुरुते च दृश्यविकल्प्योभयं किंचित्संवेदनम्, इति न कुतश्चिद् दृश्यविकल्प्योरेकत्वाध्यवसायः सिद्ध्येत्। ततो न व्यवसायो वस्तूपदर्शकः स्यात्। नापि तदुपजननाद्दर्शनं स्वविषयवस्तूपदर्शकम्, योगिप्रत्यक्षस्य विधूतकल्पनाजालस्य सर्वदा वस्तु[3]विकल्पाजनकत्वात् तदुपदर्शकत्वविरोधात्[4]। स्वसंवेदनमपि न तस्य स्वरूपोपदर्शकम्, तद्विकल्पानुत्पादकत्वात्[5], इति कुतः स्वरूपस्य स्वतो गतिरवतिष्ठेत।

§ १४. किंच दर्शनपृष्ठभाविनो विकल्पस्य स्वसंवेदनबलात्सिद्धौ तत्स्वसंवेदनं कुतः प्रमाणं स्यात्। तद्यदि स्वरूपोपदर्शनादेव प्रमाणमास्थीयेत, तदा स्वर्गप्रापणशक्त्यादावपि प्रमाणतामास्कन्देत्। तत्स्वसंविदाकार एव प्रमाणम्, तद्व्यवसायजननात्, न पुनरन्यत्रेति परिकल्पनायां तद्व्यवसायस्वसंवेदनस्यापि व्यवसायान्तरोपजननात् स्वरूपोपदर्शनेन भवितव्यमित्यनवस्थानात् नाद्यव्यवसायस्वसंवेदनस्य प्रामाण्यम्। तदप्रामाण्ये च[6] न तत एव व्यवसायसिद्धिः। तदसिद्धौ च[7] न तज्जननाद्दर्शनस्य स्वविषयोपदर्शकत्वम्। तदभावे च न तस्य प्रवर्त्तकत्वम्। अप्रवर्त्तकस्य नार्थप्राप्तिनिमित्तत्वम्। तदसंभवे च नाविसंवादकत्वम्। तद्विरहे च न सम्यग्ज्ञानत्वं स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिज्ञानानामिति न तैर्व्यभिचारः साधनस्य सम्भवति।

§ १५. स्यान्मतम्—अर्थसामर्थ्यादुत्पत्तिः, अर्थसारूप्यं च दर्शनस्य स्वविषयोपदर्शकत्वम्, तच्च सकलसमक्षवेदनाना[8]मव्यवसायात्मकत्वेऽपि संभवत्प्रवर्त्तकत्वमर्थप्रापकत्वमविसंवादित्वं सम्यग्ज्ञान[9]लक्षणमिति तैः समीचीनै[10]र्ज्ञानैर्व्यभिचार एव हेतोरिति; तदपि दुर्घटमेव; क्षणक्षयादावपि तदुपदर्शकत्व[11]प्रसंगात्। तत्राक्षणिकत्वादिसमारोपानुप्रवेशादयोगिनः प्रति-

---

1. तद्द्वयाविषयं' मु। 2. 'तथाहि' शब्दस्याग्रे 'यद्यन्न' शब्दाच्च पूर्वं 'किंचित्संवेदनं दृश्यविकल्प्योरेकत्वं नाध्यवस्यति, तदुभयाविषयत्वात्' इत्यतिरिक्तः पाठो स प्रतावुपलभ्यते। 3. 'वस्तुनि विकल्प' अ स ब। 4. 'विरोधाच्च' अ ब। 5. 'तद्विकल्पानुत्पादक' अ। 6. स प्रतौ 'च' नास्ति। 7. 'संवेदनं' स। 8. 'संवेदनानां' स। 9. 'सम्यग्ज्ञानत्व' अ ब द। 10. 'समीचीनज्ञानैः' ब स द। 11. 'तदुपदेशकत्व' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुनोपदर्शकत्व[1]मवतिष्ठते। योगिनस्तु समारोपासंभवात् क्षणक्षयादावपि दर्शनं तदुपदर्शकमेवेति समाधानमपि न धीमद्धृतिकरम्, नीलादावप्ययोगिनस्तद्विपरीतसमारोपप्रसक्तेः। कथमन्यथा विरुद्धधर्माध्यासात्तद्दर्शनभेदो न भवेत्। न ह्यभिन्नमेकं[2] दर्शनं क्वचित्समारोपसमाक्रान्तं[3] क्वचिन्नेति वक्तुं युक्तम्। ततो यद्यत्र विपरीतसमारोपविरुद्धं तत्तत्र निश्चयात्मकम्, यथाऽनुमेयेऽर्थेऽनुमानज्ञानम्। विपरीतसमारोपविरुद्धं च नीलादौ दर्शनमिति व्यवसायात्मकमेव बुद्ध्यामहे। निश्चयहेतुत्वाद्दर्शनं नीलादौ विपरीतसमारोपविरुद्धं न पुनर्निश्चयात्मकत्वादतोऽन्यथानुपपत्तिः साधनस्यानिश्चिततेति मामंस्थाः; योगिप्रत्यक्षेऽप्यस्य[4] विपरीतसमारोपस्य प्रसंगात्, तेन तस्याविरोधात्। परेषां तु तस्यापि निश्चयात्मकत्वात्तेन विरोधः सिद्ध एव। तथा निश्चयहेतुना दर्शनेन विरुद्धं समारोपं प्रतिपादयतः[5] स्वमतविरोधः स्यात्। निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभाव इति **धर्मकीर्तेर**भिमतत्वात् दर्शनारोपयोर्विरोधाभावसिद्धेः।

§ १६. ननु चार्थदर्शनस्य निश्चयात्मकत्वे साध्ये प्रत्यक्षविरोधः, संहृतसकलविकल्पदशायां रूपादिदर्शनस्यानिश्चयात्मकस्यानुभवात्[6]। तदुक्तम्—

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः॥ [ ] इति।

§ १७. तथानुमानविरोधोऽपि[7], व्युत्थित[8]चित्तावस्थायामिन्द्रियादर्थगतौ कल्पनानुपलब्धेः। तत्र कल्पनासद्भावे पुनस्तत्स्मृतिप्रसंगः तदा विकल्पितकल्पनावत्। तदप्युक्तम्—

पुनर्विकल्पयन् किंचिदासीन्मे कल्पनेदृशी।
इति वेत्ति पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद्गतौ॥ [ ] इति।

§ १८. तदेतदपि **धर्मकीर्ते**रपरीक्षिताभिधानम्; प्रत्यक्षतो निर्विकल्पकदर्शनस्याप्रसिद्धत्वात्[9]। संहृतसकलविकल्पावस्था ह्यश्वं विकल्पयतो गोदर्शनावस्था। न च तदा गोदर्शनमव्यवसायात्मकम्, पुनः स्मरणाभावप्रसंगात्, तस्य संस्कारकारणत्वविरोधात्, क्षणिकत्वादिवत्। व्यवसायात्मन

1. 'उपदेशकत्व' मु। 2. 'एकदर्शनं' मु अ। 3. 'समारोपाक्रान्तं' मु। 4. 'प्रत्यक्षेऽस्य' मु, 'प्रत्यक्षे' अ। 5. 'विरुद्धं प्रतिपादयतः' मु। 6. 'अनुभवनात्' अ ब द। 7. स प्रतौ 'अपि' नास्ति। 8. 'व्युच्छित्त, मु। 9. 'निर्विकल्पदर्शनाप्रसिद्धत्वात्' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एव दर्शनात्। संस्कारस्य स्मरणस्य च संभवात्, अन्यतस्तदनुपपत्तेः। तदुक्तम्—

> व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः स्मृतिरेव वा।
> दृष्टे दृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत्॥ [ ] इति।[1]

§ १९. अथ मतम्—अभ्यास-प्रकरण-बुद्धिपाटवार्थित्वेभ्यो निर्विकल्पादपि दर्शनान्नीलादौ संस्कारः स्मरणं चोपपद्यते[2], न पुनः क्षणिकादौ, तदभावात्। व्यवसायात्मनोऽपि प्रत्यक्षात्तत एव संस्कारस्मरणोपपत्तेः। तेषामभावे निश्चितेऽपि वस्तुनि नियमेन संस्कारादेरभावात् तेषां व्यवसायात्मकसमक्षवादिनोऽपि नियमतोऽभ्युपगमनीयत्वात् इति; तदपि परिफल्गुप्रायम्[3]; भूयोदर्शनलक्षणस्याभ्यासस्य क्षणक्षयादौ सुतरां सद्भावात्। पुनः पुनः[4] विकल्पोत्पादरूपस्य चाभ्यासस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात्, तत्रैव विवादात्। क्षणिकाक्षणिकविचारणायां क्षणिकप्रकरणस्यापि भावात्। बुद्धिपाटवं तु नीलादौ क्षणिकादौ[5] च समानम्, तद्दर्शनस्यानंशत्वात्। तत्र पाटवापाटवयोर्भेदे तद्बुद्धेरपि भेदापत्तेः, विरुद्धधर्माध्यासात्। तथाविधतद्वासनाख्यकर्मवशाद्बुद्धेः पाटवापाटवे स्याताम्; इत्यप्यनेनापास्तम्; तत्कर्मसद्भावासद्भावयोरपि[6] विरुद्धधर्मयोरनंशबुद्धावेकस्यामसंभवात्। यत्पुनरर्थित्वं जिज्ञासितत्वं तत्क्षणिकवादिनः क्षणिकत्वेऽप्य[7]ऽस्त्येव, नीलादिवत्। यत्पुनरभिलषितत्वमर्थित्वं तन्न व्यवसायजनननिबन्धनम्, क्वचिदनभिलषितेऽपि वस्तुनि कस्यचिदुदासीनस्य स्मरणप्रतीतेः। इति नाभ्यासादिभ्यः क्वचिदेव संस्कारजननमनंशज्ञानवादिनो घटते। परस्य तु बहिरन्तरनेकान्तात्मक[8]तत्त्ववादिनो न किंचिदनुपपन्नम्, सर्वथैकत्र व्यवसायाव्यवसाययोरवायानवायाख्ययोः, संस्कारासंस्कारयोर्धारणेतराभिधानयोः, स्मरणास्मरणयोश्चानभ्युपगमात्। तद्भेदात्कथंचिद्बोधबोध्ययोर्भेदप्रसिद्धेः।

§ २०. **सौगतस्यापि** व्यावृत्तिभेदाद्भेदोपगमाददोषोऽयम्। तथा हि—नीलत्वमनीलत्वव्यावृत्तिः, क्षणिकत्वमक्षणिकत्वव्यावृत्तिरुच्यते। तत्रानीलव्यावृत्तौ नीलव्यवसायस्तद्वासनाप्रबोधादु[8]पन्नो न पुनरक्षणिकव्यावृत्तौ क्षणिकव्यवसायः, तत्र तद्वासनाप्रबोधाभावात्। न चानयोर्व्यावृत्त्यो-

---

1. 'इति' नास्ति मु अ। 2. 'चोत्पद्यते' मु। 3. 'फल्गुप्रायं' मु। 4. 'पुनर्पुनः' मु। 5. 'क्षणक्षयादौ' मु। 6. 'सद्भावयोरपि' मु। 7. 'क्षणिकत्वेऽस्त्येव' मु स। 8. 'उत्पन्नो' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रभेदः सम्भवति, व्यावर्त्यमानयोरभेदप्रसंगात्। न च तद्भेदाद्वस्तुनो भेदः, तस्य निरंशत्वात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसंगात्, इति परे मन्यन्ते; तेऽपि न सत्यवादिनः; स्वभावभेदाभावे वस्तुनो व्यावृत्तिभेदासंभवात्। नीलस्वलक्षणं हि येन स्वभावेनानीलाद् व्यावृत्तं तेनैव यद्यक्षणिकाद् व्यावर्त्तेत तदा नीलाक्षणिकयोरेकत्वापत्तेस्तद्व्यावृत्त्योरेकत्वप्रसंगः। स्वभावान्तरेण ततो व्यावृत्तमिति वचने तु सिद्धः स्वलक्षणस्य[1] स्वभावभेदः कथं निराक्रियेत[2]। यदि पुनः स्वाभावभेदोऽपि वस्तुनो तत्स्वभावव्यावृत्त्या कल्पित एव इति मतम्; तदा कल्पित[3]स्वभावान्तरपरिकल्पनाया[4]मनवस्थाऽनुषज्येत। तथा हि—अनीलस्वभावान्यव्यावृत्तिरपि स्वभावान्तरेण अन्यव्यावृत्तिरूपेण वक्तव्या। सापि तदन्यव्यावृत्तिस्वभावान्तरेण तथाविधेनेति न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत[5]।

§ २१. कश्चिदाह—सत एव सकलविकल्पवाग्गोचरातीतं वस्तु, विकल्पशब्दानां विषयस्यान्यव्यावृत्तिरूपस्य अनाद्यविद्योपकल्पितस्य[6] सर्वथा विचारासहत्वात्। विचारसहत्वे[7] तदवस्तुत्वविरोधात् इति; सोऽपि न सम्यग्वादी; दर्शनविषयस्याप्यवस्तुत्वप्रसंगात्, तस्यापि शब्दविकल्पविषयवत् विचारासहत्वाविशेषात्[8]। तथा हि—नीलस्वलक्षणं सुगतेतरजनदर्शनविषयतामुपगच्छत् किमेकेन स्वभावेन नानास्वभावेन वा दृश्यं स्यात्। यद्येकेन[9] स्वभावेन, तदा यदेव सुगतदृश्यत्वं तदेवेतरजनदृश्यत्वमित्यायातमशेषस्य जगतः सुगतत्वम्। यच्चेतरजनदृश्यत्वं तदेव सुगतदृश्यत्वमिति सकलस्य सुगतस्येतरजनत्वापत्तेः सुगतरहितमखिलं स्यात्। अथैतस्माद्दोषाद्बिभ्यता नानास्वभावेन सुगतेतरजनदृश्यत्वं प्रतिपाद्यते; तदा नीलस्वलक्षणस्य दृश्यस्वभावभेदः कथमपह्नूयेत[10]। न च दृश्यरूपम्[11] अनेकं कल्पितमिति शक्यं वक्तुम्, दृश्यस्य कल्पितत्वविरोधात्।

§ २२. अथ मन्येथाः स्वलक्षणस्य दृश्यत्वं स्वाकारार्पकत्वमेव तच्चास्वाकारार्पकत्वव्यावृत्तिरूपं[12] नानादृष्टृव्यपेक्षयाऽनेकं घटामटत्येव, तदभावे नानादृष्टृदर्शनविषयतां स्वलक्षणं नास्कन्देत्। न च परमार्थतो

1. 'स्वलक्षस्य' मु। 2. 'निराक्रियते' मु। 3. 'परिकल्पित' मु अ। 4. 'कल्पनायां' मु। 5. 'व्यवतिष्ठते' मु स। 6. 'विद्यापरिकल्पितस्य' स। 7. 'विचारसहत्वे वा' अ मु। 8. 'विचारासहत्वाविरोधात्' मु। 9. 'तद्यद्येकेन' मु। 10. 'अपह्नुयेत' मु। 11. 'दृश्यं रूपं' मु स। 12. 'स्वाकारार्पकत्वव्यावृत्तिरूपं' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनं दृश्यविषयं सर्वज्ञानां स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वात् । उपचारादेव बहिर्विषयताव्यवहारात् इति; तदप्यसत्; वस्तुनः स्वाकारार्पकत्वस्यापि पूर्वपर्यनुयोगानतिक्रमात् । तद्धि स्वलक्षणं येन स्वभावेन **सुगतदर्शनाय** स्वाकारमर्पयति तेनैवेतरजनदर्शनाय[1], स्वभावान्तरेण[2] वा ? यदि तेनैव, तदा तदेव **सुगतेतर**जनदर्शनैकत्वमापनीपद्यते[3] । तथा च सर्वस्य **सुगतत्वम्** इतरजनत्वं वा दुर्निवारतामाचनीस्कन्द्येत[4] । स्वभावान्तरेण स्वाकारार्पकत्वे स एव वास्तवः स्वभावभेदः स्वलक्षणस्याक्षूणतया कथं प्रतिक्षिप्येत[5] । यत्पुनः स्वाकारार्पकत्वमपि न वस्तुनः परमार्थपथप्रस्थायि समवस्थाप्यते स्वरूपमात्रविषयत्वात्सकलसंवेदनानामिति मतम्; तदपि दुरुपपादमेव; तेषां वैयर्थ्यप्रसंगात् । ज्ञानं हि ज्ञेयप्रसिद्ध्यर्थं प्रेक्षवताऽन्विष्यते[6] प्रकाशप्रसिद्ध्यर्थं प्रदीपवत्[7] । न स्वरूपप्रसिद्ध्यर्थं प्रदीपवदेवेति । बहिरर्थाविषयत्वे सकलसंवेदनानां कथमिव वैयर्थ्यं न स्यात् । निर्विषयस्वप्नादिसंवेदनानामपि सार्थकत्वप्रसंगाच्च[8] स्वरूपप्रकाशनस्य प्रयोजनस्य सर्वत्र भावात् ।

§ २३. किञ्च, **सुगत**संवेदनस्यापि स्वरूपमात्रपर्यवसितायां कथमिव **सुगतः** सर्वदर्शीष्यते पृथग्जनवत् । पृथग्जनो वा कथं न सर्वदर्शी **सुगत**वदनुमन्येत । स्वरूपमात्रपर्यवसितायाः[9] तत्संवेदनेऽपि सद्भावात् ।

§ २४. यदि पुनर्न वास्तवं[10] सकलवेदित्वं[11] **तथागतस्यो**ररीक्रियते संवृत्त्या तस्य व्यवहारिभिः[12] संव्यवहरणात् । तदव्यवहरणे[13] तद्वचनस्य सत्यताव्यवहारानुपपत्तेः सकलज्ञानरहितपुरुषोपदेशाद्विप्रलम्भनशंकनप्रसंगात् । तदुक्तम्—

> ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
> अज्ञोपदेशकरणे विप्रलंभनशंकिभिः ।। [ ]

इति प्रतिपद्येत[14] तथापि[15] न **सुगतेतर**व्यवहारसिद्धिः, **सुगत**वदितरजनस्यापि संवृत्त्या सकलवेदित्वपरिकल्पनानुषंगात्[16] । सकलपदार्थेभ्यः

---

1. 'दर्शनानां' स । 2. 'नानास्वभावान्तरेण' ब । 3. 'मुपनीपद्येत' अ । 4. 'आचनीस्कन्द्यते' मु । 5. 'प्रतिक्षिप्यते' मु । 6. 'प्रेक्षावतामन्विष्यते' मु । 7. 'प्रदीपादिवत्' मु । 8. 'प्रसंगात्' मु । 9. 'पर्यवसिततायाः' ब स द । 10. 'पुनर्वास्तवत्वं' मु । 11. 'तायागतस्य' मु । 12. 'संव्यवहारिभि-' ब द । 13. 'तदव्यहरणे' मु । 14. 'तथापि सुगते-' मु । 15. 'कल्पनानुषंगात्' मु । 16. 'प्रतिपाद्येत' ब स व ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुगतस्य संवेदनोदयात् सकलार्थज्ञता युक्ता कल्पयितुं न पुनरितरजनस्य प्रतिनियतपदार्थादेव तद्वेदनोत्पत्तेरिति चेत्; न; **सुगत**विज्ञानस्यापि[1] सकलपदार्थजन्यत्वासिद्धेः, समसमयवर्तिपदार्थजन्यत्वासंभवात् ।

§ २५. यदि पुनरनाद्यतीतपदार्थेभ्यो भविष्यदनन्तार्थेभ्यः सांप्रतिकार्थेभ्यश्च सकलेभ्यः **सुगत**संवेदनस्योत्पत्तिः अखिलाविद्यातृष्णाविनाशादुपपद्यत एव अस्मदादिसंवेदनाद्विशिष्टत्वात्तस्येति मतम्, तदा किमेकेन स्वभावेन कालत्रयवर्तिपदार्थैः **सुगत**विज्ञानमुत्पद्यते[2] नानास्वभावैर्वा । यद्येकेन स्वभावेन एकेनार्थेन **सुगत**ज्ञानमुपजन्यते तेनैव सकलपदार्थैः तदा सकलपदार्थानामेकरूपतापत्तिः । **सुगत**विज्ञानस्य वा तदेकपदार्थजन्यत्वसिद्धिरिति नेतरजनसंवेदनात्तस्य विशेषः सिद्धयेत् । अथान्येन स्वभावेनैकोऽर्थः **सुगत**ज्ञानमुपजनयति पदार्थान्तराणि तु स्वभावान्तरैस्तदुपजनयन्ति इति मतिर्भवताम्, तर्हि **सुगत**ज्ञानमनन्तस्वभावमेकमायातम् । तद्वत् सकलं वस्तु कथमनन्तात्मकतां न स्वीकुर्यात्, इति चिन्तनीयम् । एकस्यानेकस्वभावत्वविरोधान्नैकमनेकात्मकमिति चेत्, कथमिदानीं सुगतविज्ञानमनेक[3]पदार्थजन्यं नानारूपतां बिभर्ति[4] ।

§ २६. यदि पुनरतज्जन्यरूपव्यावृत्या तज्जन्यरूपपरिकल्पनान्न तत्त्वतः **सुगत**संवेदनमनेकरूपताक्रान्तमित्याकूतम्, तदा न परमार्थतः **शुद्धोदन**[5]**तनय**विज्ञानमखिलपदार्थजन्यम्, इति कुतः पृथग्जनसंवेदनादस्य विशेषः समवतिष्ठते । ततः **सुगत**विज्ञानदृश्यतामितरजनविज्ञानविषयतां चैकस्य नीलादिस्वलक्षणस्यानेकाकारामपि स्वयमुररीकुर्वता नीलक्षणिकादिरूपतापि दृश्यादृश्यस्वलक्षणा स्वीकर्त्तव्या, तथा च नीलादौ दर्शनमन्यद्व्यवसायात्मकं संस्कारस्मरणकारणं तद्विपरीतदर्शनादवबोद्धव्यम्, इति न प्रत्यक्षप्रसिद्धं निर्व्यवसायात्मकत्वमध्यक्षज्ञानस्य । नाप्यनुमानप्रसिद्धम्, गोदर्शनसमयेऽश्वकल्पनावत् गोदर्शनस्यापि व्यवसायात्मकत्वोपपत्तेः पुनर्विकल्पयतः तदनुस्मरणस्यान्यथानुपपत्तेः । तथा हि—यन्निर्व्यवसायात्मकं ज्ञानं तन्नोत्तरकालमनुस्मरणजननसमर्थम्, यथा पराभिमतं स्वर्गप्रापणशक्त्यादिदर्शनम्, तथा चाश्वविकल्पकाले गोदर्शनमिति तदनुस्मरणजननसमर्थं न स्यात्, भवति च पुनर्विकल्पयतस्तदनुस्मरणम्, तस्माद्व्यवसायात्मकमिति निश्चयः ।

1. 'सुगतज्ञानस्य' मु । 2. 'उत्पाद्येत' अ ब । 3. 'विज्ञानमेक' मु । 4. 'विभर्ति' मु । 5. 'सुद्धोदनि' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ २७. तदेवं व्यवसायात्मकत्वे साध्ये सम्यग्ज्ञानत्वं[1] साधनं न व्यभिचरति, कस्यचिदपि सम्यग्ज्ञानस्याऽव्यवसायात्मकस्य प्रमाणबाधितत्वादिति स्थितम् ।

§ २८. ये त्वाहुः—स्वार्थव्यवसायात्मकत्वे साध्ये सम्यग्ज्ञानत्वस्य[2] हेतोर्न प्रयोजकत्वम्, सर्वस्य सम्यग्ज्ञानस्यार्थव्यवसायात्मकत्वमन्तरेणैव[3] सम्यग्ज्ञानत्वसिद्धेः । तथा हि—विवादाध्यासितं सम्यग्ज्ञानं नार्थव्यवसायात्मकम्, ज्ञानत्वात् स्वव्यवसायात्मकत्वाद्वा[4] । यद् ज्ञानम् स्वव्यवसायात्मकं वा तन्नार्थव्यवसायात्मकम्, यथा स्वप्नादिज्ञानम्, तथा च विवादापन्नं सम्यग्ज्ञानं[5] **जिनपति**मतानुसारिभिरभ्यनुज्ञातम्, तस्मान्नार्थव्यवसायात्मकम्, इति ।

§ २९. तेऽपि न प्रातीतिकवादिनः, जागृद्दशाभाविनः समीचीनविज्ञानस्यार्थव्यवसायात्मकत्वप्रतीतेः । तस्यार्थाव्यवसायात्मकत्वे ततोऽर्थे प्रवृत्त्यभावप्रसंगात् । प्रतीयते च सम्यग्विज्ञानादर्थे[6] प्रवृत्तिरविसंवादिनी, तस्मादर्थव्यवसायात्मकं तत्, अर्थे प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः । मिथ्याज्ञानादप्यर्थे प्रवृत्तिदर्शनादनेकान्त इति चेत्; न; तस्याः प्रवृत्त्याभासत्वात्, व्यवसितार्थप्राप्तिनिमित्तत्वाभावात् । व्यवसितमर्थं प्रापयितुं समर्था हि सम्यक्प्रवृत्तिः, सा च मिथ्याज्ञानान्नोपपद्यत इति न व्यभिचारः ।

§ ३०. यच्चार्थव्यवसायात्मकत्वनिराकरणप्रवणमनुमानं तत्स्वार्थं व्यवस्यति न वा । प्रथमविकल्पे तेनैवानैकान्तिकं साधनमापद्येत, तस्य ज्ञानत्वे स्वव्यवसायात्मकत्वेऽपि स्वसाध्यार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः । द्वितीयविकल्पे तु[7] नातोऽनुमानादिष्टसिद्धिः[8] स्वसाध्यार्थाव्यवसायात्मकत्वात्, अनुमानाभासवत् । ततः किं बहुना, सर्वस्य किञ्चिदिष्टं साध्यतः स्वयमनिष्टं वा दूषयतः कुतश्चित्प्रमाणात् तस्यार्थव्यवसायात्मकत्वाभ्यनुज्ञानमवश्यम्भावि, तस्यार्थाव्यवसायात्मकत्वे स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणानुपपत्तेः । परप्रसिद्ध्यार्थव्यवसायिनः प्रमाणस्याभ्यनुज्ञानाददोष इति चेत्, तर्हि परं प्रतिपाद्यसे वा न वा । यदि न प्रतिपाद्यसे, कथं परप्रसिद्ध्या क्वचिदभ्यनुज्ञानम् । तं च न प्रतिपाद्यसे[9] तत्प्रसिद्ध्या च किञ्चिदभ्यनुजानासीति कथमनुन्मत्तः । अथ परं प्रतिपाद्यसे, तर्हि यतः प्रमाणात्तत्प्रति-

---

1. 'सम्यग्ज्ञानं' मु । 2. 'सम्यग्ज्ञानस्य' मु । 3. 'अर्थव्यवसायमन्तरेणैव' मु । 4. 'स्वव्यवसायात्मकत्वात्' मु । 5. 'विपदापन्नं ज्ञानं' मु । 6. 'सम्यग्ज्ञानादर्थे' मु । 7. 'ऽपि' मु । 8. 'इष्टप्रसिद्धिः' स । 9. 'तं न प्रतिपाद्यसे' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्तिः तत्स्वकोयार्थव्यवसायात्मकं सिद्धम्, तस्यार्थाव्यवसायात्मकत्वे[1] तेन परप्रतिपत्तेरयोगात् । यदि पुनः पराभ्युपगमान्तरात्परप्रतिपत्तिरिति मतम्, तदाप्यनिवृत्तः पर्यनुयोगः, तस्यापि पराभ्युपगमान्तरस्य प्रतिपत्त्य-प्रतिपत्तिपूर्वकत्वे पूर्वोक्तदूषणानतिक्रमात् ।

§ ३१. स्यान्मतम्—न बहिरर्थाः परमार्थतः सन्ति, तत्प्रत्ययानां निरालंबनत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्, सन्तानान्तरविज्ञानानामप्यसत्त्वात् । तत्र स्वरूपमात्रव्यवसायात्मकमेव विज्ञानमिति; तदप्यसारम्; तथा हि—सर्वप्रत्ययानां निरालंबनत्वं न तावत्प्रत्यक्षतः सिद्धयति, तस्य तद्विषयत्वाभावात्[2] । 'विवादापन्नाः प्रत्यया निरालम्बना एव, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नेन्द्रजालादिप्रत्यय[3]वदित्यनुमानान्निरालंबनत्वसिद्धिः' इत्यपि मिथ्या; स्वसन्तानप्रत्ययेन व्यभिचारात् । तस्यापि सन्तानान्तरप्रत्ययवत्पक्षीकरणे किमिदमनुमानज्ञानं स्वसाध्यार्थालंबनं निरालंबनं वा । प्रथम पक्षे तेनैवानैकान्तिकं[4] प्रत्ययत्वम् । द्वितीयकल्पनायां नातो निरालंबनत्वसिद्धिः ।

§ ३२. परब्रह्मस्वरूपसिद्धिरेव सकलभेदप्रत्ययानां निरालंबनत्वसिद्धिः; इत्यपि न व्यवतिष्ठते; परब्रह्मण एवाप्रसिद्धेः । तद्धि स्वतो वा सिद्धयेत् परतो वा, न तावत्स्वत एव, विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात् । परतश्चेदनुमानादागमाद्वा । यद्यनुमानात्, किमत्रानुमानमित्यभिधीयताम् । 'विवादापन्नो[5]ऽर्थः प्रतिभासान्तःप्रविष्ट एव, प्रतिभासमानत्वात् । यो यः प्रतिभासमानः स स प्रतिभासन्तःप्रविष्ट एव दृष्टः, यथा प्रतिभास्यात्मा, प्रतिभासमानश्च सकलोऽर्थश्चेतनाचेतनात्मको विवादापन्नः[6], तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्ट एव' इत्यनुमानं न सम्यक्; धर्मिहेतुदृष्टान्तानां प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वे साध्यान्तःपातित्वेनानुमानोत्थानायोगात् । प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वाभावे तैरेव[7] हेतोर्व्यभिचारात् ।

§ ३३. यदि पुनरानाद्यविद्यावासनाबलाद्धर्मि-हेतु-दृष्टान्ताः प्रतिभासबहिर्भूता इव निश्चीयन्ते, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-सभ्य-सभापतिजनवत् । ततोऽनुमानमपि संभवत्येव । सकलानाद्यविद्याविलासविलये तु प्रतिभासान्तःप्रविष्टमखिलं प्रतिभासमेवेति विप्रतिपत्त्यभावात् । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावाभावात् साध्यसाधनभावानुपपत्तेर्न किंचिदनुमानोपन्यासफलम् ।

---

1. 'तस्याव्यसायात्मकत्वे' मु । 2. 'तद्विषयत्वात्' मु । 3. 'जालादिवदिति' मु । 4. 'अनैकान्तिकत्वं' मु । 5. 'विवादपदापन्नोऽर्थः' अ ब स । 6. 'विवादपदापन्नः' अ स । 7. 'तैरेवेति' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयमनुभूयमाने परब्रह्मणि प्रतिभासात्मनि देशकालाकाराव्यवच्छिन्न[1]-स्वरूपे निर्व्यभिचारे सकलावस्था[2]व्यापिनि अनुमानाप्रयोगात् इति समाधीयते; तदा साऽप्यनाद्यविद्या यदि प्रतिभासान्तःप्रविष्टा, तदा विद्यैव कथमसन्तं धर्मि-हेतु-[3]दृष्टान्तादिभेदमुपदर्शयेत्। अथ प्रतिभासबहिर्भूता, तदा साऽप्रतिभासमाना प्रतिभासमाना वा। न तावदप्रतिभासमाना, भेदे प्रतिभासरूपत्वात्तस्याः। प्रतिभासमाना चेत्, तथैव हेतोर्व्यभिचारः, प्रतिभासबहिर्भूतत्वेऽपि तस्याः प्रतिभासमानत्वात्।

§ ३४. स्यादाकूतम्—न प्रतिभासमाना नाप्यप्रतिभासमाना,[4] न प्रतिभासबहिर्भूता नापि प्रतिभासान्तःप्रविष्टा, नैका न चानेका, न नित्या नाप्यनित्या, न व्यभिचारिणी नाप्यभिचारिणी, सर्वथा विचार्यमाणायोगात्। सकलविचारातिक्रान्तस्वरूपैव, रूपान्तराभावात्, अविद्याया नीरूपतालक्षणत्वात् इति; तदेतदप्यविद्याविजृम्भितमेव; तथाविधनीरूपतास्वभावायाः केनचिदविद्यायाः कथंचिदप्रतिभासमानायाः वक्तुमशक्तेः। प्रतिभासमानायास्तु तथावचने कथमसौ सर्वथा नीरूपा स्यात्। येन स्वरूपेण यः[5] प्रतिभासते तस्यैव तद्रूपत्वात्। तथा सकलविचारातिक्रान्ततया किमसौ विचारगोचराऽविचारगोचरा वा स्यात्। प्रथमकल्पनायां सकलविचारातिक्रान्ततया विचारानतिक्रान्तत्वादभ्युपगमव्याघातः स्यात्[6]। द्वितीयकल्पनायां न सकलविचारातिक्रान्तता व्यवतिष्ठते, सकलविचारातिक्रान्ततायाः[7]अपि तस्यास्तदा[8] व्यवस्थाने सर्वथैकानेकादि[9]-रूपताया अपि व्यवस्थानप्रसंगात्। तस्मात्सत्स्वभावैवाविद्याऽभ्युपगन्तव्या, विद्यावत्। तथा च विद्याऽविद्याद्वैतप्रसिद्धेः कुतः **परमब्रह्मणो**ऽनुमानात्सिद्धिः। एतेनोपनिषद्वाक्यात्**परमपुरुष**सिद्धिः प्रत्याख्याता। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' [ ] इत्यादिवाक्यस्य परमात्मनोऽर्थान्तरभावे द्वैतप्रसक्तेरविशेषात्। तस्यानाद्यविद्यात्मकत्वेऽपि पूर्वोदितदूषणगण[10]प्रसंगात्। ततो न परमपुरुषाद्वैतसिद्धिः स्वतः परतो वा, येन 'सम्यग्ज्ञानं स्वव्यवसायात्मकमेव न पुनरर्थव्यवसायात्मकम्, अर्थाभावात्', इति वदन् अवधेयवचनः स्यात्।

---

1. 'कालाकारावच्छिन्न' मु। 2. 'सकलकालावस्था' मु। 3. 'धर्मिदृष्टान्तादि' मु। 4. 'नाप्रतिभासमाना' मु। 5. 'यः' नास्ति अ ब स। 6. 'स्यात्' नास्ति मु। 7. 'क्रान्ततायामपि' मु। 8. 'तया' मु। 9. 'एकानेकरूपतायाः' मु। 10. 'गण' नास्ति मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ३५. यत्तु स्वप्नज्ञानं स्वव्यवसायात्मकमेवेत्युक्तं तदपि न संगतम्, तस्य साक्षात्परम्परया वाऽर्थव्यवसायात्मकत्वघटनात् । द्विविधो हि स्वप्नः सत्योऽसत्यश्च । तत्र सत्यो देवताकृतः स्यात् धर्माधर्मकृतो वा, स[1] कस्यचित्साक्षादर्थव्यवसायात्मकः[2] प्रसिद्धः, स्वप्नदशायां यद्देशकालाकारतयाऽर्थः प्रतिपन्नः पुनर्जागृद्दशायामपि तद्देशकालाकारतयैव तस्य व्यवसीयमानत्वात्। कश्चित्सत्यः स्वप्नः[3] परम्परयार्थव्यवसायी, स्वप्नाध्यायनिगदितार्थप्रापकत्वात् । तदुक्तम्—

> यस्तु पश्यति रात्र्यंते[4] राजानं कुंजरं हयं ।
> सुवर्णं वृषभं गां च कुटुंबं[5] तस्य वर्धते ॥ [ ]

इति कुटुंबवर्धनाविर्भाविनः स्वप्ने राजादिदर्शनस्य कथमर्थनिश्चायकता न स्यात्, पावकाविनाभाविधूमदर्शनवत् । दृष्टार्थाव्यवसायात्मकत्वान्न स्वप्नबोधोऽर्थव्यवसायी इति वचने लैंगिकोऽपि बोधोऽर्थव्यवसायी माभूत्,[6] तत एव, तद्वत् । अनुमानबोधोऽनुमितार्थव्यवसायी संभवतीति वचने स्वप्नागमगम्यार्थव्यवसायी स्वप्नबोधोऽपि कथं नाभ्यनुज्ञायते । कदाचिद्व्यभिचारदर्शनान्नैवमभ्युपगमः कर्तुं सुशक्य इति चेत्; न; देशकालाकारविशेषं यथार्थागमोदितमपेक्ष्यमाणस्य क्वचित्कदाचित्कथंचिद् व्यभिचाराभावात् । तदपेक्षाविकलस्तु न समीचीनः स्वप्नः, तस्य स्वप्नाभासत्वात् । प्रतिपत्तुरपराधाच्च व्यभिचारः संभाव्यते न पुनरनपराधात् । यथा चाधूमं[7]धूमबुद्ध्या प्रतिपद्यमानस्य ततः पावकानुमानं व्यभिचरतीति[8] प्रतिपत्तुरेवापराधो न धूमस्य धीमद्भिरभिधीयते तथैवास्वप्नं स्वप्नबुद्ध्याध्यवस्यतः[9] ततस्तद्विषयाध्यवसायो व्यभिचरतीति[10] न स्वप्नागमस्यापराधः प्रतिपत्तुरेवा[11]पराधात् ।

§ ३६. यः पुनरसत्यः स्वप्नः पित्ताद्युद्रेकजनितः स किमर्थसामान्यं व्यभिचरति अर्थविशेषं वा । न तावदर्थसामान्यं देशकालाकारविशेषाणामेव व्यभिचारात्, सर्वत्र सर्वदा सर्वथार्थसामान्यस्य सद्भावात् । तदभावेऽर्थविशेषेषु संशयविपर्यासस्वप्नायथार्थज्ञानानामनुपपत्तेः[12] । न हि

---

1. 'स' नास्ति मु । 2. 'साक्षाद्व्यवसायात्मकः' मु । 3. 'सत्यः' अ ब द नास्ति । 4. 'स्वप्नान्ते' अ ब स । 5. 'कुटंबं' मु । 6. 'माभूत' मु । 7. 'चाधूमः' मु । 8. 'व्यभिचारीति' मु स । 9. 'अध्यवस्य' मु । 10. 'न व्यभिचर''''' मु । 11. 'प्रतिपत्तेरेवा' मु । 12. 'अनुत्पत्तेः' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किंचिद्ज्ञानं सत्तामात्रं व्यभिचरति, तस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः। ततोऽसत्यस्वप्नस्याप्यर्थसामान्यव्यवसायात्मकत्वसिद्धेर्न किंचिद् ज्ञानमर्थाव्यवसायात्मकम्। विशेषं तु यत एव व्यभिचरति तत एवासत्यः। कथमन्यथा सत्येतरव्यवस्थितिः स्यात्, तस्याः स्वार्थविशेषप्राप्त्यप्राप्तिनिमित्तत्वात्। इत्यलं प्रसंगेन, स्वव्यवसायात्मकत्ववत् सम्यग्ज्ञानस्यार्थव्यवसायात्मकत्वप्रसिद्धेः।

[अस्वसंवेदिज्ञानवादिनां नैयायिकानां मतनिरासः]

§ ३७. अत्रापरः प्राह—सम्यग्ज्ञानमर्थव्यवसायात्मकमेव न स्वव्यवसायात्मकम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, एकस्य ज्ञानस्यानेकाकारानुपपत्तेः। न हि ज्ञानमेकमाकारं कर्मतामापन्नं स्वं व्यवस्यति[1] करणात्मना[2]-कारेणेति वक्तुं युक्तम्, ताभ्यां कर्मकरणाकाराभ्यां ज्ञानस्याभेदे भेदप्रसंगात्। न हि भिन्नाभ्यां ताभ्यामभिन्नमेकं नाम, अतिप्रसंगात्। तयोर्वाकारयोर्ज्ञानादभेदे भेदविरोधात्[3]। न ह्यभिन्नादभिन्नयोर्भेदः संभाव्यते, अतिप्रसंगादेव[4]। ताभ्यां विज्ञानस्य भेदोपगमे न विज्ञानमात्मनात्मानं व्यवस्यति, परात्मना परात्मन एव व्यवसायात्। तौ चाकारौ यदि ज्ञानस्यात्मानौ तदा ज्ञानं व्यवस्यति वा न वा। प्रथमपक्षे किमेकेनाकारान्तरेण द्वाभ्यां वाकारान्तराभ्यां तत्तौ व्यवस्येत्[5]। न तावदेकेनाकारान्तरेण, विरोधात्। द्वाभ्यां व्यवस्यति इति चेत्, तयोरप्याकारान्तरयोर्ज्ञानादभेदो भेदो वा स्यात् इत्यनिवृत्तः पर्यनुयोगोऽनवस्था च महीयसी। कथंचिद्भेदः कथंचिदभेद इत्युभयपक्षालंबनमपि[6] अनेनैवापास्तम्, पक्षद्वयनिक्षिप्तदोषानुषंगात् पक्षान्तरासंभवाच्चेति।

§ ३८. सोऽपि न न्यायकुशलः; प्रतीत्यतिलंघनात्। लोके हि ज्ञानस्य स्वव्यवसायिन एवार्थव्यसायित्वेन प्रतीतिः सिद्धा। न चेयं मिथ्या, बाधकाभावात्। 'स्वात्मनि क्रियाविरोधो बाधकः' इति चेत्, का पुनः क्रिया। किमुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा। यद्युत्पत्तिः, सा स्वात्मनि विरुद्ध्यताम्। न हि वयमभ्यनुजानीमहे ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति। 'नैकं स्वस्मात्प्रजायते' [आ० मी० का० २४] इति **समन्तभद्रस्वामि**भिरभिधानात्।

§ ३९. अथ ज्ञप्तिः क्रिया, सा स्वात्मनि न[7]विरुद्धा, तदात्मनैव ज्ञानस्य स्वकारणकलापादुत्पादात्। प्रकाशात्मनेव प्रकाशस्य प्रदीपादेः। न हि

1. 'आपन्नं व्यवस्यति' मु। 2. 'कर्मात्मना' मु। 3. 'भेदप्रसंगात्' मु। 4. 'अतिप्रसंगात्। 'एवं' मु ब। 5. 'व्यवस्येत' मु ब। 6. 'पक्षावलम्बन' अ ब स। 7. 'न' नास्ति' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वकारणसामग्रीतः प्रदीपादेः प्रकाशः समुपजायमानः स्वप्रकाशात्मना नोत्पद्यत इति प्रातीतिकम्, तत्स्वरूपप्रकाशने[1] प्रकाशान्तरापेक्षाप्रसंगात् । न चायं प्रदीपाद्यालोकः कलशादिज्ञानं स्वरूपज्ञानं च जनयतश्चक्षुषः[2] सहकारित्वं नात्मसात्कुरुते येन स्वप्रकाशको न स्यात् । चक्षुषः सहकारित्वं हि प्रदीपादेः प्रकाशकत्वम् । तच्च कलशादाविव स्वात्मन्यपि दीपादेर्विद्यत एवेति सिद्धा स्वात्मनि प्रकाशनक्रिया । तद्वद्विज्ञानस्यार्थप्रकाशनमिव स्वप्रकाशनमप्यविरुद्धमवबुद्ध्यताम् ।

§ ४०. एतेन 'ज्ञानं न स्वप्रकाशकम्, अर्थप्रकाशकत्वाच्चक्षुरादिवत्'[3] इत्यनुमानमपास्तम्, प्रदीपादिना हेतोरनेकान्तात् । प्रदीपादिरुपचारात्प्रकाशको न परमार्थत इति तेनाव्यभिचारे चक्षुरादेरपि परमार्थतोऽर्थाप्रकाशकत्वात्साधनशून्यो दृष्टान्तः, ज्ञानस्यैव परमार्थतोऽर्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः । ततो 'ज्ञानं स्वप्रकाशकम्, अर्थप्रकाशकत्वात् । यत्तु न स्वप्रकाशकं तन्नार्थप्रकाशकं दृष्टम्, यथा कुड्यादिकम् । अर्थप्रकाशकं च ज्ञानम् । तस्मात्स्वप्रकाशम्' इति केवलव्यतिरेक्यनुमानमविनाभावनियमनिश्चयलक्षणाद्धेतोरुत्पद्यमानं निरवद्यमेवेति बुध्यामहे । चक्षुरादेः परमार्थतोऽर्थप्रकाशकत्वासिद्धेस्तेन साधनस्यानैकान्तिकत्वानुपपत्तेः[4] । कुड्यादेरपि स्वाविनाभाविपदार्थान्तरप्रकाशकत्वाद्धूमादिवत् साधनाव्यतिरेको दृष्टान्त इत्यपि समुत्सारितमनेन, तस्याप्युपचारादर्थप्रकाशकत्वसिद्धेः, अन्यथा तज्जनितविज्ञानवैयर्थ्यापत्तेः ।

§ ४१. यत्पुनर्ज्ञानमात्मानमात्मना जानातीति कर्मकरणाकारद्वयपरिकल्पनायामनवस्थादिदोषानुषंगो बाधक इति मतम्, तदपि न सुन्दरतरम्, तथाप्रतीतिसिद्धत्वात् । जात्यन्तरत्वादाकाराकारवतो[5]र्भेदाभेदं प्रत्यनेकान्तात् । कर्मकरणाकारयोर्ज्ञानात् कथंचिदभेदः कथंचिद्भेद इति नैकान्तेन भेदाभेदपक्षोपक्षिप्तदोषोपनिपातः **स्याद्वादिनः**[6] संलक्ष्यते । न च कथंचिदित्यनर्थपदमात्रं ज्ञानात्मना तदभेदस्य कथंचिदभेदशब्देनाभिधानात् । कर्मकरणात्मना च भेद इति कथंचिद्भेदध्वनिना दर्शितत्वात् । तथा च ज्ञानात्मना तदभेद इति ज्ञानमेवाभेद[7]स्ततो भिन्नस्य ज्ञानात्मनोऽप्रतीतेः । कर्मकरणाकारतया च भेद इति कर्मकरणाकारावेव भेदस्त

---

1. 'प्रकाशेन' मु । 2. 'चक्षुषो जनयतः' । 3. 'प्रकाशकत्वादित्यनु....' मु । 4. 'अनेकान्तिकतानुपपत्तेः' मु । 5. 'आकारवतोः' मु । 6. 'स्याद्वादिनाम्' मु । 7. 'ज्ञानभेदाभेदस्ततो' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्व्यतिरिक्तस्य[1] तदाकारस्याप्रतीयमानत्वात् इति। येनात्मना ज्ञानात् कर्मकरणाकारयोरभेदो येन च भेदस्तौ ज्ञानात्किमभिन्नौ भिन्नौ वा इति न पर्यनुयोगस्यावकाशोऽस्ति यतोऽनवस्था महीयसी संप्रसज्येत। न च भिन्नाभ्यामेव कर्मकरणाभ्यां भवितव्यमिति नियमोऽस्ति, करणस्याभिन्न[2]-कर्तृकस्यापि दर्शनात्, भिन्नकर्तृककरणवत्[3]। यथैव हि देवदत्तः परशुना छिनत्ति काष्ठमित्यत्र देवदत्तात्कर्तुर्भिन्नं परशुलक्षणं करणमुपलक्ष्यते[4] तथाग्निर्दहति दहनात्मना इत्यत्राग्नेः कर्त्तुर्दहनात्मलक्षणं करणमभिन्न-मुपलभ्यत एव। दहनात्माप्युष्णलक्षणो गुणः[5] स चाग्नेर्गुणिनो भिन्न एवेति न मन्तव्यम्, सर्वथा तयोर्भेदे[6] गुणगुणीभावविरोधात्, सह्य-विन्ध्य-वत्। गुणिनि गुणस्य समवायात्तयोस्तद्भाव इत्यपि न सम्यक्[7], सम-वायस्य कथंचिदविष्वग्भावादन्यस्य विचारासहत्वात्। समित्येकीभा-वेनावायनमवगमनं निश्चयं[8] हि समवायः। तच्च समवायनं कर्मस्थं सम-वेयमानत्वं समवायितादात्म्यं सम्प्रतीयते[9]। कर्तृस्थं पुनः समवायनं समवायकत्वं प्रमातुस्तादात्म्येन समवायिनोर्ग्राहकत्वम्, न चान्या गतिरस्ति, क्रियायाः कर्तृकर्मस्थतयैव प्रतिपादनात्। तत्र "कर्मस्था क्रिया कर्मणोऽनन्या कर्तृस्था कर्तुरनन्या" [ ] इति वचनात्।

§ ४२. ततो नाभिन्नकर्तृकं करणमप्रसिद्धम्। नापि कर्म, तस्यापि भिन्नकर्तृकस्येवाभिन्नकर्तृकस्यापि प्रतीतेः। यथैव हि कटं करोतीत्यत्र कर्तु-र्भिन्नं[10] कर्मानुमन्यते तथा प्रदीपः प्रकाशयत्यात्मानमित्यत्र कर्तुरभिन्नं कर्म सम्प्रतीयत एव। न हि प्रदीपात्मा प्रदीपाद्भिन्न एव प्रदीपस्याप्रदीपत्व-प्रसंगात्, घटवत्। प्रदीपे प्रदीपात्मनो भिन्नस्यापि समवायात् प्रदीपत्व-सिद्धिरिति चेत्; न; अप्रदीपेऽपि घटादौ तत्समवायप्रसंगात्। प्रत्यासत्ति-विशेषात्प्रदीपात्मनः प्रदीप एव समवायो नान्यत्रेति चेत्, स प्रत्यासत्ति-विशेषः[11] कोऽन्योऽन्यत्र[12] कथंचित्तादात्म्यात्। ततः प्रदीपादभिन्न एव प्रदीपात्मा कर्मेति सिद्धमभिन्नकर्तृकं कर्म। तथा च ज्ञानमात्मानमा[13]-त्मना जानातीति न स्वात्मनि ज्ञप्तिलक्षणायाः क्रियाया विरोधः सिद्धः, यतः स्वव्यवसायात्मकं ज्ञानं न स्यात्।

---

1. 'भेदस्य द्रव्यव्यतिरिक्तस्याकारस्या....' मु। 2. 'करणस्य भिन्न' मु अ। 3. 'भिन्नकर्तृकरणवत्' मु अ स द। 4. 'उपलभ्यते' मु अ। 5. 'गुणः' नास्ति मु। 6. 'तयोर्विरोधे' मु। 7. 'सत्यं' मु अ स द। 8. '....गमनं हि समवायः' मु द। 9. 'प्रतीयते' मु। 10. 'भिन्नकर्म' मु अ। 11. 'विशेषोऽत्र' मु। 12. 'कोऽन्यत्र' मु। 13. 'ज्ञानात्मात्मानमात्मना' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ४३ स्यान्मतम्—'अर्थज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्, घटादिवत्' इत्यनुमानं स्वार्थव्यवसायात्मकत्वप्रतीतेर्बाधकमिति, तदपि फल्गुप्रायम्, महेश्वरार्थज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारात्, तस्य ज्ञानान्तरावेद्यत्वेऽपि प्रमेयत्वात्। यदि पुनरीश्वरार्थज्ञानमपि ज्ञानान्तरप्रत्यक्षम्, अस्वसंवेद्यत्वात्[1] इति मतिः[2], तदा तदप्यर्थज्ञानमीश्वरस्य प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा। यदि प्रत्यक्षम्[3], स्वतो ज्ञानान्तराद्वा। स्वतश्चेत्प्रथममप्यर्थज्ञानं स्वतः प्रत्यक्षमस्तु किं विज्ञानान्तरेण। यदि तु ज्ञानान्तरात्प्रत्यक्षं तदपीष्यते, तदा तदपि ज्ञानान्तरं किमीश्वरस्य प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वेति स एव पर्यनुयोगोऽनवस्थानं च दुःशक्यं परिहर्त्तुम्। यदि पुनरप्रत्यक्षमेवेश्वरार्थज्ञानज्ञानं तदेश्वरस्य सर्वज्ञत्वविरोधः स्वज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वात्। तदप्रत्यक्षत्वे च प्रथमार्थज्ञानमपि न तेन प्रत्यक्षं स्वयमप्रत्यक्षेण ज्ञानान्तरेण तस्यार्थज्ञानस्य साक्षात्करण-विरोधात्। कथमन्यथात्मान्तरज्ञानेनापि कस्यचित्साक्षात्करणं न स्यात्। तथा चानीश्वरस्यापि सकलस्य प्राणिनः स्वयमप्रत्यक्षेणापीश्वरज्ञानेन[4] सर्वविषयेण सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणं[5] संगच्छेत, ततः सर्वस्य सर्वार्थवेदित्वसिद्धेः[6] ईश्वरानीश्वरविभागाभावो बोभूयेत[7]। यदा चार्थज्ञानमपि प्रथममीश्वरस्याप्रत्यक्षमेव कक्षीक्रियते तदा तेनापि स्वयमप्रत्यक्षेण महेश्वरस्य सकलोऽर्थः प्रत्यक्षं कथं समर्थ्येत, तेन सकलप्राणिगणस्य सर्वार्थ-साक्षात्करणप्रसंगस्य तदवस्थत्वात्। तदनेन वादिना महेश्वरस्यापि किंचिज्ज्ञत्वं सर्वस्य वा सर्वज्ञत्वमनुज्ञातव्यम्, न्यायबलायातत्वात्। तथा नाभ्यनुज्ञाने[8] वा **नैयायिकस्य** नैयायिकत्वविरोधः केनास्य वार्येत[9]। यदि पुनरीश्वरस्य ज्ञानं सकलार्थवदात्मानमपि साक्षात्कुरुते, नित्यैकरूपत्वात्। क्रमभाव्यनेकानित्यज्ञानोपगमे महेश्वरस्य सकृत्सर्वार्थसाक्षा[10]त्करण-विरोधात्[11] सर्वज्ञत्वाव्यवस्थितेरिति मतम्, तदा कथमनेनैवानैकान्तिको हेतुर्न स्यात्।

§ ४४. स्यान्मतिरेषा युष्माकं—अस्मदादिज्ञानापेक्षयार्थज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं प्रमेयत्वेन हेतुना साध्यते, ततो नेश्वरज्ञानेन व्यभिचारः, तस्यास्मदादिज्ञानाद्विशिष्टत्वात्। न हि विशिष्टे दृष्टं धर्ममविशिष्टेऽपि

---

1. 'असंवेद्यत्वात्' मु। 2. 'मितिः' मु। 3. 'प्रत्यक्षं तदा' मु। 4. 'ईश्वरस्य ज्ञानेन' ब स। 5. 'सर्वार्थसाक्षात्-' मु। 6. 'सर्वार्थवेदित्वासिद्धेः' मु। 7. 'भूयते' मु। 8. 'तथाभ्यनुज्ञाने' मु। 9. 'बाध्येत' अ ब स। 10. 'सर्वार्थसार्थ' अ स। 11. 'विधानात्' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घटयन् प्रेक्षावत्तां लभते इति; साऽपि न परीक्षासहा; ज्ञानान्तरस्यापि परज्ञानेन[1] वेद्यत्वेऽनवस्थानुषंगात्। तस्य ज्ञानान्तरेणावेद्यत्वे[2] तेनैव हेतोर्व्यभिचारः। न च तदप्रमेयमेव सर्वस्येति वक्तुं शक्यम्, प्रतिपत्तुः प्रमाणबलात्तद्व्यवस्थापनविरोधात्[3]। सर्वज्ञज्ञानेनापि तस्याप्रमेयत्वे सर्वज्ञस्य सर्वज्ञताव्याघातात्। ततोऽस्मदादिज्ञानापेक्षयापि न ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षं प्रमेयत्वाद्धेतोः साधयितुं शक्यम्, ज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मनः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् प्रत्यक्षबाधित[4]पक्षतया हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वप्रसंगाच्च[5]। एतेनार्थज्ञाने[6] ज्ञानान्तरवेद्ये साध्ये कालत्रय-त्रिलोकवर्तिपुरुषपरिषत्संप्रयुक्तसकलहेतुनिकरस्य कालात्ययापदिष्टत्वं व्याख्यातम्। तदनेन यदुक्तमेकात्मसमवेतानन्तरविज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानमिति तत्समुत्सारितम्।

[परोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानां मतनिरासः]

§ ४५. योऽप्याह—न स्वव्यवसायात्मकं[7] ज्ञानम्, परोक्षत्वात्, अर्थस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः। स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते। 'ज्ञाते त्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिम्'[8] इति [ ] **शाबरभाष्ये** श्रवणात्। तथा ज्ञानस्यार्थवत् प्रत्यक्षत्वे कर्मत्वप्रसंगात् ज्ञानान्तरस्य करणस्यावश्यं परिकल्पनीयत्वात्। तस्य चाप्रत्यक्षत्वे प्रथमे कोऽपरितोषः। प्रत्यक्षत्वे तस्यापि पूर्ववत्कर्मतापत्तेः करणात्मनोऽन्यविज्ञानस्य परिकल्पनायामनवस्थाया दुर्निवारत्वात्। तथैकस्य ज्ञानस्य कर्मकरणद्वयाकारप्रतीतिविरोधाच्च न ज्ञानं प्रत्यक्षं परीक्षकैरनुमन्तव्यमिति; सोऽपि न यथार्थमीमांसकतामनुसर्तुमुत्सहते; ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वे सर्वथार्थस्य[9] प्रत्यक्षत्वविरोधात्। सन्तानान्तरज्ञानेनापि सर्वस्यार्थप्रत्यक्षत्वप्रसंगात्[10]। तथा च न कस्यचित्कदाचिदर्थोऽप्रत्यक्षः[11] स्यात्।

§ ४६. स्यादाकूतं भवताम्—यस्यात्मनोऽर्थे परिच्छित्तिः प्रादुर्भवति तस्य ज्ञानेन सोऽर्थः प्रत्यक्षः प्रतीयते[12] न सर्वस्य ज्ञानेन सर्वोऽर्थः प्रत्यक्षः, सर्वस्य प्रमातुः सर्वत्रार्थे परिच्छित्तेरसंभवात् इति; तदपि स्वगृहमान्यं

---

1. 'प्रज्ञानेन' मु। 2. 'ज्ञानान्तरेण वेद्यत्वे' मु। 3. 'व्यवस्थानविरो....' मु। 4. 'बाधित' मु। 5. 'प्रसंगात्' अ ब स। 6. 'अर्थज्ञानेन' मु। 7. 'स्वार्थव्यवसाय-' मु। 8. 'बुद्धिरिति सावरभाष्ये' मु। 9. सर्वार्थस्य' मु। 10, 'सर्वस्यार्थस्य प्रत्यक्ष'- मु। 11. 'अर्थप्रत्यक्षः' मु। 12. 'सोऽर्थः प्रतीयते' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मीमांसकानाम्; क्वचिदर्थे[1] परिच्छित्तेः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वविकल्पानतिक्रमात्। सा हि न तावत्प्रत्यक्षा, ज्ञानधर्मत्वात्[2] कर्मत्वेनाप्रतीतेश्च[3], करणज्ञानवत्। तस्याः कर्मत्वेनाप्रतीतावपि क्रियात्वेन प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे करणज्ञानस्य कर्मत्वेनाप्रतीयमानस्यापि करणत्वेन प्रतीयमानत्वात् प्रत्यक्षत्वमस्तु। करणत्वेन प्रतीयमानं करणज्ञानं करणमेव स्यात्, न प्रत्यक्षं कर्मलक्षणमिति चेत्, तर्हि पदार्थपरिच्छित्तिरपि क्रियात्वेन प्रतिभासमाना क्रियैव[4] स्यात् न प्रत्यक्षा कर्मत्वाभावादिति प्रतिपत्तव्यम्। यदि पुनरर्थधर्मत्वादर्थपरिच्छित्तेः प्रत्यक्षतेष्यते, तदा साऽर्थप्राकट्यमुच्यते। न चैतदर्थग्रहणविज्ञानस्य प्राकट्याभावे घटामटति, अतिप्रसंगात्। न ह्यप्रकटेऽर्थज्ञाने सन्तानान्तरवर्तिनि कस्यचिदर्थस्य[5] प्राकट्यं घटते, प्रमातुरात्मनः स्वयं प्रकाशमानस्य प्रत्यक्षस्यार्थपरिच्छेदकस्य प्राकट्यादर्थे प्राकट्यं परिच्छित्तिलक्षणं संलक्ष्यते। परिच्छित्तेः परिच्छेदकत्वरूपायाः[6] कर्तृस्थायाः क्रियायाः कर्तृधर्मत्वादुपचारादर्थधर्मत्ववचनात् परिच्छिद्यमानतारूपायाः परिच्छित्तेः कर्मस्थायाः क्रियाया एव परमार्थतोऽर्थधर्मत्वसिद्धेः। करणज्ञानधर्मता तु परिच्छित्ते[7]र्नेष्यते एव। 'चक्षुषा रूपं पश्यति देवदत्तः' इत्यत्र चक्षुषः प्राकट्याभावेऽपि परोक्षस्यातीन्द्रियस्य रूपे प्राकट्यवत् ज्ञानस्य परोक्षस्य करणस्य प्राकट्याभावेऽपि अर्थे[8] प्राकट्यं सुघटमेव लोकेऽतीन्द्रियस्यापि करणत्वसिद्धेरिति केचित् अभ्यमंसत[9] **मीमांसकाः**; तेऽप्यन्धसर्पबिल[10]प्रवेशन्यायेन **स्याद्वादिमतमेवानुप्रविशन्ति**; **स्याद्वादिभिरपि** स्वार्थपरिच्छेदकस्य प्रत्यक्षस्यात्मनः कर्तृसाधनज्ञानशब्देनाभिधानात्। स्वार्थज्ञानपरिणतस्यात्मन एव स्वतन्त्रस्य ज्ञानत्वोपपत्तेः। यत्तु परोक्षमतीन्द्रियतया करणज्ञानं परैरुक्तं तदपि **स्याद्वादिभि**र्भावेन्द्रियतया करणमुपयोगलक्षणं प्रोच्यते। 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्' [त० सू० २।१८] इति वचनात्। तत्रार्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः, अर्थग्रहणव्यापार उपयोग इति व्याख्यानात्। केवलं तस्य कथंचिदात्मनोऽनर्थान्तरभावात्तदात्मतया प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः अप्रत्यक्षतैकान्तो निरस्यत इति प्रातीतिकं परीक्षकैरनुमन्तव्यम्।

§४७. ये तु मन्यन्ते—नात्मा प्रत्यक्षः कर्मत्वेनाप्रतीयमानत्वात्, करण-

---

1. 'क्वचिदर्थपरि' मु। 2. 'धर्मकत्वात्' मु। 3. 'अप्रतीतिश्च' मु। 4. 'क्रियेव' मु। 5. 'संतानांतरवर्तिनिकस्य चिदर्थस्य' मु। 6. 'परिच्छेदकस्वरूपायाः' मु। 7. करणज्ञानधर्मतातुच्छित्ते-' मु। 8. 'प्राकट्याभावेऽपि अर्थप्राकट्यं' मु। 9. 'केचित् समभ्यमंसत' मु। 10. 'विल' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानवत्, इति; तेषां फलज्ञानेन हेतो[1]र्व्यभिचारः; कर्मत्वेनाप्रतीयमानस्यापि फलज्ञानस्य **प्राभाकरैः**[2] प्रत्यक्षत्ववचनात्। तस्य क्रियात्वेन प्रतिभासनात्[3] प्रत्यक्षत्वे प्रमातुरप्यात्मनः कर्तृत्वेन प्रतिभासमानत्वात्प्रत्यक्षत्वमस्तु। तच्च फलज्ञानमात्मनोऽर्थान्तरभूतमनर्थान्तरभूतमुभयं वा। न तावत्सर्वथार्थान्तरभूतमनर्थान्तरभूतं वा, मतान्तरप्रवेशानुषंगात्। नाप्युभयम्, पक्षद्वयनिगदितदूषणानुषक्तेः। कथंचिदनर्थान्तरत्वे तु फलज्ञानादात्मनः कथंचित्प्रत्यक्षत्वमनिवार्यम्, प्रत्यक्षादभिन्नस्य कथंचिदप्रत्यक्षत्वैकान्तविरोधात्। एतेनाप्रत्यक्ष एवात्मेति **प्रभाकर**मतमपास्तम्।

§ ४८. यस्य तु करणज्ञानवत्फलज्ञानमपि परोक्षं पुरुषः प्रत्यक्ष इति मतम्, तस्यापि पुरुषात्प्रत्यक्षात्कथंचिदभिन्नस्य फलज्ञानस्य करणज्ञानस्य च प्रत्यक्षतापत्तिः कथंचित्कथमपाक्रियेत[4]। ततो न **भट्ट**मतमपि विचारणां प्रांचति इति। स्वव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं अर्थपरिच्छित्तिनिमित्तत्वात्, आत्मवदिति व्यवतिष्ठते। नेत्रालोकादिभिर्व्यभिचारः साधनस्येति न मन्तव्यम्, तेषामुपचारतोऽर्थपरिच्छित्तिनिमित्तत्ववचनात्, परमार्थतः प्रमातुः प्रमाणस्य च तन्निमित्तत्वघटनात्।

[प्रधानपरिणामज्ञानवादिनां कापिलानां मतनिरासः]

§ ४९. अत्रापरः **कपिल**मतानुसारी प्राह—न सम्यग्ज्ञानं स्वव्यसायात्मकम्, अचेतनत्वात्, घटादिवत्[5]। न तच्चेतनम्, अनित्यत्वात्, तद्वत्। तदनित्यं चोत्पत्तिमत्त्वात्[6], विद्युदादिवत्। यत्तु स्वसंवेद्यं तच्चेतनं नित्यमनुत्पत्तिधर्मकं च सिद्धम्, यथा पुरुषतत्त्वम्, इति; सोऽपि न न्यायवेदी; व्यभिचारिसाधनाभिधानात्। उत्पत्तिमत्त्वं हि तावदनित्यतां व्यभिचरति, निर्वाणस्यानन्तस्याप्युत्पत्तिमत्त्वात्। तथैवानित्यत्वमचेतनात्वं व्यभिचरति, पुरुषभोगस्य कादाचित्कस्य बुद्ध्यध्यवसितार्थापेक्षस्य चेतनत्वेऽप्यनित्यत्वसमर्थनात्। अचेतनत्वं तु सम्यग्ज्ञानस्यासिद्धमेव[7]। तस्मादचेतनाद्विवेकख्यातिविरोधात्। चेतनसंसर्गाच्चेतनं ज्ञानमित्यपि वार्त्तम्, शरीरादेरपि चेतनत्वप्रसंगात्। ज्ञानस्य चेतनसंसर्गो विशिष्ट इति चेत्, स कोऽन्य; कथंचित्तादात्म्यात्। ततश्चेतनात्मकमेव ज्ञानं मन्तव्यमित्यचेतनत्व[8]मसिद्धम्।

---

1. 'फलज्ञानहेतो-' मु। 2. 'प्रभाकरैः' अ स। 3. 'प्रतिभासमानात्' मु। 4. 'अपाक्रियते' मु। 5. 'घटवत्' अ। 6. 'उत्पत्तिनिमित्तत्वात्' मु। 7. 'अशुद्धमेव' मु। 8. 'मचेतनमसिद्धं' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ५०. यदप्यभ्यधायि **सांख्यैः**—ज्ञानमचेतनं प्रधानपरिणामत्वात्, महाभूतवदिति, तदपि न श्रेयः, पक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षबाधितत्वात् । प्रतिवादिनः[1] कालात्ययापदिष्टत्वाच्च साधनस्य । तथानुमानबाधितश्च[2] पक्षः परं प्रति, चेतनं ज्ञानं स्वसंवेद्यत्वात्, पुरुषवत् । यत्तु न चेतनं न तत्स्वसंवेद्यम्, यथा कलशादीति व्यतिरेकनिश्चयात् नेदमनुमानं गमकम्। ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वमसिद्धमिति चेत्; न; तस्यास्वसंवेद्यत्वेऽर्थसंवेदनविरोधादित्युक्तप्रायम् ।

[भूतचैतन्यवादिनश्चार्वाकस्य मतनिरासः]

§ ५१. एतेन 'न स्वसंवेद्यं विज्ञानम्, कायाकारपरिणतभूतपरिणामित्वात्, पित्तादिवत्', इति वदं**श्चार्वाकः** प्रतिक्षिप्तः । न चेदं साधनं सिद्धम्, भूतविशेषपरिणामत्वासिद्धेः संवेदनस्य, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसंगात्, गन्धादिवत् । सूक्ष्मभूतविशेषपरिणामत्वान्न बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षं ज्ञानमिति चेत्, स तर्हि सूक्ष्मो भूतविशेषः[3]स्पर्शादिभिः परिवर्जितः स्वयमस्पर्शादिमान् संवेदनोपादानहेतुः सर्वदा बाह्येन्द्रियाविषयः कथमात्मैव नामान्तरेण निगदितो न भवेत् । तस्य ततोऽन्यत्वे भूतचतुष्टयविलक्षणत्वात्तत्वान्तरापत्तिर[4]दृष्टपरिकल्पना च प्रसज्येत[5]। तथात्मनः प्रमाणसिद्धत्वात्तत्परिणामस्यैव ज्ञानस्य घटनात् । तत इदं व्यवतिष्ठते – स्वव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानम्, चेतनात्मपरिणामत्वे सत्यर्थपरिच्छेदकत्वात् । यत्तु न[6] स्वव्यवसायात्मकं न तत्तथा, यथा घटः[7], तथा च सम्यग्ज्ञानम्, तस्मात्स्वव्यवसायात्मकमिति सम्यग्ज्ञानलक्षणं प्रमाणं सिद्धम् ।

[तत्त्वोपप्लववादिनो मतनिरासः]

§ ५१. ननु प्रमाणतत्त्वस्य प्रमेयतत्त्ववदुपप्लुतत्वान्न तत्त्वतः किंचित्प्रमाणं संभवति, इति कस्य लक्षणमभिधीयते, लक्ष्यानुवादपूर्वकत्वाल्लक्षणविधानस्य[8]। प्रसिद्धं लक्ष्यमनूद्य लक्षणं विधीयत इति लक्ष्यलक्षणभाववादिभिरभ्युपगमात्, इति केचिदभ्यमंसत,[9] तेषां तत्त्वोपप्लवमात्रमिष्टं यदि[10] साधयितुम्, तदा साधनमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च प्रमाणमेव

---

1. 'वादिनः' अ द । 2. 'बाधितः' मु । 3. 'सूक्ष्मविशेषः' मु । 4. 'तत्त्वान्तरतापत्तिः' स ब । 5. 'प्रसज्यते' अ द । 6. 'यन्न' ब । 7. 'घटादिकं, तथा च' ब । 8. 'लक्षणाभिधानस्य' मु ब द । 9. 'केचिदमंसत' मु । 10. 'यदि' नास्ति मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवितुमर्हति[1]। तथा चेदमभिधीयते—तत्त्वोपप्लववादिनोऽप्यस्ति प्रमाणम्, इष्टसाधनान्यथानुपपत्तेः। प्रमाणाभावेऽपीष्टसिद्धौ सर्वं सर्वस्य यथेष्टं सिद्धयेदित्यनुपप्लुततत्त्वसिद्धिरपि किं न स्यात्, सर्वथा विशेषाभावात्।

§ ५३. स्यादाकूतम्—न स्वेष्टं विधिप्राधान्येन साध्यते, येन तत्त्वोपप्लवं साधयतः प्रमाणसिद्धिः प्रसज्येत। किं तर्हि। पराभ्युपगतप्रमाणादितत्त्वनिराकरणसामर्थ्यात् परीक्षकजनमन[2]स्तत्त्वोपप्लवमनुसरति, गत्यन्तराभावात्।

§ ५४. तथा हि—प्रमाणत्वं कस्यचित्किमदुष्टकारणजन्यत्वेन बाधारहितत्वेन वा प्रवृत्तिसामर्थ्येन वार्थक्रियाप्राप्तिनिमित्तत्वेन वा व्यवतिष्ठेत[3]। न तावददुष्टकारणजन्यत्वेन[4], तस्य प्रत्यक्षतो गृहीतुमशक्तेः, करणकुशलादेरपि प्रमाणकारणत्वात्। तस्य चातीन्द्रियत्वोपगमात्। न चानुमानमदुष्टं कारण[5]मुन्नेतुं समर्थम्, तदविनाभाविलिंगाभावात्। सत्यज्ञानं लिंगमिति चेत्; न; परस्पराश्रयणात्। सति ज्ञानस्य सत्यत्वे तत्कारणस्यादुष्टत्वनिश्चयात् तस्मिन्सति ज्ञानस्य सत्यत्वसिद्धेः।

§ ५५. यदि पुनर्बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रमाणत्वं[6] साध्यते, तदा किं कदाचित्क्वचित्कस्यचिद्बाधकानुत्पत्त्या[7] तत्सिद्धिराहोस्वित् सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य प्रतिपत्तुर्बाधकानुत्पत्तेरिति पक्षद्वयमवतरति। प्रथमपक्षे, मरीचिकाचक्रे सलिलसंवेदनमपि प्रमाणमासज्येत[8], दूरस्थितस्य तत्संवेदनकाले कस्यचित्प्रतिपत्तुर्बाधकानुत्पत्तेः[9]। द्वितीयपक्षे तु, सकलदेशकालपुरुषाणां बाधकानुत्पत्तिः कथमसर्वविदाऽ[10]वबोद्धुं शक्येत, तत्प्रतिपत्तुः[11] सर्ववेदित्वप्रसंगात्।

§ ५६. यदि पुनः प्रवृत्तिसामर्थ्येन ज्ञानस्य प्रामाण्यमुन्नीयते, तदा प्रमाणेनार्थमुपलब्धवतस्तदर्थे प्रवृत्तिर्यदीष्यते तद्देशोपसर्पणलक्षणा तस्याः सामर्थ्यं च फलेनाभिसम्बन्धः सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा तदा इतरेतराश्रयदोषो[12]दुरुत्तरः स्यात्। सति संवेदनस्य[13]प्रमाणत्वनिश्चये तेनार्थप्रतिपत्तौ

---

1. 'भवति' मु। 2. 'जनयतः' मु। 3. 'व्यवतिष्ठते' मु स। 4. 'अदुष्टजन्यत्वेन' मु। 5. 'अदुष्टकारणं' अ। 6. 'प्रामाण्यं' मु द। 7. 'क्वचिद्बाधकानु'- मु द। 8. 'आसज्यते' मु द। 9. 'अनुपपत्तिः' अ। 10. 'विदो' मु द अ। 11. 'तत्तत्प्र-' मु द अ। 12. 'तदेतराश्रय-' मु, 'तदितरेतराश्रय·····' अ ब स। 13. 'संवेदनप्रमाणत्व-' मु द।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तेः तत्सामर्थ्यस्य च घटनात्, प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य निश्चये च तेनार्थसंवेदनस्य प्रमाणत्वनिर्णीतिः। प्रकारान्तरासंभवात्।

§ ५७. अथार्थक्रियाप्राप्तिनिमित्तत्वेन[1] संवेदनं प्रमाणतामास्कन्दति, तदा कुतस्तस्य तन्निश्चयः स्यात्। प्रतिपत्तुरर्थक्रियाज्ञानादिति चेत्, कुतस्तस्य प्रमाणत्वसिद्धिः। परार्थक्रियाप्राप्तिनिमित्तत्वेनेति चेत् तत्कुतः सिद्ध्येत्। तदर्थक्रियाज्ञानान्तराच्चेत्[2], कथमनवस्था न भवेत्। अथाद्यसंवेदनादेवार्थक्रियाज्ञानस्य प्रामाण्यं मन्यते, तदा परस्पराश्रयदोषः। सत्यर्थक्रियाज्ञानस्य प्रमाणत्वनिश्चये तद्‌बलादाद्यसंवेदनस्यार्थक्रियाप्राप्तिनिमित्तत्वेन प्रामाण्यनिश्चयस्तत्प्रामाण्यनिश्चयाच्चार्थक्रियासंवेदनस्य प्रमाणतासिद्धिः, कारणान्तराभावात्। ततो न प्रमाणतत्त्वं विचार्यमाणमवतिष्ठते[3]। तदवस्थानाभावे च न प्रमेयतत्त्वसिद्धिरिति[4]।

§ ५८. तदेतत्सकलं प्रलापमात्रम्, पराभिमतप्रमाणतत्त्वनिराकरणस्य स्वयमिष्टस्य प्रमाणमन्तरेण सिद्ध्ययोगात्। तस्यानिष्टत्वे[5] साधनानुपपत्तेः। परपर्यनुयोगमात्रस्य करणाददोषोऽयम्। 'परपर्यनुयोगपराणि हि बृहस्पतेः सूत्राणि' [ ] इति वचनात्सर्वत्र स्वातंत्र्याभावात्, इत्येतदपि यत्किंचनभाषणमेव, किमदुष्टकारणजन्यत्वेन प्रामाण्यं साध्यते बाधारहितत्वेन वेत्यादिपक्षाणां क्वचिन्निर्णयाभावे सन्देहासंभवात्परपर्यनुयोगायोगात्।

§ ५९. स्यादाकूतम्—पराभ्युपगमात् तन्निश्चयसिद्धेः संशयोत्पत्तेर्युक्तः प्रश्नः। तथा हि—**मीमांसका**भ्युपगमात् तावददुष्टकारणजन्यत्वं बाधावर्जितत्वं च निर्णीतं निश्चितत्वापूर्वार्थत्वलोकसम्मतत्ववत्। तदुक्तम्—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥ [ ]

तथा प्रवृत्तिसामर्थ्यमपि **नैयायिका**भ्युपगमान्निर्णीतम्—

'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्' [ ] इति वचनात्। तथार्थक्रियाप्राप्तिनिमित्तत्वमविसंवादित्वलक्षणं **सौगता**भ्युपगमान्निर्णीतमेव—

---

1. 'अर्थक्रियानिमित्त-' मु द। 2. 'परमार्थक्रियाज्ञानान्तराच्चेत्' मु द। 3. 'न प्रमाणत्वं विचार्यमाणं वा व्यवतिष्ठते' मु द। 4. 'प्रमेयत्वसिद्धिः' मु द। 5. 'तस्य स्वयमिष्टत्वे' मु द।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितेः ।
अविसंवादनं शब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥ [प्रमाणवा० १-३]

इति वचनात् । तदिदानीं चार्वाकमताश्रयणेन[2] सन्दिह्य पर्यनुयुज्यमानं न किंचिदुपालंभमर्हति इति ।

§ ६०. तदेतदपि न व्यवस्थां प्रतिपद्यते; पराभ्युपगमस्य प्रमाणाप्रमाणपूर्वकत्वे संशयाप्रवृत्तेः । तथा हि—यदि परेषामभ्युपगमाः प्रमाणपूर्वकाः[3], तदा कथं सन्देहः । प्रमाणपूर्वकस्य निर्णीतत्वात् । निर्णीतेः संशयविरोधात् । अथाप्रमाणपूर्वकाः[4], तदाऽपि न सन्देहः प्रवर्तते, तस्य क्वचित्कदाचित्कथंचिन्निर्णयपूर्वकत्वात् । तन्निर्णयस्यापि प्रमाणपूर्वकत्वात् । प्रमाणाभावे[5] सर्वथा तदनुपपत्तेरित्यलं प्रसंगेन, सर्वस्येष्टस्य संसिद्धेः प्रमाणप्रसिद्धेरबाधनात्, अन्यथाऽतिप्रसंगसमर्थनादिति ।

§ ६१. एतेन सर्वथा शून्यं संविदद्वैतं पुरुषाद्वैतं शब्दाद्वैतं वा समाश्रित्य प्रमाणप्रमेयप्रविभागं[6] निराकुर्वाणाः प्रत्याख्याताः स्वयमाश्रितस्य सर्वथा शून्यस्य संविदद्वैतादेर्वा कथञ्चिदिष्टत्वे प्रमाणसंसिद्धेर्व्यवस्थापनात् । तस्याप्यनिष्टत्वे तद्वादित्वविरोधात् प्रलापमात्रानुसरणापत्तेः परीक्षकत्वव्याघातादिति । तदेवं प्रमाणतत्त्वनिर्णीतौ प्रमेयतत्त्वसिद्धिरपि निर्बाधा व्यवतिष्ठत एव ।

[प्रामाण्यं स्वतः परतो वेति दर्शयति]

§ ६२. ननु चैवं प्रमाणं सिद्धमपि[7] किं स्वतः प्रामाण्यमात्मसात्कुर्वीत[8] परतो वा । न तावत्स्वतः, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य तद्विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात् । नापि परतः, अनवस्थानुषंगात्, परापरप्रमाणान्वेषणात्क्वचिदवस्थितेरयोगात् । प्रथमप्रमाणाद् द्वितीयस्य प्रामाण्यसाधने द्वितीयाच्च प्रथमस्य परस्पराश्रयणापत्तेः । प्रकारान्तराभावात् इति केचित्; तेऽपि असमीक्षितवचसः संलक्ष्यन्ते, स्वयमभ्यस्तविषये प्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्यसिद्धेः सकलविप्रतिपत्तीनामपि तत्र[9] प्रतिपत्तुरभावात् । अन्यथा

---

1. 'शब्दो' मु ब । 2. 'मतानुसारेण' मु, 'मतानुसरणेन' अ । 3. 'पूर्वकः' द मु । 4. 'पूर्वकः' मु ब । 5. 'प्रमाणाभावे प्रामाण्यनिश्चयात् तन्निश्चयनिबन्धनस्य च प्रमाणान्तरस्याभ्यस्तविषयत्वे सर्वथा तदनुपपत्तेः' मु द । 6. 'प्रमेयभागं' मु द । 7. 'प्रमाणसिद्धमपि' मु ब । 8. 'कुर्वीति' मु । 9. 'तत्र' नास्ति मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्य प्रमेये निस्संशयं प्रवृत्त्ययोगात्। तथाऽनभ्यस्तविषये परतः प्रमाणस्य प्रामाण्यनिश्चयात्, तन्निश्चयनिमित्तस्य च प्रमाणान्तरस्याभ्यस्तविषयत्वे स्वतः प्रमाणत्वसिद्धेरनवस्थापरस्पराश्रयणयोरनवकाशात्। तस्याप्यनभ्यस्त विषयत्वे परतः प्रमाणादभ्यस्तविषयात्स्वतः सिद्धप्रामाण्यात्प्रमाणत्वनिश्चयात्सुदूरमपि गत्वा कस्यचिदभ्यस्तविषयस्य प्रमाणस्यावश्यंभावित्वात्। अन्यथा प्रमाणतदाभासव्यवस्थानुपपत्तेः, तदभावव्यवस्थानुपपत्तिवत्।

§ ६३. कुतः पुनः प्रतिपत्तुः क्वचिद्विषयेऽभ्यासः क्वचिदनभ्यासः स्यात्; इति चेत्; तत्प्रतिबन्धकादृष्टविशेषविगमाभ्यां[1] क्वचिदभ्यासानभ्यासौ स्यातां इति ब्रूमहे, परिदृष्टकारणव्यभिचाराददृष्टस्य कारणस्य सिद्धेः। त[2]त्कर्म ज्ञानावरणवीर्यान्तरायाख्यं सिद्धम्, तस्य क्षयोपशमात्कस्यचित्क्वचित्कदाचिद[3]भ्यासज्ञानं तत्क्षयोपशमाभावे चा[4]नभ्यासज्ञानमिति सुव्यवस्थितं प्रमाणस्य प्रामाण्यम्, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, स्वयमिष्टवस्तुवत्। सर्वत्रेष्टसिद्धेस्तन्मात्रनिबन्धनत्वात्, अन्यथा सर्वस्य तत्त्वपरीक्षायामनधिकारादिति स्थितमेतत्—

प्रमाणादिष्टसंसिद्धेरन्यथाऽतिप्रसंगतः।
प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा॥ १॥

§ ६४. एवं प्रमाणलक्षणं स्वार्थव्यवसायात्मकं[5] सम्यग्ज्ञानं परीक्षितम्।

[प्रमाणलक्षणविप्रतिपत्तिं निरस्य साम्प्रतं संख्याविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन् प्रमाणसंख्यां निरूपयति—]

§ ६५. तत् प्रत्यक्षं परोक्षं चेति[6] संक्षेपाद् द्वितयमेव व्यवतिष्ठते, सकलप्रमाणानामत्रैवान्तर्भावविभावनादिति[7], परपरिकल्पितैकद्वित्र्यादिप्रमाणसंख्यनियमे तदघटनात्। तथा हि—येषां प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न तेषामनुमानादिप्रमाणान्तरस्य तत्रान्तर्भावः[8] संभवति, तद्विलक्षणत्वात्। प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादेः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः[9], इत्ययुक्तम्, प्रत्यक्षस्यापि कस्यचिदनुमानादिपूर्वकत्वाद[10]नुमानादिष्वन्तर्भावप्रसंगात्। यथैव हि धर्मि-हेतु-

1. 'तत्प्रतिबन्धकदशाविशेषविगमाभ्यां' मु। 2. 'तत्रः कर्म' मु। 3. 'क्वचिदभ्यास-' मु। 4. 'वाऽनभ्यास' मु। 5. 'व्यवसायात्मकं' मु। 6. 'वेति' मु। 7. '..न्तर्भावादिति विभावनात्' मु। 8. 'प्रमाणान्तरस्यान्तर्भावः' मु। 9. 'प्रत्यक्षभावः' मु द। 10. 'क्वचिदनुमानपूर्वक·····' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं श्रोत्रप्रत्यक्षपूर्वकं[1] च शाब्दं सादृश्यानन्यथाभावनिषेध्याधारवस्तुग्राहिप्रत्यक्षपूर्वकाणि चोपमानार्थापत्त्यभावप्रमाणानि तथानुमानेन कृशानुं निश्चित्य तत्र प्रवर्तमानस्य प्रत्यक्षमनुमानपूर्वकं रूपाद्रसं प्रतिपद्य प्रवृत्तस्य रसे[2] रासनसमक्षवत्। शब्दाच्च मृष्टं पानकमवगम्य तत्र प्रवृत्तौ प्रत्यक्षं शाब्दपूर्वकम्। क्षीरस्य सन्तर्पणशक्तिमर्थापत्त्याऽधिगम्य क्षीरे प्रवृत्तस्य तदात्मके प्रत्यक्षमर्थापत्तिपूर्वकम्। गोसादृश्याद्गवयमवसाय तं व्यवहरतः प्रत्यक्षमुपमानपूर्वकम्[3]। गृहे सर्पाभावमभावप्रमाणाद्विभाव्य प्रविशतः प्रत्यक्षमभावपूर्वकं प्रतीयत एव। प्रत्यक्षमेव गौणत्वादप्रमाणं न पुनरनुमानादिकम्, तस्यागौणत्वादिति शुष्के पलिष्यामीति जातः पातोऽस्य[4] कर्दमे।

§ ६६. स्यादाकूतम्—न प्रत्यक्षमनुमानागमार्थापत्त्युपमानाभावप्रमाणपूर्वकम्,[5] तदभावेऽपि चक्षुरादिसामग्रीमात्रात्तस्य प्रसूतेः प्रसिद्धत्वात्। तदभाव एवाभावनियमादिति।

§ ६७. तदप्यसत्; लैंगिकादीनामपि प्रत्यक्षपूर्वकत्वाभावात्, लिंगशब्दानन्यथाभावसादृश्यप्रतियोगिस्मरणादिसामग्रीसद्भाव एव भावात्। सत्यपि प्रत्यक्षे स्वसामग्र्यभावेऽनुमानादीनामभावात्। ततः किं बहुनोक्तेन, प्रतिनियतसामग्रीप्रभवतया प्रमाणभेदमभिमन्यमानेन[6] प्रत्यक्षवदनुमानादीनामपि अगौणत्वमनुमन्तव्यम्, प्रतिनियतस्वविषयव्यवस्थायां परापेक्षाविरहात्। यथैव हि प्रत्यक्षं साक्षात्स्वार्थपरिच्छित्तौ नानुमानाद्यपेक्षं तथाऽनुमानमनुमेयनिर्णीतौ न प्रत्यक्षापेक्षमुत्प्रेक्षते, प्रत्यक्षस्य धर्मिहेतुदृष्टान्तग्रहणमात्रे पर्यवसितत्वात्। नापि शाब्दं शब्दप्रतिपाद्येऽर्थे प्रत्यक्षमनुमानं वाऽपेक्षते[7], तयोः शब्दश्रवणमात्रे शब्दार्थसम्बन्धानुमितिमात्रे च[8] व्यापारात्। न चार्थापत्तिः[9] प्रत्यक्षमनुमानमागमं वापेक्षते[10]ऽभावोपमानवत्। तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रमितार्थाविनाभाविन्यदृष्टेऽर्थे निर्णयनिबन्धनत्वात्। प्रत्यक्षादीनामर्थापत्त्युत्थापकपदार्थनिश्चयमात्रे व्यापृतत्वात्[11]। न चोपमानं प्रत्यक्षादीन्यपेक्षते, तस्योपमेयेऽर्थे निश्चयकरणे[12] प्रत्यक्षादिनिर-

---

1. 'श्रोत्रप्रत्ययपूर्वकं' मु। 2. 'संप्रतिपद्य रसे' मु। 3. 'प्रत्यक्षनुमानपूर्वकं' मु। 4. 'पातः' मु। 5. 'सामग्रीपूर्वकं' मु। 6. 'अभिमन्यमाने' मु। 7. 'चापेक्षते' मु। 8. 'संबंधानुमात्रे' मु। 9. 'नत्वर्थापत्तिः' मु। 10. 'चापेक्षते' मु। 11. 'व्यावृत्तत्वात्' मु। 12. 'निश्चयकारणे' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पेक्षत्वात्, प्रत्यक्षादेः सादृश्यप्रतिपत्तिमात्रेऽधिकारात्[1]। न चाभावप्रमाणं प्रत्यक्षादिसापेक्षम्, निषेध्याधारवस्तुग्रहणे तस्य सामर्थ्यात्। परम्परयानुमानादीनां प्रत्यक्षपूर्वकत्वे[2] प्रत्यक्षस्याप्यनुमानादिपूर्वकत्वं दुःशक्यं परिहर्त्तुम्।

§ ६८. कथं चायं प्रत्यक्षं प्रमाणं व्यवस्थापयेत्। स्वत एवेति चेत्, किमात्मसम्बन्धि सर्वसम्बन्धि वा। प्रथमकल्पनायां न सकलदेशकालपुरुषपरिषत्प्रत्यक्षं प्रमाणं सिद्धयेत्। द्वितीयकल्पनायामपि न स्वप्रत्यक्षात्सकलपरप्रत्यक्षाणां प्रामाण्यं साधयितुमीशः, तेषामतीन्द्रियत्वात्[3], वादिप्रत्यक्षागोचरत्वात्।

§ ६९. यदि पुनः सकलपुरुषप्रत्यक्षाणि स्वस्मिन् स्वस्मिन् विषये स्वतः प्रामाण्यमनुभवन्ति, इति मतम्, तदा कुतस्तत्सिद्धिः। विवादाध्यासितानि सकलदेशकालवर्तिपुरुषप्रत्याणि स्वतः प्रामाण्यमापद्यन्ते प्रत्यक्षत्वात्, यद्यत् प्रत्यक्षं तत्तत् स्वतः प्रामाण्यमापद्यमानं सिद्धम्, यथा मत्प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षाणि च विवादाध्यासितानि, तस्मात्स्वतः प्रामाण्यमापद्यन्त इति[4] सकलप्रत्यक्षाणां स्वतः प्रामाण्यसाधने सिद्धमनुमानम्, प्रत्यक्षत्वेन स्वभावहेतुना प्रत्यक्षस्य स्वतः प्रामाण्यसाधनात्, शिंशपात्वेन वनस्पतेः वृक्षत्वसाधनवत्। प्रतिपाद्यबुद्धया तथानुमानवचनाददोष इति चेत्, प्रतिपाद्यबुद्धिं प्रतिपद्याप्रतिपद्य वा तयानुमानप्रयोगः स्यात्। न तावदप्रतिपद्य, अतिप्रसंगात्। प्रतिपद्य परबुद्धिं[5] तयाऽनुमानप्रयोगे कुतस्तत्प्रतिपत्तिः। व्याहारादि[6]कार्यविशेषादिति चेत्, सिद्धं कार्यात्कारणानुमानम्[7], धूमात्पावकानुमानवत्। यदि पुनर्लोकव्यवहारं प्रति[8] प्रतिपद्यत एवानुमानं **लौकायतिकैः**, परलोकादावेवानुमान[9]स्य निराकरणात्, तस्याभावात्, इति मतम्; तदापि कुतः परलोकाद्यभावप्रति[10]पत्तिः। न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य तदगोचरत्वात्। 'नास्ति परलोकादिः, अनुपलब्धेः, खपुष्पवत्', इति तदभावसाधनेऽनुपलब्धिलक्षणमनुमानमायातम्। तदुक्तं **धर्मकीर्तिना**—

---

1. 'अनधिकारात्' मु। 2. 'प्रत्यक्षपूर्वकत्वं' मु। 3. 'अतीन्द्रियत्वात्' मु। 4. 'आपद्यन्ते' मु। 5. 'तद्बुद्धिं' मु। 6. 'व्यवहारादि' मु। 7. 'करणानुमानं' अ। 8. 'व्यवहारात् प्रतिपद्यत' मु। 9. 'परलोकादेवानुमान-' मु। 10. 'परलोकाभाव' अ ब स।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ।। [ ] इति ।

§ ७०. ततः प्रत्यक्षमनुमानमिति द्वे एव प्रमाणे, प्रमेयद्वैविध्यात् । न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यत इति प्रमाण-संख्यानियमं **सौगताः** प्रतिपद्यन्ते, तेषामागमोपमानादीनां प्रमाणभेदानाम-संग्रह एव, तेषां प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावयितुमशक्तेः ।

§ ६९. स्यान्मतिरेषा भवतां—तदर्थस्य द्वैविध्यात् द्वयोर[1]न्तर्भावः स्यात् । द्विविधो ह्यर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च । तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रिय-माणः प्रत्यक्षः । परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः । स हि पदार्थान्तरात्साक्षात्क्रियमाणात्प्रतिपद्यते । तच्च पदार्थान्तरं तेन[2] परोक्षेणार्थेन संबद्धं तं[3] प्रत्याययितुं समर्थं नासंबद्धम्, गवादेरप्य-श्वादेः प्रतीतिप्रसंगात् । संबद्धं चार्थान्तरं लिंगमेव शब्दादि तज्जनितं च ज्ञानमनुमानमेव । ततो न परोक्षेऽर्थेऽनुमानादन्यत्प्रमाणमस्ति, शाब्दो[4]-पमानादीनामपि तथाऽनुमानत्वसिद्धेः । अन्यथा ततोऽर्थप्रतिपत्तौ अतिप्रसं-गात् इति ।

§ ७०. तदेतदपि न परीक्षाक्षमम्, प्रत्यक्षस्यापि तथाऽनुमानत्वप्रसंगात् । प्रत्यक्षमपि हि स्वविषये संबद्धं तत्प्रत्यायनसमर्थम् । तत्रासंबद्धस्यापि तत्प्रत्यायनसामर्थ्ये सर्वं प्रत्यक्षं[5] सर्वस्य नुः सर्वार्थप्रत्यायनसमर्थं स्यादि-ति कथमतिप्रसंगो न स्यात् । यदि पुनः संबंधाधीनत्वाविशेषेऽपि प्रत्यक्ष-परोक्षार्थप्रतिपत्तेः साक्षादसाक्षात्प्रतिभासभेदात् भेदोऽभ्युपगम्यते प्रमाणा-न्तरत्वेन, तदेन्द्रियप्रत्यक्ष[6]-स्वसंवेदन-मानस-योगिप्रत्यक्षाणामपि प्रमाणा-न्तरत्वानुषंगः प्रतिभासभेदाविशेषात् । न हि यादृशः प्रतिभासो योगि-प्रत्यक्षस्य विशदतमस्तादृशोऽक्षज्ञानस्याप्यस्ति स्वसंवेदनस्य मनोविज्ञानस्य वा । यथाभूतश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्या[7]न्तर्मुखो विशदतरः न तथाभूतोऽक्ष-ज्ञानस्य । यादृशश्चाक्षज्ञानस्य बहिर्मुखः स्फुटः प्रतिभासो न तादृशो, मनोविज्ञानस्येति कथं प्रमाणान्तरता न भवेत् ।

§ ७१. अथ प्रतिभासविशेषेऽपि चतुर्विधमपि[8] प्रत्यक्षमेक[9]मेव न

---

1. 'तद् द्वयोः' स । 2. 'तेन' नास्ति अ । 3. 'सम्बद्ध' प्रत्यययितुं मु । 4. 'शब्दोप' मु । 5. 'सर्वप्रत्यक्षं' मु । 6. 'तदेन्द्रियस्वसंवेदन-' मु । 7. 'प्रत्यक्षान्तर्मुखो' मु । 8. तच्चतुर्विधमपि' मु । 9. 'प्रत्यक्षमेव' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणान्तरम्, तर्हि प्रत्यक्षानुमानयोः प्रतिभासभेदेऽपि स्वविषयसंबद्धत्वाविशेषात्[1] प्रमाणान्तरत्वं माभूत्।

§ ७२. यदि पुनः स्वविषयसंबद्धत्वाविशेषेऽपि प्रत्याक्षानुमानयोः सामग्रीभेदात् प्रमाणान्तरत्वमुररीक्रियते, तदा शाब्दोपमानादीनामपि तत एव प्रमाणान्तरत्वमुररीक्रियताम्। यथैव हि अक्षादिसामग्रीतः प्रत्यक्षं लिंगसामग्रीतोऽनुमानं प्रभवतीति तयोः सामग्रीभेदः तथागमः शब्दसामग्रीतः प्रभवति, उपमानं च[2] सादृश्यसामग्रीतः अर्थापत्तिश्च परोक्षार्थाविनाभूतार्थमात्रसामग्र्याः, प्रतिषेध्याधारवस्तुग्रहणप्रतिषेध्यस्मरणसामग्र्याश्चाभाव इति प्रसिद्धः शाब्दादीनामपि सामग्रीभेदः। तत एवाक्षज्ञानादिप्रत्यक्षचतुष्टयस्य भेदप्रसिद्धेः[3]। न हि तस्यार्थभेदोऽस्ति, साक्षात्क्रियमाणस्यार्थस्याविशेषात्। तद्वल्लिंगशब्दादिसामग्रीभेदात्परोक्षार्थविषयत्वाविशेषेऽप्यनुमानागमादीनां भेदप्रसिद्धिरिति नानुमानेऽन्तर्भावः सम्भवति।

§ ७३. तथा साध्यसाधनसंबंधव्याप्तिप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षं समर्थम्, 'यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वः कालान्तरे देशान्तरे च पावकजन्मा, अन्यजन्मा वा न भवति' इत्येतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात्, सन्निहितार्थमात्रादुत्पत्तेरविचारकत्वाच्च[4]। योगिप्रत्यक्षं तत्र समर्थमिति चेत्, न, देश-सकलयोगिप्रत्यक्षविकल्प[5]द्वयानतिक्रमात्। देशयोगिनः प्रत्यक्षं व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थमित्ययुक्तम्, तत्रानुमानवैयर्थ्यात्। न हि [देश] योगिप्रत्यक्षेण साक्षात्कृतेषु साध्यसाधनविशेषु अशेषेषु फलवदनुमानम्। अथ सकलयोगिप्रत्यक्षेण व्याप्तिप्रतिपत्तावदोष इति चेत्, न, उक्तदोषस्यात्रापि तदवस्थत्वात्। परार्थं फलवद[6]नुमानमिति चेत्, न, तस्य स्वार्थानुमानपूर्वकत्वात्। स्वार्थानुमानाभावे च योगिनः कथं परार्थानुमानं[7] नाम?

§ ७४. यदि पुनः सकलयोगिनः परानुग्रहाय प्रवृत्तत्वात्, परानुग्रहस्य च शब्दात्मकपरार्थानुमानमन्तरेण कर्तुमशक्तेः परार्थानुमानसिद्धिः, तस्याश्च स्वार्थानुमानासंभवेऽनुपपद्यमानत्वात्[8] स्वार्थानुमानसिद्धिरपि परप्रतिपादनप्रवृत्तस्य संभाव्यत एवेति मतम्, तदा स योगी स्वार्थानुमाने चतुरार्यसत्यानि निश्चित्य परार्थानुमानेन परं प्रतिपादयन् गृहीतव्याप्तिकमगृहीतव्याप्तिकं वा प्रतिपादयेत्। यदि गृहीतव्याप्तिकम्, तदा कुतस्तेन गृहीता

---

1. 'स्वविषयसंबंधविशेषात् व' मु। 2. 'उपमानं' मु। 3. 'प्रभेदप्रसिद्धेः' मु। 4. 'अविचारकत्वात्' मु। 5. 'देशकालयोगि····' मु। 6. 'परार्थफलवदनु····' मु। 7. 'परार्थं अनुमान' अ स। 8. 'अनुत्पद्यमानत्वात्' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याप्तिः। न तावदिन्द्रिय-स्वसंवेदन-मनोविज्ञानैस्तेषां तदविषयत्वात्। योगिप्रत्यक्षेण गृह्यते व्याप्तिः परेण, तस्यापि देशतो योगित्वात्[1], इति चेत्, तर्हि यावत्सु साध्य-साधनभेदेषु योगिप्रत्यक्षं देशयोगिनस्तावत्सु व्यर्थमनुमानम्। स्पष्टं प्रतिभातेष्वपि अनुमाने [स्वीकारे] सकलयोगिनः सर्वत्रानुमानप्रसंगात्। समारोपव्यवच्छेदार्थमपि न तत्रानुमानम्, योगिप्रत्यक्षविषये समारोपानवकाशात्, सुगतप्रत्यक्षविषयवत्। ततो न गृहीतव्याप्तिकं परं सकलयोगी प्रतिपादयितुमर्हति। नाप्यगृहीतव्याप्तिकम्, अतिप्रसंगात्, इति प्रतिपादनानुपपत्तिः। तस्यां च न परार्थानुमानं संभवति। तदसंभवे च न स्वार्थानुमानमवतिष्ठते सकलयोगिनः। तदव्यवस्थाने च न सकलयोगिप्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणं युक्तिमधिवसति।

§ ७५. प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यप्यनेनापास्तम्, प्रत्यक्षेण व्याप्तिप्रतिपत्तिनिराकृतौ प्रत्यक्षान्तरलक्षणेनानुपलंभेनापि[2] तत्प्रतिपत्तिनिराकृतिसिद्धेः।

§ ७६. योऽप्याह—कारणानुपलंभात्कार्यकारणभावव्याप्तिः। व्यापकानुपलंभाद् व्याप्यव्यापकभावः साकल्येन प्रतिपद्यत इत्यनुमानसिद्धा साध्यसाधनव्याप्तिः। तथा हि—यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्मा, महाह्रदादिष्वग्नेरनुपलंभाद्धूमाभावसिद्धेरिति कारणानुपलंभानुमानम्। यावती[3] शिंशपा सा सर्वा वृक्षस्वभावा, वृक्षानुपलब्धौ शिंशपात्वाभावसिद्धेरिति व्यापकानुपलंभो लिंगम्। एतावता साकल्येन साध्यसाधनव्याप्तिसिद्धिरिति।

§ ७७. सोऽपि न युक्तवादी; तथानवस्थानुषंगात्। कारणानुपलंभव्यापकानुपलंभयोरपि हि स्वसाध्येन व्याप्तिर्न प्रत्यक्षतः सिद्ध्येत्, पूर्वोदितदोषासक्तेः। परस्मादनुमानात्तत्सिद्धौ कथमनवस्था न स्यात्। प्रत्यक्षानुपलंभपृष्ठभाविनो विकल्पात् स्वयमप्रमाणकात् साध्यसाधनव्याप्तिसिद्धौ किमकारणं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणपोषणं क्रियते, मिथ्याज्ञानादेव प्रत्यक्षानुमेयार्थसिद्धेर्व्याप्तिसिद्धिवत्। तस्माद्यथा प्रत्यक्षं प्रमाणमिच्छता सामस्त्येन तत्प्रामाण्यसाधनमनुमानमन्तरेण नोपपद्यते इत्यनुमानमिष्टं तथा साध्यसाधनव्याप्तिज्ञानप्रामाण्यमन्तरेण[4] नानुमानोत्थानमस्ति इति तदप्यनुज्ञातव्यम्। तच्चोहाख्यमविसंवादकं प्रमाणान्तरं सिद्धमिति न 'प्रत्यक्षा-

---

1. 'देशयोगित्वात्' मु। 2. 'अनुपलंभेन' मु। 3. 'यावंती' मु। 4. 'व्याप्तिज्ञानप्रमाणमन्तरेण' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नुमाने एव प्रमाणे' इति प्रसाणसंख्यानियमो व्यवतिष्ठते। एतेन **वैशेषिक**-प्रमाणसंख्यानियमो प्रत्याख्यातः।

§ ७८. **स्यान्मतम्**—साध्यसाधनसामान्ययोः क्वचिद् व्यक्तिविशेषे प्रत्यक्षत एव संबंधसिद्धेर्न प्रमाणान्तरमन्वेषणीयम्। यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोऽपि अग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवति इत्यूहापोहविकल्पज्ञानस्य न[1] प्रमाणान्तरत्वं संबंधग्राहिसमक्षप्रमाणफलत्वात्। क्वचिदनुमितानुमाने साध्यसाधने (आदित्ये गमनशक्तिरस्ति गतिमत्वात्, आदित्यो गतिमान् देशाद्देशान्तरप्राप्तेः देवदत्तवत्[2]) संबंधबोधनिबंधनानुमानफलवत्[3]। ततः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयसंख्यानियमः **कणचरमता**-नुसारिणां व्यवतिष्ठत एवेति।

§ ७९. तदप्यसारम्; सविकल्पकेनापि प्रत्यक्षेण साकल्येन साध्यसाधनसंबंधस्य[4] गृहीतुमशक्तेः। साध्यं हि किमग्निसामान्यमग्निविशेषोऽग्निसामान्यविशेषो वा। न तावदग्निसामान्यम्, सिद्धसाध्यतापत्तेः। नाप्यग्निविशेषः, तस्यानन्वयात्। वह्निसामान्यविशेषस्य हि[5] साध्यत्वे तेन धूमस्य संबंधः सकलदेशकालव्याप्यध्यक्षतः[6] कथं सिद्ध्येत्। तथा तत्सम्बन्धासिद्धौ च यत्र यत्र यदा यदा धूमोपलंभः तत्र तत्र तदा तदाऽग्निसामान्यविशेषविषयमनुमानं नोदयमासादयेत्। न ह्यन्यथासंबंधग्रहणमन्यथानुमानोत्थानं नाम, अतिप्रसंगात्। ततः संबंधज्ञानं प्रमाणान्तरमेव, प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वात्।

§ ८०. **यच्चोक्तम्**—प्रत्यक्षफलत्वादूहापोहविकल्पज्ञानस्याप्रमाणत्वमिति[7]; तदप्यसम्यक्; विशेषणज्ञानफलत्वाद्विशेष्यज्ञानस्याप्रमाणत्वानुषंगात्। हानोपादानोपेक्षाबुद्धिफलकारणत्वाद्विशेष्यज्ञानस्य प्रमाणत्वे तत एवोहापोहविज्ञानस्य प्रमाणत्वमस्तु, सर्वथा विशेषाभावात्।

§ ८१. **प्रमाणविषयपरिशोधकत्वान्नोहः** प्रमाणमित्यपि वार्तम्, **प्रमाणविषयस्याप्रमाणेन** परिशोधनविरोधात्। तथा तर्कः प्रमाणम्, प्रमाणविषयपरिशोधकत्वात्। यस्तु न प्रमाणं स न प्रमाणविषयपरिशोधको

---

1. '....ज्ञानस्य प्रमाणान्तरत्वं' मु। 2. कोष्ठकान्तर्गतपाठो नास्ति **अ स**। 3. 'अनुमानं फलवत्' मु। 4. 'संबंधगृहीतुं' मु। 5. 'हि' नास्ति **ब स**। 6. 'व्याप्त्यध्यक्षतः' **अ ब स इ**। 7. '....फलत्वादूहापोहविज्ञानस्याप्रमाणत्वमिति' **ब स**।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टः, यथा प्रमेयोऽर्थः। प्रमाणविषयपरिशोधकश्च तर्कः, तस्मात्प्रमाणमिति केवलव्यतिरेकिणाऽनुमानेनान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणेन तर्कस्य प्रमाणत्वसिद्धेः न **वैशेषिकाणां** प्रमाणद्वयसंख्यानियमः सिद्धयेत्।

§ ८२. एतेनैव[1] त्रिचतुःपंचषट्प्रमाणवादिनां प्रमाणसंख्यानियमः प्रतिध्वस्तः, **सांख्यानां** प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिवागमादपि साध्यसाधनसंबंधासिद्धेः तर्कस्य तत्सिद्धिनिबन्धनस्य प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः। **नैयायिकानां** च प्रत्यक्षानुमानागमैरिवोपमानेनापि लिंगलिंगिसंबंधग्रह[2]णासंभवात्। **प्राभाकराणां** च प्रत्यक्षानुमानोपमानागमैरिवार्थापत्त्यापि हेतुहेतुमत्संबंधसिद्धेरसंभवात्[3]। भट्टमतानुसारिणामपि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्तिभिरिवाभावप्रमाणेनापि व्याप्तिनिश्चयानुपपत्तेस्तन्निश्चयनिबंधनस्योहज्ञानस्य प्रमाणान्तरस्य सिद्धिरवश्यम्भाविनी दुःशक्या निराकर्त्तुम्।

§ ८३. ननूहः स्वविषयेण[4] संबद्धोऽसंबद्धो वा। न तावदसंबद्धस्तं प्रत्याययितुमीशः, अतिप्रसंगात्। संबद्धश्चेत्, कुतस्तत्संबंधप्रतिपत्तिः[5]। न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात्। नाप्यनुमानात्, अनवस्थानुषंगात्। यदि पुनरूहान्तरात्तत्संबंधसिद्धिः, तदोहान्तरस्यापि स्वविषयसंबंधसिद्धिपूर्वकत्वात्, तस्याश्चापरोहनिबन्धनत्वात् सैवानवस्था। प्रमाणान्तरात्तत्सिद्धौ च स एव पर्यनुयोगः परापरप्रमाणान्तरपरिकल्पनानुषंगात् क्वेयं प्रमाणसंख्या व्यवतिष्ठेतेति केचित्; तेषामपि प्रत्यक्षं स्वविषयं प्रतिबोधयत्[6] तत्संबद्धमेव प्रतिबोधयेन्नासंबद्धमतिप्रसंगात्[7]। तत्संबन्धश्च नानुमानादेः सिद्धयति, तस्य तदविषयत्वात्। प्रत्यक्षान्तरात्तत्सिद्धौ तत्रापि प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेः कथमनवस्था न स्यात्, यतः प्रत्यक्षं प्रमाणमभ्युपगमनीयमिति प्रतिपद्यामहे।

§ ८४. स्यान्मतिरेषा— न[8] प्रत्यक्षं स्वविषयसंबन्धावबोधनिबन्धनं प्रामाण्यमात्मसात्कुरुते, तस्य स्वविषये[9] स्वयोग्यताबलादेव प्रमाणत्वव्यवस्थितेः, अन्यथा क्वचिदपूर्वार्थग्राहिणः प्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वानुषंगात्, इति; सापि न साधीयसी; तथोहस्यापि स्वयोग्यताविशेषसामर्थ्यादेव

---

1. 'एतेन द्वित्रि०' मु। 2. 'लिंगलिंगिग्रहण-' मु। 3. 'अभावात्' अ इ। 4. 'स्वविषये' मु इ। 5. 'कुतस्तत्प्रतिपत्तिः' मु। 6. 'बोधयत्' अ इ। 7. 'तत्सम्बद्धमेव प्रतिबोधयेन्नासम्बद्धमतिप्रसंगात्' इति पाठो नास्ति मु। 8. 'न' पाठो नास्ति मु इ। 9. 'तस्य विषये' ब।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वविषयप्रत्यायनसिद्धे[1]र्भवदुद्भावितदूषणवैयर्थ्यव्यवस्थानात्। योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एवोहस्यापि प्रतिपद्यते[2], सकलबाधकवैधुर्यात्। यथा च प्रत्यक्षस्योत्पत्तौ मनोऽक्षादिसामग्री योग्यतायाः सहकारिणी बहिरंगनिमित्तत्वात्, तथोहस्यापि समुद्भूतौ भूयःप्रत्यक्षानुपलम्भसामग्री बहिरंगनिमित्त[3]भूताऽनुमन्यते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादूहस्येति सर्वं निरवद्यम्[4]।

§ ८५. सिद्धे चानुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या[5] तर्कस्य प्रमाणत्वे प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणम्, तर्कप्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः। न ह्यप्रत्यभिज्ञाते[6] विषये तर्कः प्रवर्तते, अतिप्रसंगात्। न च गृहीतग्रहणात्प्रत्यभिज्ञानस्याप्रमाणत्वं शंकनीयम्, तद्विषयस्य[7] स्मर्यमाणदृश्यमानपर्यायव्याप्येकद्रव्यस्य स्मरणप्रत्यक्षागोचरत्वात् अपूर्वार्थग्राहित्वसिद्धेः[8]। न चेदं प्रत्यक्षेऽन्तर्भवति, प्रत्यक्षस्य वर्तमानविवर्तमात्रविषयत्वात्[9]। नाप्यनुमाने, लिंगानपेक्षत्वात्। न शाब्दे, शब्दनिरपेक्षत्वात्। नोपमाने, सादृश्यग्रहणमन्तरेणापि[10] भावात्। नार्थापत्तौ, प्रत्यक्षादिषट्कविज्ञातार्थप्रतिपत्तिमन्तरेणापि प्रादुर्भावात्। नाभावे, निषेध्याधारवस्तुग्रहणेन निषेध्यस्मरणेन च विनैवोत्पादादिति सर्वेषामेक-द्वि-त्रि-चतुः-पंच-षट्प्रमाणसंख्यानियमं विघटयति।

§ ८६. एतेन स्मृतिः प्रमाणान्तरमुक्तम्, तस्या[11] अपि प्रत्यक्षादिष्वन्तर्भावयितुमशक्तेः। न चासावप्रमाणमेव, संवादकत्वात्, कथंचिदपूर्वार्थग्राहित्वात्, बाधकवर्जितत्वाच्च[12], अनुमानादिवदिति[13]। येषां तु स्मरणमप्रमाणं तेषां पूर्वप्रतिपन्नस्य साध्यसाधनसंबंधस्य वाच्यवाचकसंबंधस्य च स्मरणसामर्थ्यादव्यवस्थितेः कुतोऽनुमानं शाब्दं वा प्रमाणं सिद्ध्येत्। तदप्रसिद्धौ च न संवादकत्वासंवादकत्वाभ्यां प्रत्यक्षतदाभासव्यवस्थितिरिति[14] सकलप्रमाणविलोपापत्तिः। ततः प्रमाण-

---

1. 'स्वविषये प्रत्या'० ब स। 2. 'प्रतिपाद्यते' ब स। 3. 'निमित्तभूता-' मु। 4. 'सर्वनिरवद्यसिद्धे-' मु अ। 5. 'अनुमानप्रमाण-' मु अ। 6. 'ज्ञाने' मु। 7. 'तद्विषयस्या-' मु। 8. 'ग्राहित्वासिद्धेः' मु। 9. 'वर्तमानपर्यायविषयत्वात्', मु। 'वर्तमानमात्रविषयत्वात्' अ स। 10. 'सादृश्यमन्तरे-' मु। 11. सर्वासु प्रतिषु 'तस्याश्च' पाठः। 12. 'बाधावर्जित-' मु। 13. 'अनुमानवदिति' मु। 14. 'व्यवस्थितिः' ब स।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्थामभ्यनुजानता स्मृतिरपि प्रमाणयितव्या इति न परेषां संख्यानियमः सिद्ध्येत्। **स्याद्वादिनां** तु संक्षेपात्प्रत्यक्ष-परोक्षविकल्पात्प्रमाणद्वयं सिद्ध्यत्येव, तत्र सकलप्रमाणभेदानां संग्रहादिति सूक्तम्।

[सम्प्रति प्रत्यक्षस्वरूपं निर्वक्ति]

§ ८७. किं पुनः प्रत्यक्षम्। उच्यते—विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षत्वात्। यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षम्, यथाऽनुमानादिज्ञानम्[1], प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकम्। न तावदत्राप्रसिद्धो धर्मी, प्रत्यक्षे धर्मिणि सकलप्रत्यक्षवादिनामविप्रतिपत्तेः[2]। शून्य-संवेदनाद्वैतादिवादिनामपि[3] स्वरूपप्रतिभासनस्य प्रत्यक्षस्याभीष्टेः। प्रत्यक्षत्वस्य हेतोरसिद्धताऽपि अनेन समुत्सारिता, प्रत्यक्षमिच्छद्भिः प्रत्यक्षत्वस्य तद्धर्मस्य स्वयमिष्टत्वात्।

§ ८८. प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वं[4] साधनस्य स्यात्, इति चेत्; का पुनः प्रतिज्ञा, तदेकदेशो वा, यस्यासिद्धत्वं शक्येत। धर्मधर्मिसमुदायः प्रतिज्ञा, तदेकदेशो धर्मी हेतुः, यथा नश्वरः शब्दः शब्दत्वात् इति। तथा साध्यधर्मः प्रतिज्ञैकदेशः, यथा नश्वरः शब्दो नश्वरत्वादिति[5]। सोऽयं द्विविधोऽपि[6] प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः स्यात्, इति चेत्; न; धर्मिणो हेतुत्वे कस्यचिदसिद्धताऽनुपपत्तेः। यथैव हि पक्षप्रयोगकाले[7] वादिप्रतिवादिप्रसिद्धो धर्मी तथा तस्य हेतुत्ववचनेऽपि नासिद्धिः। साध्यधर्मस्तु हेतुत्वेनोपादीयमानो न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेना[8]सिद्धः, धर्मिणोऽप्यसिद्धिप्रसंगात्। किं तर्हि। स्वरूपेणैवासिद्ध[9] इति न प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो नाम हेत्वाभासः सम्भवतीति कथं प्रकृतहेतोः[10] प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्वं समुद्भावयन् भावितानुमानस्वभावः।

§ ८९. धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयत्व[11]प्रसंग इति चेत्; न; विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामन्यं हेतुं ब्रुवतां दोषासम्भवात्। प्रत्यक्षं हि विशेरूपं धर्मी,

---

1. 'अनुमानादिविज्ञानं' ब। 2. 'प्रत्यक्षधर्मिणि केवलप्रत्यक्षवादि-' मु। 3. 'द्वैतवादिना-' मु अ द। 4. 'असिद्धता' स द। 5. 'नश्वरत्वात्' मु। 6. 'द्विविधो' मु अ ब। 7. 'प्रत्यक्षप्रयोग' मु। 8. 'प्रतिज्ञातार्थैक-' स। 9. 'स्वरूपेण वासिद्ध' मु। 10. 'प्रकृतहेतौ' मु अ। 11. 'अनन्वयप्रसंग' मु स।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्षत्वसामान्यं तु[1] हेतुः, स कथं अनन्वयः स्यात्, सकलप्रत्यक्षविशेष[2]-व्यापित्वात्। दृष्टान्ते क्वचिदभावादनन्वय इति चेत्; न; 'सर्वं भावाः क्षणिकाः सत्त्वात्' इत्यादेरपि हेतोरनन्वयत्वप्रसक्तेः। अथास्य दृष्टान्ते नान्वयस्यापि साध्यधर्मिणि सर्वत्रान्वयसिद्धेर्विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावाच्च निर्दोषताऽनुमन्यते, तत एव प्रत्यक्षत्वस्य हेतोर्निर्दोषताऽस्तु, सर्वथा विशेषाभावात्। केवलव्यतिरेकिणोऽपि च[3] हेतोरविनाभावनियमनिर्णयात्[4] साध्यसाधनसामर्थ्यान्न कश्चिदुपालम्भः। ततो निरवद्योऽयं हेतुः प्रत्यक्षस्य विशदज्ञानात्मकत्वं साधयत्येव।

§ ९०. न चैतदसम्भवि, साध्यमात्मानं प्रतिनियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दवाच्यस्यार्थसाक्षात्कारिणः सर्वस्य कात्स्न्र्येन एकदेशेन वा वैशद्यसिद्धेर्बाधकाभावात्। अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्षो हि आत्मा तमेव क्षीणावरणं क्षीणोपशान्तावरणं वा प्रतिनियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दवाच्यस्य कथं[5] वैशद्यमसम्भाव्यमिति[6] सूक्तम् 'विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्' इति[7]।

[इदानीं प्रत्यक्षभेदान् निरूपयति]

§ ९१. तत् त्रिविधम्—इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पात्[8]। तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकम्, देशतो विशदत्वात्। तद्वदनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, तस्यान्तर्मुखाकारस्य कथंचिद्वैशद्यसिद्धेः। अतीन्द्रियप्रत्यक्षं तु द्विविधं विकलप्रत्यक्षं सकलप्रत्यक्षं चेति। विकलप्रत्यक्षमपि द्विविधम्[9]—अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति। सकलप्रत्यक्षं तु केवलज्ञानम्। तदेतत्त्रितयमपि मुख्यं प्रत्यक्षम्, मनोऽक्षानपेक्षत्वात्, अतीतव्यभिचारत्वात्[10], साकारवस्तुग्राहित्वात्, सर्वथा स्वविषयेषु वैशद्याच्च। तथा चोक्तं

तत्त्वार्थवार्त्तिककारैः—

'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्'

[त. वा. १-१२] इति।

---

1. 'प्रत्यक्षसामान्यं हेतुः' मु। 2. 'विशेषस्य' मु। 3. '...किणोऽपि हेतोः' मु अ। 4. 'अविनाभावनिर्णयात्' मु। 5. 'कथंचिदपि' मु। 6. 'वैशद्यं संभाव्य-' मु। 7. 'इति' नास्ति मु। 8. 'विकल्पनात्' मु। 9. 'अपि द्विविधम्' पाठो नास्ति स। 10. 'व्यभिचारित्वात्' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ ९२. **तत्रेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमिति** वचनात् सांव्यवहारिकस्येन्द्रियप्रत्यक्षस्यानिन्द्रियप्रत्यक्षस्य च[1] देशतो विशदस्य व्यवच्छेदसिद्धेः। **अतीतव्यभिचारमिति** वचनात् विभंगज्ञानस्यावधिप्रत्यक्षाभासस्य निवृत्तेः। **साकारग्रहणमिति** प्रतिपादनात् निराकारग्रहणस्य दर्शनस्य प्रत्यक्षत्वव्यावर्त्तनात्। सूक्तं मुख्यं प्रत्यक्षत्रयम्।

§ ९३. ननु स्वसंवेदनप्रत्यक्षं चतुर्थं स्यादिति न मन्तव्यम्, तस्य सकलज्ञानसाधारणस्वरूपत्वात्। यथैव हीन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वरूपसंवेदनमिन्द्रियप्रत्यक्षमेव, अन्यथा तस्य स्व-परसंवेदकत्वविरोधात्[2] संवेदनद्वयप्रसंगाच्च। तथाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य मानसस्य सुखादिज्ञानस्य[3] स्वरूपसंवेदनमनिन्द्रियप्रत्यक्षमेव तत एव। तद्वदतीन्द्रियप्रत्यक्षत्रयस्य स्वरूपसंवेदनमतीन्द्रियप्रत्यक्षत्रितयमेवेति[4] न ततोऽर्थान्तरं स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्[5]। एतेन श्रुतज्ञानस्य स्वरूपसंवेदनमनिन्द्रियप्रत्यक्षमुक्तं प्रतिपत्तव्यम्, तस्यानिन्द्रियनिमित्तत्वात्, विभ्रमज्ञानस्वरूपसंवेदनवत्। तथा च सकलं ज्ञानं स्वरूपसंवेदनापेक्षया प्रमाणं सिद्धम्, भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवात्[6]।

§ ९४. किं पुनरिन्द्रियप्रत्यक्षम्। इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुपजायमानं[7] मतिज्ञानम्।

'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' [त० सू० १-१४] इति वचनात्।

§ ९५. तच्चतुर्विधम्—अवग्रहेहावायधारणाविकल्पात्। तत्र विषयविषयि-सन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः, किंस्विदिति निर्विशेषवस्तुमात्रालोचनदर्शननिमित्तं सविशेषवर्णसंस्थानादिवस्तुविज्ञानमित्यर्थः[8]। तद्गृहीतवस्तुविशेषाकांक्षणमीहा भवितव्यताप्रत्ययरूपा[9]। ईहितविशेषनिश्चयो[10]ऽवायः। सावधारणं ज्ञानं कालान्तराविस्मरणकारणं धारणाज्ञानम्। तदेतच्चतुष्टयमपि अक्षव्यापारापेक्षम्, अक्षव्यापाराभावे तस्यानुद्भवनात्[11]। मनोऽपेक्षं च, प्रतिहतमनसः तदनुपपत्तेः[12]। तत

---

1. 'अनिन्द्रियस्य च देशतो' मु। 2. 'स्वपरस्वरूपसंवेदक' मु। 3. 'सुखादिज्ञानस्य' पाठो नास्ति मु। 4. 'तद्वदतीन्द्रियप्रत्यक्षत्रितयमेवेति' मु। 5. 'स्वसंवेदनं प्रत्यक्षं' अ। 6. 'निन्हवः' मु अ। 7. 'इन्द्रियप्रधान्यादिन्द्रिबल-' मु। 8. 'किंस्विदिति निर्विशेषवस्तुमात्रालोचनदर्शननिमित्तं सविशेषवर्णसंस्थानादिवस्तुविज्ञानमित्यर्थः' इति पाठो त्रुटितः मु। 9. '···रूपात्तदोहित-' मु ब स इ। 10. 'विनिश्चयो' ब स। 11. 'तदनुद्भवनात्' मु अ इ। 12. 'तदनुत्पत्तेः' मु अ इ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवेन्द्रियप्रत्यक्षं देशतो विशदमविसंवादकं प्रतिपत्तव्यम्। स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तस्य बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवेषु सेतरेषु[1] अर्थेषु प्रवर्तमानस्य[2] प्रतीन्द्रियमष्टचत्वारिंशद्भेदस्य व्यंजनावग्रहभेदैरष्टचत्वारिंशता सहितस्य [तस्येन्द्रियप्रत्यक्षस्य] संख्याऽष्टाशीत्युत्तरा द्विशती[3] प्रतिपत्तव्या। तथाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं बह्वादिद्वादशप्रकारार्थविषयमवग्रहादिविकल्पमष्टचत्वारिंशत्संख्यं प्रतिपत्तव्यम्।

§ ९६. यत्पुनरतीन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पमवधिज्ञानं तत् षड्विधम्, अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितविकल्पात्। सप्रतिपाताप्रतिपातयोरत्रैवान्तर्भावात्। संक्षेपतस्तु त्रिविधम्, देशावधि-परमावधि-सर्वावधिभेदात्। तत्र देशावधिज्ञानं षड्विकल्पमपि सम्भवति। परमावधिज्ञानं तु संयमविशेषैकार्थसमवायि भवान्तरापेक्षयाऽननुगामि सप्रतिपातं[4] च प्रत्येयम्। तद्भवापेक्षया च तदनुगाम्येव नाननुगामि। वर्धमानमेव न हीयमानम्। अवस्थितमेव नानवस्थितम्। अप्रतिपातमेव न सप्रतिपातम्[5], तथाविधविशुद्धिनिबन्धनत्वात्[6]। एतेन सर्वावधिज्ञानं व्याख्यातम्। केवलं तद्वर्धमानमपि न भवति, परमप्रकर्षप्राप्तत्वात्, सकलावधिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमवशात्प्रसूतत्वात्। अतिसंक्षेपतस्तु द्विविधमवधिज्ञानं भवप्रत्ययं गुणप्रत्ययं चेति। तत्र भवप्रत्ययं देवनारकाणाम्[7], बहिरंगदेवभव-नारकभवनिमित्तत्वात्[8]। तद्भावे भावात्, तदभावे चाभावात्[9]। तत्तु[10] देशावधिज्ञानमेव। गुणप्रत्ययं तु सम्यग्दर्शनगुणनिमित्तमसंयतसम्यग्दृष्टेः। संयमासंयमगुणहेतुकं संयतासंयतस्य। संयमगुणनिबन्धनं संयतस्य। सत्यन्तरंगे हेतौ बहिरंगस्य गुणस्य [सम्यग्दर्शनादेः] प्रत्ययस्य[11] भावे भावात्। तदभावे चाभावात्।

§ ९७. तथा मनःपर्ययज्ञानं विकलमतीन्द्रियप्रत्यक्षं द्वेधा[12]- ऋजु-विपुलमतिविकल्पात्[13]। तत्रर्जुमतिमनःपर्ययज्ञानं निर्वर्तितप्रगुणवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परमनोगतस्य परिच्छेदकत्वात्त्रिविधम्। विपुलमतिमनःपर्यय-

---

1. 'तदितरेषु' मु स। 2. 'वर्तमानस्य' मु स। 3. '.....शीत्युत्तरद्विशती' मु। 4. 'प्रतिपातं' मु। 5. 'न प्रतिपातं' मु। 6. 'तथाविशुद्धि-' स। 7. 'देवनारकाणां' पाठो त्रुटितो वर्तते मु। 8. 'वहिरंगदेवभवनारकभवप्रत्ययनिमि-' मु। 9. 'तदभावेऽभावात्' मु। 10. 'तत् देशावधि-' स। 11. 'गुणप्रत्ययस्य' मु ब इ। 12. 'द्विधा' ब। 13. 'ऋजुमतिविकल्पात्' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानं तु निर्वर्तितानिर्वर्तितप्रगुणाप्रगुणवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परमनसि स्थितस्य स्फुटरमवबोधकत्वात् षट्प्रकारम्, तथाविधमनःपर्ययज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषबलात्प्रादुर्भूतत्वात् ।

§ ९८. सकलमतीन्द्रियप्रत्यक्षं केवलज्ञानं सकलमोहक्षयात्सकलज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयाच्च[1] समुद्भूतत्वात्, सकलवैशद्यसद्भावात्, सकलविषयत्वाच्च । तद्वान् कश्चित्पुरुषविशेषो भवत्येव सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् । यथा शास्त्रार्थज्ञानेन[2] तद्वानुभयवादिप्रसिद्धः । न चात्रासिद्धं साधनम्, सर्वातीन्द्रियप्रत्यक्षवतः पुरुषस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैरबाध्यमानस्य सकलदेशकालपुरुषपरिषदपेक्षयाऽपि सिद्धत्वात्, सुखादिसंवेदनस्यापि तथैव प्र[3]माणत्वोपपत्तेः, अन्यथा कस्यचिदिष्टसिद्धेरसम्भवात् । इति संक्षेपतः प्रत्यक्षं विशदं[4] ज्ञानं सांव्यवहारिकं मुख्यं च प्ररूपितम् । विस्तरतस्तु **तत्त्वार्थालंकारे** परीक्षितमिह द्रष्टव्यम् ।

[**प्रत्यक्षस्वरूपमभिधाय परोक्षस्वरूपं निरूपयति**]

§ ९९. सम्प्रति परोक्षमुच्यते ।

§ १००. परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्[5], परोक्षत्वात् । यन्नाविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम्, यथाऽतीन्द्रियप्रत्यक्षम् । परोक्षं च विवादाध्यासितं ज्ञानम्[6], तस्मादविशदज्ञानात्मकम् । न चास्य परोक्षत्वमसिद्धम्, अक्षेभ्यः परावृत्तत्वात् । **'तथोपात्तानुपात्तपरप्रत्ययापेक्षं परोक्षम्'** [त० वा० १–११] इति **तत्त्वार्थवार्त्तिककारै**रभिधानात् । उपात्तो हि प्रत्ययः कर्मवशादात्मना करणत्वेन गृहीतः स्पर्शनादिः । ततोऽन्यः पुनर्बहिरंगः सहकारी[7] प्रत्ययोऽनुपात्तः शब्दलिंगादिः तदपेक्षं ज्ञानं परोक्षमित्यभिधीयते ।

§ १०१. तदपि संक्षेपतो द्वेधा—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चेति । **'आद्ये परोक्षम्'** [त० सू० १–११] इति वचनात् । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि हि ज्ञानम् । तत्राद्ये मतिश्रुते सूत्रपाठापेक्षया लक्ष्येते । ते च परापेक्षतया परोक्षे प्रतिपादिते । परानपेक्षाण्यवधिमनःपर्ययकेवलानि यथा प्रत्यक्षाणीति । तत्रावग्रहादिधारणापर्यन्तं मतिज्ञानमपि देशतो वैशद्य-

---

1. सर्वासु प्रतिषु 'सकलज्ञानदर्शनावरणवीर्या-' इति पाठो वर्तते । 2. 'तथा शास्त्रज्ञानेन' मु । 3. 'प्रमाणोपपत्तेः' अ । 4. 'संक्षेपतो विशदं' मु । 5. 'अविशदज्ञानं' ब स । 6. 'ज्ञानं' नास्ति ब । 7. 'बहिरंगसह-' अ ब ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्भावात्सांव्यवहारिकमिन्द्रियप्रत्यक्षमनीन्द्रियप्रत्यक्षं[1] चाभिधीयमानं[2] न विरुद्धयते। ततः शेषस्य मतिज्ञानस्य स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधलक्षणस्य श्रुतस्य च परोक्षत्वव्यवस्थितेः। तदुक्तमकलंकदेवैः—

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्य-संव्यवहारतः।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे[3] इति संग्रहः॥

[लघीय० १–३]

[स्मृतेः प्रामाण्यसाधनम्]

§ १०२. तत्र तदित्याकारानुभूतार्थविषया स्मृतिरनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, विशदत्वात्, सुखादिसंवेदनवत्, इत्येके[१]; तदसत्; तस्यास्तत्र[4] वैशद्यासिद्धेः। पुनर्भावयतो वैशद्यप्रतीतेर्भावनाज्ञानत्वात्, तस्य च भ्रान्तत्वात्, स्वप्नज्ञानवत्। पूर्वानुभूतेऽतीतेऽर्थे वैशद्यासम्भवात् स्मृतिः परोक्षमेव, श्रुतानुमितस्मृतिवत् इत्यपरे[२], तदित्युल्लेखस्य सर्वस्यां स्मृतौ सद्भावात्। सा च प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत्। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा, प्रत्यक्षाभासवत्।

[प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्यसिद्धिः]

§ १०३. तथा तदेवेदमित्याकारं ज्ञानं संज्ञा प्रत्यभिज्ञा। तादृशमेवेदमित्याकारं वा विज्ञानं संज्ञोच्यते। तस्या एकत्व-सादृश्यविषयत्वाद्वैविध्योपपत्तेः। द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानम्—तदेवेदमित्येकत्वनिबन्धनम्, तादृशमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनं च।

§ १०४. ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वात्, इदमिति संवेदनस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् संवेदनद्वितयमेवैतत्, तादृशमेवेदमिति स्मरण-प्रत्यक्षसंवेदनद्वितयवत्। ततो नैकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रतिपद्यमानं सम्भवतीति कश्चित्; सोऽपि न संवेदनविशेषविपश्चित्; स्मरणप्रत्यक्षजनस्य पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि तदिति स्मरणं तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मकम्, तस्यातीतविवर्त्तमात्र-

---

१. मीमांसकाः इति मुद्रितप्रतिपादटिप्पणे। २. स्याद्वादिनः इति मुद्रितप्रतिपादटिप्पणे।

---

1. 'अतीन्द्रियप्रत्यक्षं' मु। 2. 'नाभिधीय-' अ। 3. 'प्रमाणमिति' मु। 4. 'तस्मात्तत्र' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोचरत्वात् । नापीदमिति संवेदनम्, तस्य वर्तमानविवर्त्तमात्रविषयत्वात् । ताभ्यामुपजायमानं तु संकलनाज्ञानं[1] तदनुवादपुरस्सरं द्रव्यं प्रत्यवमृशत् । ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्वविषयम् । तदपह्नवे क्वचिदेकान्वया-व्यवस्थानात्[2] सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात् । न चैतद् गृहीतग्रहणात्[3] अप्रमाणमिति शंकनीयम्, तस्य कथंचिदपूर्वार्थत्वात् । न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृति-प्रत्यक्षग्राह्यम्, येन तत्र प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मन्येत । तद्गृहीतातीतवर्तमानविवर्त्ततादात्म्यात् द्रव्यस्य कथञ्चिद् पूर्वार्थत्वेऽपि[4] प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्वम्, लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्वप्रसंगात्, तस्यापि सर्वथैवाऽपूर्वार्थत्वासिद्धेः । संबंधग्राहिविज्ञानविषयात्साध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् कथञ्चिद् पूर्वार्थत्वसिद्धेः[5] ।

§ १०५. बाधकप्रमाणसद्भावा[6]न्न प्रमाणं प्रत्यभिज्ञानमिति चायुक्तम्, तद्बाधकस्यासंभवात् । न हि प्रत्यक्षं तद्बाधकम्, तस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसंभवात् । साधकत्ववद्बाधकत्वविरोधात् । तथा हि—यद्यत्र[7] विषये न प्रवर्तते न तत्तस्य साधकं बाधकं वा, यथा रूपज्ञानस्य रसज्ञानम्, न प्रवर्तते च प्रत्यभिज्ञानस्य विषये प्रत्यक्षम्, तस्मान्न तत्तद्बाधकम्[8]। प्रत्यक्षं हि न प्रत्यभिज्ञानविषये पूर्वदृष्ट-दृश्यमानपर्यायव्यापिनि द्रव्ये प्रवर्तते, तस्य दृश्यमानपर्यायविषयत्वात्, इति नासिद्धं साधनम्। एतेनानुमानं प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं प्रत्याख्यातम्, तस्यापि प्रत्यभिज्ञानविषये प्रवृत्त्ययोगात्, क्वचिदनुमेयमात्रे प्रवृत्तिसिद्धेः । तस्य तद्विषयप्रवृत्तौ वा सर्वथा बाधकत्वविरोधात् । ततः प्रत्यभिज्ञानं स्वविषये द्रव्ये प्रमाणम्, सकलबाधकरहितत्वात्[9], प्रत्यक्षवत् स्मृतिवद्वा ।

§ १०६. एतेन सादृश्यनिबंधनं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमावेदितं बोद्धव्यम्, तस्यापि स्वविषये बाधकरहितत्वसिद्धेः[10] । यथैव हि प्रत्यक्षं स्वविषये साक्षात्क्रियमाणे स्मरणं च स्मर्यमाणेऽर्थे बाधकविधुरं[11] तथा प्रत्यभिज्ञानमेकत्र द्रव्ये सादृश्ये च स्वविषये न संभवद्बाधकमिति कथम-

---

1. 'उपजन्यं तु सकलज्ञानं' मु स । 2. 'अव्यवस्थापनात्' स । 3. 'गृहीतप्रमाणात्' मु । 4. 'कथंचिदपूर्वार्थत्वे-' मु । 5. 'कथंचिदपूर्वार्थ-' मु । 6. 'प्रमाणान्न' मु । 7. 'यथा हि' मु । 'तथा हि यद्यस्य' अ ब इ । 8. 'तद्बाधकं' मु अ ब इ । 9. 'सकलबाधा-' मु । 10. 'बोधाकाररहितत्व-' मु । 11. 'बाधाविधुरं' मु ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणमनुमन्येमहि। यत्पुनः स्वविषये बाध्यमानं तत्प्रत्यभिज्ञानाभासम्, यथा प्रत्यक्षाभासं स्मरणाभासं वा। न च तस्याप्रमाणत्वे सर्वस्याप्यप्रमाणत्वं[1] युक्तम्, प्रत्यक्षस्याप्यप्रमाणत्वप्रसंगात्। तस्माद्यथा शुक्ले शंखे पीताभासं प्रत्यक्षं तत्रैव शुक्लाभासेन प्रत्यक्षान्तरेण बाध्यमानत्वात् अप्रमाणम्, न पुनः पीते कनकादौ पीताभासं प्रत्यक्षम्। तथा तस्मिन्नेव स्वपुत्रादौ तादृशोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिबन्धनं[2] स एवायमित्येकत्वनिबन्धनेन प्रत्यभिज्ञानेन बाध्यमानमप्रमाणं सिद्धम्, न पुनः सादृश्य एव प्रवर्तमानं स्वपुत्रादिना सदृशेऽन्यपुत्रादौ[3]तादृशोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानम्, तस्याबाध्यत्वेन प्रमाणत्वयोगात्। एवं लूनपुनर्जातनखकेशादौ स एवायं नखकेशादिरित्येकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानं लूननखकेशादिसदृशोऽयं पुनर्जातनखकेशादिरिति सादृश्यनिबन्धनेन प्रत्यभिज्ञानान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणमवबुद्धयते, न पुनः सादृश्यप्रत्यवमर्शिप्रत्यभिज्ञानम्[4], तस्य तत्राबाध्यमानतया[5] प्रमाणत्वसिद्धेः। तथैव पूर्वानुभूते हि हिरण्यादौ प्रदेशविशेषविशिष्टे स्मरणं विपरीतदेशतया तत्स्मरणस्य बाधकमिति न तत्तत्र प्रमाणम्। यथाऽनुभूतप्रदेशे तु तथैव स्मरणं प्रमाणमिति बोद्धव्यम्। तत इदमभिधीयते—यतो यतोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यते तत्तत्प्रमाणम्, यथा प्रत्यक्षमनुमानं वा। स्मरणात्प्रत्यभिज्ञानाच्चार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यते च, तस्मात्प्रमाणं स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं चेति। तथा परोक्षमेतदविशदत्वात्[6], अनुमानवत्, साध्यसाधनसम्बन्धग्राहितर्कवद्वा। विशदस्य भावनाज्ञानत्वात्[7]।

[तर्कस्य प्रामाण्यप्रतिपादनम्]

§ १०७. यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वः पावकजन्मैवापावकजन्मा वा

---

1. 'सर्वथा प्रमाणत्वं' मु। 2. 'सादृश्यनिबंधः' मु। 3. 'सादृश्येऽन्यपुत्रादौ' मु। 4. 'एवं लूनपुनर्जातनखकेशा (दिरिति) दौ स एवायं नखकेशादिरित्येकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानं लूननखकेशादिसदृशोऽयं पुनर्जातनखकेशादिरिति सादृश्यनिन्धनेन प्रत्यभिज्ञानान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणमवबुद्धयते। न पुनः) सादृश्यप्रत्यवमर्शिप्रत्यभिज्ञानम्।' अत्र कोष्टकान्तर्गतः पाठो मुद्रितप्रतौ नोपलभ्यते। स चावश्यक एव। 5. 'तत्र तस्याबाध्य-' मु। 6. 'अविसंवादित्वात्' मु। 7. 'विशदस्य भावनाज्ञानत्वात्' इत्ययमंशः त्रुटितोऽनावश्यको वा प्रतिभाति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न भवतीति सकलदेशकालव्याप्त्या[1] साध्यसाधनसंबद्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात्, प्रत्यक्षानुपलम्भगृहीतप्रतिनियतदेशकालसाध्यसाधनव्यक्तिमात्रग्राहित्वाभावात् गृहीतग्रहणासम्भवात्[2], बाधकवर्जितत्वाच्च। न हि तर्कस्य प्रत्यक्षं बाधकम्, तद्विषये तस्याप्रवृत्तेः, अनुमानवत्। प्रवृत्तौ वा सर्वथा तद्बाधकत्वविरोधात् क्वचिदेव तद्बाधकोपपत्तेः। यस्य तु तद्बाधकं स तर्काभासो न प्रमाणमितीष्टं शिष्टैः, स्मरणप्रत्यभिज्ञानाभासवत्, प्रत्यक्षानुमानाभासवद्वा।

§ १०८. तथा प्रमाणं तर्कः, ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्यार्थक्रियायां विसंवादाभावात्, प्रत्यक्षानुमानवदिति प्रतिपत्तव्यम्। परोक्षं चेदं तर्कज्ञानम्, अविशदत्वात्[3], अनुमानवत्।

[अनुमानस्य प्रामण्यनिरूपणम्]

§ १०९. किं पुनरनुमानं नाम। साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। तत्र साधनं साध्याविनाभाव[4]नियमनिश्चयैकलक्षणम्, लक्षणान्तरस्य साधनाभासेऽपि भावात्। त्रिलक्षणस्य[5] साधनस्य साधनतानुपपत्तेः,[6] पञ्चादिलक्षणवत्। न हि[7] सपक्षे सत्त्वं पक्षधर्मत्वं विपक्षे चासत्त्वमात्रं साधनलक्षणम् 'स श्यामः, तत्पुत्रत्वात्[8], इतरतत्पुत्रवत्' इत्यत्र साधनाभासेऽपि[9] तत्सद्भावसिद्धेः। सपक्षे हीतरत्र तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्वं प्रसिद्धम्[10]। विवादाध्यासिते तत्पुत्रे पक्षीकृते तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्। विपक्षे चाश्यामे[11] क्वचिदन्यपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षासत्त्वमात्रं च[12]। न च तावता साध्यसाधनत्वं साधनस्य[13]।

§ ११०. ननु साकल्येन साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तेरसम्भवात्, परत्र गौरेऽपि तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य भावान्न सम्यक् साधनमेतत्, इति चेत्, तर्हि कार्त्स्न्येन साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिनिश्चय[14] एवैकं साधनलक्षणम्। स

---

1. 'व्याप्तसाध्य-' मु। 2. 'गृहीतग्रहणसंभवात्' मु। 3. 'अविसंवादकत्वात्' मु। 4. 'भावि' मु। 5. 'स्वलक्षणस्य' मु। 6. 'साधनानुपपत्तेः' मु अ। 7. 'न चा' मु। 8. 'साधनलक्षणं पश्यामः तत्पुत्रत्वा-' मु अ ब। 9. 'साधनाभासे तत्स-' मु। 10. 'सिद्ध'' अ इ। 11. 'वाऽश्यामे' मु। 12. 'विपक्षेऽसत्त्वमात्रं' मु ब। 13. 'साधनस्य' इति पाठो नास्ति ब स इ। 14. निवृत्तिनिश्चय- मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयः **स्याद्वादिभिः** साधनलक्षणमभिधीयते, तत्सद्भावे पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि साधनस्य गमकत्वप्रतीतेः[1]। उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादित्यस्य पक्षधर्मत्वाभावेऽपि प्रयोजकत्वव्यवस्थितेः। न हि शकटे धर्मिण्युदेष्यत्तायां साध्यायां कृत्तिकायां उदयोऽस्ति, तस्य कृत्तिकाधर्मत्वात्। ततो न पक्षधर्मत्वम्। यदि पुनराकाशं कालो वा धर्मी तस्योदेष्यच्छकटवत्वं साध्यं कृत्तिकोदयवत्वं[2] साधनं पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराग्निमत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु। तथा च महानसधूमो महोदधावग्निं गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात्। अथेत्थमेतस्य साधनस्य पक्षधर्मत्वसिद्धावपि न साध्यसाधनसामर्थ्यमविनाभाव[3]नियमनिश्चयस्याभावादित्यभिधीयते तर्हि स एव साधनलक्षणमक्षूणं परीक्षादक्षैरुपलक्ष्यते।

§ १११. योऽप्याह—शकटोदयो भाविकारणं कृत्तिकोदयस्य, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। सति हि स्वकाले भविष्यति शकटोदये कृत्तिकोदयस्य भावादसत्यभावाच्च तदन्वयव्यतिरेकानुविधानं[4] सिद्धं भविष्यच्छकटकृत्तिकोदययोः[5] कार्यकारणभावं साधयति, विनष्टवर्तमानवदेव। यथैवोद्गाद्भरणिः कृत्तिकोदयादित्यत्रातीतो भरण्युदयः कारणं कृत्तिकोदयस्तत्कार्यम्, स्वकाले अतीते सति भरण्युदये कृत्तिकोदयस्य भावादसत्यभावाच्च तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्कार्यकारणभावः तथा भविष्यद्वर्तमानयोरपि प्रकृतसाध्यसाधनयोर्न्यायस्य समानत्वात्। न चैकस्य कृत्तिकोदयस्य भविष्यदतीतकारणद्वितयं विरुद्धयते, भिन्नदेशयोरिव भिन्नकालयोरपि सहकारित्वाविरोधात्[6]। सहैकस्य कार्यस्य करणं[7] हि सहकारित्वनिबन्धनं नाभिन्नकालत्वमभिन्नेदेशत्ववत्[8]। न चतीतानागतौ भरण्युदयशकटोदयौ कृत्तिकोदयस्योपादानकारणम्, पूर्वकृत्तिकाक्षणस्या[9]नुदयमापन्नस्य तदुपादानकारणसम्प्रतिपत्तेरिति।

§ ११२. सोऽपि न प्रातीतिकवचनः; तथा प्रतीत्यभावात्। कार्यकालमप्राप्नुवतो[10]विनष्टानागतयोः कारणत्वे हि विनष्टतमानागततमयोरपि कारणत्वं कथं विनिवार्यम्। प्रत्यासत्तिविशेषाभावादिति चेत्, तर्हि स

---

1. 'सम्यक्त्वप्रतीतेः-' ब स इ। 2. 'कृत्तिकोदयसाधनं' मु। 3. 'भावि' मु। 4. 'शकटोदये कृत्तिकोदय उपलभ्यते नासतीत्यन्वयव्यतिरेकानुविधानं' मु अ ब इ। 5. 'शकटोदयकृत्तिकोदययोः' ब। 6. 'सहकारित्वविरोधात्' मु। 7. 'कारणं' मु इ। 8. 'देशवत्' मु अ। 9. 'कृत्तिकालक्षणस्या-' मु। 10. 'आप्राप्तवतो' ब।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एव प्रत्यासत्तिविशेषः कारणत्वाभिमतयोरतीतानागतयोः[1] कारणत्वे हेतुर्वक्तव्यः। स चातीतस्य कार्ये व्यापारस्तावन्न सम्भवति[2], सर्वथाऽपि कार्यकाले तदसत्त्वादनागतवत्। तद्भावे भावः प्रत्यासत्तिविशेष[3] इत्यप्यसारम्, अतीतस्यानागतस्य वाऽभावे[4] एव कार्यस्य भावात् भावे चाभावात्। अन्यथा कार्यकारणयोरेककालतापत्तेः सकलसन्तानानामेकक्षणवर्तित्वप्रसंगः। न चैकक्षणः[5] सन्तानो नाम, तस्यापरामृष्टभेदनानाकार्यकारणक्षणलक्षणत्वात्[6]।

§ ११३. यदप्यभ्यधायि—कारणस्यातीतस्यानागतस्य च स्वकाले भावे कार्यस्य भावात्, अभावे चाभावात्, तद्भावभावो[7]ऽन्वयव्यतिरेकानुविधानलक्षणः प्रत्यासत्तिविशेषोऽस्त्येव इति।

§ ११४. तदप्यसंगतम्; कारणत्वानभिमतातीतानागतसमयोरपि तथा तद्भावभावप्रसंगात्[8]। कार्यस्य भिन्नदेशस्य तु कारणत्वे युक्तस्तद्भावभावः, कलशकुम्भकारादिवत्। कुम्भकारादिषु हि स्वदेशे[9] सत्सु कलशस्य भावोऽसत्सु चाभावस्तेषां तत्र व्यापारात्। कारणत्वानभिमतस्य तु भिन्नदेशस्य न कार्ये तद्भावभावो[10]ऽस्ति, तत्र तस्याव्यापारात्, अतीतानागतवत्। सतो हि कस्यचित्क्वचिद्व्यापारः श्रेयान्, न पुनरसतः, शश[11]विषाणादेरिवेति युक्तम्। ततो भिन्नदेशस्यापि कस्यचिदेकत्र[12] कार्ये व्याप्रियमाणस्य सहकारिकारणत्वं प्रतीतिमनुसरति न पुन[13]र्भिकालस्य, प्रतीत्यतिलंघनात्। तन्न[14] कृत्तिकोदयशकटोदययोः कार्यकारणभावः समवतिष्ठते, व्याप्यव्यापकभाववत्। सत्यपि तयोः कार्यकारणभावे न हेतोः पक्षधर्मत्वं युज्यते इति पक्षधर्मत्वमन्तरेणापि[15] हेतोर्गमकत्वसिद्धेर्न तल्लक्षणमुत्प्रेक्षते। तथा न सपक्ष एव सत्त्वं निश्चितम्, तदभावेऽपि सर्वभावानामनित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्य स्वयं साधुत्वसमर्थनात्। विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याविनाभाव[16]नियम-

1. 'कारणभिमतयो-' स। 2. 'न्न भवति' मु स। 3. 'तद्भावे भावप्रत्यासत्ति-' मु। 4. 'चाभावे एव' मु द। 5. 'नैकक्षणसंतानो' मु। 6. 'कार्यकारणलक्षणत्वात्' मु स। 7. 'तदभावाभावो' मु, 'तदभावभावो' स। 8. 'तद्भावप्रसंगात्' मु। 9. 'भिन्नस्वदेशेषु' मु, 'भिन्नस्वदेशे' द। 10. 'तद्भावभावो तत्र-' मु। 11. 'खर-' मु। 12. '···देकस्य' मु। 13. 'न भिन्न-' स। 14. 'ततो' मु। 15. 'पक्षधर्ममन्तरे-' मु अ। 16. 'भावि-' मु अ ब।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयरूपमेवेति तदेव हेतोः प्रधानं[1] लक्षणमस्तु, किमत्र लक्षणान्तरेण।

[बौद्धाभिमतं त्रैरूप्यं हेतुलक्षणं परीक्ष्यते]

§ ११५. अथ मतमेतत्—पक्षधर्मत्वमसिद्धत्वव्यवच्छदार्थं[2] साधनस्य निश्चीयते। सपक्ष एव सत्त्वं विरुद्धत्वव्यवच्छेदाय। विपक्षे चासत्त्वमेवानैकान्तिकत्व[3]व्यवच्छित्तये। तदनिश्चये हेतोरसिद्धत्वादिदोषत्रयपरिहारासंभवात् त्रैरूप्यं लक्षणं सफलमेव। तदुक्तम्—

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्ध-विपरीतार्थ-व्यभिचारिविपक्षतः ॥ [ ] इति।

§ ११६. तदप्यपरीक्षिताभिधानं **सौगतस्य**, हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारसिद्धेः, स्वयमसिद्धस्यान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासम्भवात्, अनैकान्तिकविपरीतार्थवत्, तस्य तथोपपत्तिनियमनिश्चयरूपत्वात्। तस्य चासिद्धे व्यभिचारिणि विरुद्धे च हेतावसम्भवनीयत्वात्[4]। रूपत्रयस्याविनाभावनियमप्रपञ्चत्वात् साधनलक्षणत्वे तत एव रूपपञ्चकस्य साधनलक्षणत्वमस्तु। पक्षव्यापकत्वान्वयव्यतिरेकाबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वरूपाणि हि पञ्चाप्यविनाभावनियमप्रपञ्च एव, बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य[5] चा[6]विनाभावनियमानिश्चयात्, पक्षाव्यापकानन्वयाव्यतिरेकवत्। न च[7] पक्षधर्मत्वे सत्येव साधनस्य सिद्धत्वम्, येनासिद्धविवेक[8]स्तत्तस्य लक्षणम्, अपक्षधर्मस्यापि सिद्धत्वसमर्थनात्। नापि सपक्षे सत्त्वे एव विपरीतार्थविवेकः, सर्वानेकान्तात्मकत्वसाधने सत्त्वादेः सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि विरुद्धत्वाभावात्, परस्य सर्वानित्यत्वसाधनवत्। न च व्यतिरेकमात्रे सत्यपि व्यभिचारिविवेकः[9], श्यामत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वादेर्व्यभिचारसाधनात्[10]। व्यतिरेकविशेषस्तु तदेवान्यथानुपपन्नत्वमिति न त्रीणि रूपाण्यविनाभावनियमप्रपञ्चः। तेषु सत्सु हेतोरन्यथानुपपत्तिदर्शनात्तेषां तत्प्रपञ्चत्वे कालाकाशादीनामपि तत्प्रपञ्चत्वप्रसक्तिस्तेष्वपि सत्सु तद्दर्शनात्। तेषां सर्वसाधारणत्वान्न हेतुरूपत्वमित्यपि पक्षधर्मत्वादिषु[11] समानम्, तेषामपि साधारणत्वात्,

---

1. 'प्रधान-' मु अ। 2. 'असिद्धत्वमसिद्धत्वव्यव-' मु। 3. 'चासत्त्वं अनेकांतित्व-' मु। 4. 'असंभावनीयत्वात्' मु अ ब इ। 5. 'सत्प्रतिपक्षितस्य' मु। 6. 'वा', अ ब इ। 7. 'न पक्ष-' 8. 'असिद्धत्वविवेकत-' अ। 9. 'व्याभिचारिविवेके' मु। 10. 'व्यभिचारसंभवात्' अ इ। 11. 'पक्षधर्मतादि-' अ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेत्वाभासेष्वपि भावात्। ततोऽसाधारणं लक्षणमाचक्षाणैरन्यथानुपपन्नत्वमेव नियतं हेतुलक्षणं कक्षीकर्त्तव्यम्[1]। तथा चोक्तम्[2]—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥ [ ] इति।

[यौगाभिमतं पाञ्चरूप्यं हेतुलक्षणं समालोचयति]

§ ११७. एतेन पंचरूपाणि हेतोरविनाभावनियमप्रपंच एव इत्येतदपास्तम्, सत्यप्यबाधितविषयत्वेऽसत्प्रतिपक्षत्वे[3] चाविनाभावनियमानवलोकनात्[4], पक्षव्यापकत्वान्वयव्यतिरेकवत्। स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यत्र तत्पुत्रत्वस्य हेतोर्विषये श्यामत्वे बाधकस्य प्रत्यक्षादेरभावादबाधितविषयत्वसिद्धावपि अविनाभावनियमासत्त्वात् अश्यामेन तत्पुत्रेण व्यभिचारात्। तथा तस्या[5]श्यामत्वसाधनानुमानस्य प्रतिपक्षस्यासत्त्वादसत्प्रतिपक्षत्वे सत्यपि व्यभिचारात्साधनस्य तदभावः प्रतिपत्तव्यः। तदत्रैवं वक्तव्यम्—

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्॥ इति।

§ ११८. तदेवमन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चय एवैकं साधनस्य लक्षणं प्रधानम्, तस्मिन्सति त्रिलक्षणस्य पंचलक्षणस्य च प्रयोगो न निवार्यते[6] एवेति प्रयोगपरिपाट्याः प्रतिपाद्यानुरोधतः परानुग्रहप्रवृत्तैरभ्युपगमात्। तथा चाभ्यधायि **कुमारनन्दिभट्टारकैः**—

अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमंग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥ [ ] इति।

§ ११९. तच्च साधनं एकलक्षणं सामान्यादेकविधमपि विशेषतोऽतिसंक्षेपाद्द्विविधम्—विधिसाधनं[7] प्रतिषेधसाधनं चेति। तत्र विधिसाधनं संक्षेपात्त्रिविधमभिधीयते—कार्यं कारणस्य, कारणं कार्यस्य, अकार्यकारणमकार्यकारणस्येति, प्रकारान्तरस्यात्रैवान्तर्भावात्।

§ १२०. तत्र कार्यं हेतुः—अग्निरत्र धूमात् इति। कार्यकार्यादेरत्रैवान्तर्गतत्वात्।

---

1. 'पक्षीकर्त्तव्यं' मु। 2. 'तथोक्तं' मु। 3. 'सत्प्रतिपक्षे' मु। 4. 'अनवलोकात्' मु। 5. 'तथा तस्य श्याम–' मु। 6. 'पंचललक्षणस्य प्रयोगो निवार्यते' मु। 7. 'विधिसाधनं संक्षेपात् त्रिविधं' मु।

७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १२१. कारणं हेतुः—अस्त्यत्र छाया छत्रात् इति। कारणकारणादेरत्रानुप्रवेशान्नार्थान्तरत्वम्। न चानुकूलमात्र[1]मन्त्यक्षणप्राप्तं वा कारणं लिंगमुच्यते, येन प्रतिबन्ध-वैकल्यसम्भवाद् व्यभिचारि स्यात्। द्वितीयक्षणे कार्यस्य प्रत्यक्षीकरणाद[2]नुमानानर्थकत्वं वा, कार्याविनाभाव[3]नियमतया निश्चितस्यानुमानकालप्राप्तस्य कारणस्य विशिष्टस्य लिंगत्वात्।

§ १२२. अकार्यकारणं चतुर्विधम्—व्याप्यम्, सहचरम्, पूर्वचरम्, उत्तरचरं चेति। तत्र [१] व्याप्यं लिंगं[4] व्यापकस्य, यथा सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादिति। सत्त्वं हि वस्तुत्वम्—"**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**" [त० सू० ५-३०] इति वचनात्। न च तदेकेनान्तेन[5] सुनयविषयेण व्यभिचारि, तस्य वस्त्वंशत्वात्। [२] सहचरं लिंगं यथा—अस्ति तेजसि स्पर्शसामान्यम्, रूपसामान्यादिति। न हि स्पर्शसामान्यं रूपसामान्यस्य[6] कार्यं कारणं वा। नापि रूपसामान्यं स्पर्शसामान्यस्य, तयोः सर्वत्र सर्वदा समकालत्वात् सहचरत्वप्रसिद्धेः। एतेन संयोगिन एकार्थसमवायिनश्च साध्यसमकालस्य सहचरत्वं निवेदितमेकसामग्र्यधीनस्यैव प्रतिपत्तव्यम्, समवायिनः कारणत्ववत्। [३] पूर्वचरं लिंगं यथा—उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् इति। पूर्वपूर्वचराद्यनेनैव संगृहीतम्। [४] उत्तरचरलिंगं यथा—उद्गाद् भरणिः कृत्तिकोदयात् इति। उत्तरोत्तरचरमेतेनैव संगृह्यते।

§ १२३. तदेतत्साध्यस्य विधौ साधनं षड्विधमुक्तम्।

§ १२४. प्रतिषेधे तु प्रतिषेध्यस्य विरुद्धकार्यम्, विरुद्धकारणम्, विरुद्धाकार्यकारणं चेति[7]।

§ १२५. तत्र [१] विरुद्धकार्यं लिंगं—नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् इति। शीतस्पर्शेन हि विरुद्धो वह्निः, तस्य कार्यं धूम इति।

§ १२६. [२] विरुद्धकारणम्—नास्य पुंसोऽसत्यमस्ति सम्यग्ज्ञानात् इति। विरुद्धं ह्यसत्येन सत्यम्, तस्य कारणं सम्यग्ज्ञानं यथार्थज्ञानं राग-

---

1. 'अनुकूलत्वमात्र-' मु। 2. 'पक्षीकरणा-' मु। 3. कार्याविनाभाविनियम- इ मु। 4. 'व्याप्यलिंग' मु। '5. 'तदेकान्तेन' मु। 6. 'तेजसि स्पर्शसामान्यं न रूपसामान्यस्य' मु। 'रूपसामान्यादिति। न (हि) स्पर्शसामान्यं' इति पाठोऽत्र त्रुटितो वर्तते। 7. 'विरुद्धं कार्यं विरुद्धं कारणं विरुद्धाकार्यकारणं चेति' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वेषरहितं तत्कुतश्चित्सूक्ताभिधानादेः[1] प्रसिद्ध्यत् सत्यं साधयति। तच्च सिद्ध्यदसत्यं प्रतिषेधयतीति।

§ १२७. [३] विरुद्धाकार्यकारणं तु[2] चतुर्विधम्—विरुद्धव्याप्यम्, विरुद्धसहचरम्, विरुद्धपूर्वचरम्, विरुद्धोत्तरचरं चेति। [१] तत्र विरुद्धव्याप्यम्—नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, औष्ण्यात्, इति[3]। औष्ण्यं हि व्याप्यमग्नेः, स च विरुद्धः शीतस्पर्शेन प्रतिषेध्येन, इति। [२] विरुद्धसहचरम्—नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनात्, इति। मिथ्याज्ञानेन हि सम्यग्ज्ञानं विरुद्धम्, तत्सहचरं सम्यग्दर्शनमिति। [३] विरुद्धपूर्वचरम्—नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्। शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयः[4], तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति[5]। [४] विरुद्धोत्तरचरम्—मुहूर्त्तात्प्राग्नो[6]द्गाद्भरणिः पुष्योदयादिति[7]। भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयः, तदुत्तरचरः पुष्योदय इति।

§ १२८. तान्येतानि साक्षात्प्रतिषेध्यविरुद्धकार्यादीनि लिंगानि विधिद्वारेण प्रतिषेधसाधनानि षडभिहितानि।

§ १२९. परम्परया तु कारणविरुद्धकार्यम्, व्यापकविरुद्धकार्यम्, कारणव्यापकविरुद्धकार्यम्, व्यापककारणविरुद्धकार्यम्, कारणविरुद्धकारणम्, व्यापकविरुद्धकारणम्, कारणव्यापकविरुद्धकारणम्, व्यापककारणविरुद्धकारणं चेति। तथा कारणविरुद्धव्याप्यादीनि कारणविरुद्धसहचरादीनि[8] च यथाप्रतीति वक्तव्यानि।

§ १३०. तत्र कारणविरुद्धकार्यम्—नास्त्यस्य हिमजनितरोमहर्षादिविशेषः, धूमात्, इति। प्रतिषेध्यस्य हि रोमहर्षादिविशेषस्य कारणं हिमं[9] तद्विरुद्धोऽग्निः तत्कार्यं धूम इति।

§ १३१. व्यापकविरुद्धकार्यम्—नास्त्यत्र शीतसामान्यव्याप्तः शीतस्पर्शविशेषः, धूमात्, इति। शीतस्पर्शविशेषस्य हि निषेध्यस्य व्यापकं शीतसामान्यं तद्विरुद्धोऽग्निः तस्य कार्यं धूम इति।

§ १३२. कारणव्यापकविरुद्धकार्यम्—नास्त्यत्र हिमत्वव्याप्तहिम-

1. 'सुक्ताभिधान-' मु। 2. 'तु' नास्ति मु इ। 3. 'इति' नास्ति मु। 4. 'ह्यश्वन्युद-' मु। 5. 'इति' नास्ति मु। 6. 'प्रांगो·····' मु। 7. 'पुष्पोदयादिति' मु। 8. 'चहरादीनि' मु। 9. 'हिमः' ब।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषजनितरोमहर्षादिविशेषः, धूमात्, इति। रोमहर्षादिविशेषस्य हि कारणं हिमविशेषः, तस्य व्यापकं हिमत्वं तद्विरुद्धोऽग्निः तत्कार्यं धूम इति।

§ १३३. व्यापककारणविरुद्धकार्यम्—नास्त्यत्र शीतस्पर्शविशेषः, तद्व्यापकशीतस्पर्शमात्रकारणहिमविरुद्धाग्निकार्यधूमात्, इति। शीतस्पर्शविशेषस्य हि व्यापकं शीतस्पर्शमात्रं तस्य कारणं हिमं तद्विरुद्धोऽग्निस्तत्कार्यं धूम इति।

§ १३४. कारणविरुद्धकारणम्—नास्त्यस्य मिथ्याचरणम्, तत्त्वार्थोपदेशग्रहणात्, [इति]। मिथ्याचरणस्य हि कारणं मिथ्याज्ञानं, तद्विरुद्धं तत्त्वज्ञानं तस्य कारणं तत्त्वार्थोपदेशग्रहणम्। तत्त्वार्थोपदेशश्रवणे सत्यपि कस्यचित्तत्त्वज्ञानासम्भवाद् ग्रहणवचनम्। तत्त्वार्थानां श्रद्धानपूर्वकमवधारणं हि ग्रहणमिष्टम्, अन्यथाऽस्य ग्रहणाभासत्वात्। मिथ्याचरणस्य चात्र[1] नास्तिता साध्यते न पुनरनाचरणस्य[2], तत्त्वार्थोपदेशग्रहणादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्याप्यसंयतसम्यग्दृष्टेश्चारित्रासम्भवात् अनाचरणस्य[3] प्रसिद्धेः। न तु मिथ्याचरणमप्यस्य सम्भवति, तत्त्वज्ञानविरोधात्, तेन सह तस्यानवस्थानात्, इति।

§ १३५. तथा व्यापकविरुद्धकारणं लिंगम्—नास्त्यस्यात्मनो[4] मिथ्याज्ञानम्, तत्त्वार्थोपदेशग्रहणात्, इति। आत्मनो मिथ्याज्ञानविशेषस्य व्यापकं मिथ्याज्ञानमात्रं तद्विरुद्धं सत्यज्ञानं[5] तस्य कारणं तत्त्वार्थोपदेशग्रहणं यथोपवर्णितमिति[6]।

§ १३६. कारणव्यापकविरुद्धकारणम्—नास्त्यस्य मिथ्याचरणम्, तत्त्वार्थोपदेशग्रहणात्, इति। अत्र मिथ्याचरणस्य कारणं मिथ्याज्ञानविशेषः, तस्य व्यापकं मिथ्याज्ञानमात्रम्, तद्विरुद्धं तत्त्वज्ञानम्, तस्य कारणं तत्त्वार्थोपदेशग्रहणम्, इति प्रत्येयम्।

§ १३७. व्यापककारणविरुद्धकारणं लिंगम्—नास्त्यस्य मिथ्याचरणविशेषः, तत्त्वार्थोपदेशग्रहणात्, इति। मिथ्याचरणविशेषस्य हि व्यापकं मिथ्याचरणसामान्यम्, तस्य कारणं मिथ्याज्ञानम्, तद्विरुद्धं तत्त्वज्ञानम्, तस्य कारणं तत्त्वार्थोपदेशग्रहणमिति[7]।

---

1. 'वात्र' मु। 2. 'अनाचारस्य' अ ब द। 3. 'अनाचारस्य' मु। 4. 'आत्मनि' मु। 5. 'सम्यग्ज्ञानं' स। 6. 'यथार्थोपवर्णितमिति' मु द। 7. 'मिति प्रत्येयं' अ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १३८. तथा कारणविरुद्धव्याप्यं लिंगम्—न सन्ति सर्वथैकान्तवादिनः प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यानि, वैपर्यासिकमिथ्यादर्शनविशेषात्, इति। प्रशमादीनां हि कारणं सम्यग्दर्शनम्, तद्विरुद्धं मिथ्यादर्शनसामान्यम्, तेन व्याप्यं मिथ्यादर्शनं वैपर्यासिकं विशिष्टमिति[1]।

§ १३९. व्यापकविरुद्धव्याप्यम्—न सन्ति **स्याद्वादिनो** वैपर्यासिकादिमिथ्यादर्शनविशेषाः तत्त्वज्ञानविशेषात्[2], इति। वैपर्यासिकादिमिथ्यादर्शनविशेषाणां हि व्यापकं मिथ्यादर्शनसामान्यम्, तद्विरुद्धं तत्त्वज्ञानसामान्यम्, तस्य व्याप्य[3]स्तत्त्वज्ञानविशेष इति।

§ १४०. कारणव्यापकविरुद्धव्याप्यम्—न सन्ति अस्य प्रशमादीनि, मिथ्याज्ञानविशेषात्, इति[4]। प्रशमादीनां हि कारणं सम्यग्दर्शनविशेषः[5], तस्य व्यापकं सम्यग्दर्शनसामान्यम्[6], तद्विरुद्धं मिथ्याज्ञानसामान्यम्, तेन व्याप्तो मिथ्याज्ञानविशेष इति।

§ १४१. व्यापककारणविरुद्धव्याप्यं लिंगम्—न सन्ति अस्य तत्त्वज्ञानविशेषाः, मिथ्यार्थोपदेशग्रहणविशेषात्, इति। तत्त्वज्ञानविशेषाणां हि[7] व्यापकं तत्त्वज्ञानसामान्यम्, तस्य कारणं तत्त्वार्थोपदेशग्रहणम्, तद्विरुद्धं मिथ्यार्थोपदेशग्रहणसामान्यम्, तेन व्याप्तो मिथ्यार्थोपदेशग्रहणविशेष इति।

§ १४२. एवं कारणविरुद्धसहचरं लिंगम्—न सन्त्यस्य प्रशमादीनि, मिथ्याज्ञानात्, इति। प्रशमादीनां हि कारणं सम्यग्दर्शनम्, तद्विरुद्धं मिथ्यादर्शनम्, तत्सहचरं मिथ्याज्ञानम्, इति।

§ १४३. व्यापकविरुद्धसहचरम्—न सन्त्यस्य मिथ्यादर्शनविशेषाः, सम्यग्ज्ञानात्, इति। मिथ्यादर्शनविशेषाणां हि व्यापकं मिथ्यादर्शनसामान्यम्, तद्विरुद्धं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, तत्सहचरं सम्यग्ज्ञानमिति।

§ १४४. कारणव्यापकविरुद्धसहचरम्—न सन्त्यस्य प्रशमादीनि, मिथ्याज्ञानात्, इति। प्रशमादीनां हि कारणं सम्यग्दर्शनविशेषाः, तेषां

---

1. 'वैपर्यासिकविशिष्टं' मु स इ। 2. 'सम्यग्ज्ञान-' ब। 3. 'तस्य व्याप्यं' अ इ। 4. 'इति' नास्ति अ ब इ। 5. 'सद्दर्शनविशे-' अ इ। 6. 'सद्दर्शनसामान्यं' अ इ। 7. 'हि' नास्ति मु स ब।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापकं सम्यग्दर्शनसामान्यम्, तद्विरुद्धं मिथ्यादर्शनम्, तत्सहचरं मिथ्याज्ञानमिति।

§ १४५. व्यापककारणविरुद्धसहचरम्—न सन्त्यस्य मिथ्यादर्शनविशेषाः, सत्यज्ञानात्, इति। मिथ्यादर्शनविशेषाणां हि व्यापकं मिथ्यादर्शनसामान्यम्, तस्य कारणं दर्शनमोहोदयः, तद्विरुद्धं सम्यग्दर्शनम्, तत्सहचरं सम्यग्ज्ञानमिति[1]।

§ १४६. तदेतत्[2] सामान्यतो विरोधिलिंगं प्रपंचतो द्वाविंशतिप्रकारमपि भूतमभूतस्य गमकमन्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणत्वात्प्रतिपत्तव्यम्। भूतं भूतस्य तु[3] प्रयोजकं कार्यादि षट्प्रकारं पूर्वमुक्तम्।

§ १४७. तदित्थं विधिमुखेन विधायकं प्रतिषेधकं[4] च लिंगमभिधाय साम्प्रतं प्रतिषेधमुखेन विधायकं प्रतिषेधकं च साधनमभिधीयते।

§ १४८. तत्राभूतं भूतस्य विधायकं यथा—अस्त्यस्य प्राणिनो व्याधिविशेषः, निरामयचेष्टाविशेषानुपलब्धेः[5], इति। तथा अस्ति सर्वथैकान्तवादिनामज्ञानादिदोषः, युक्तिशास्त्राविरुद्धवचनाभावात्, इति। अस्त्यस्य मुनेराप्तता[6], विसंवादकत्वाभावात्, इति[7]। अभूदेतस्य तालफलस्य पतनकर्म, वृन्तसंयोगाभावात्, इति बहुधा दृष्टव्यम्।

§ १४९. तथैवाभूतमभूतस्य प्रतिषेध्यस्य[8] प्रतिषेधकम्। यथा—नास्त्यत्र शवशरीरे बुद्धिः, व्यापार-व्याहाराकारविशेषानुपलब्धेः, इति कार्यानुपलब्धिः। न सन्त्यस्य प्रशमादीनि, तत्त्वार्थश्रद्धानानुपलब्धेः, इति कारणानुपलब्धिः। नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः, इति व्यापकानुपलब्धिः। नास्त्यस्य तत्त्वज्ञानम्, सम्यग्दर्शनाभावात्, इति सहचरानुपलब्धिः। न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटोदयः, कृत्तिकोदयानुपलब्धेः, इति पूर्वचरानुपलब्धिः। नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक्, कृत्तिकोदयानुपलब्धेः, इति उत्तरचरानुपलब्धिः।

---

1. 'तत्त्वज्ञानमिति' ब इ। 2. 'तदेत्' मु। 3. 'तु' नास्ति मु ब। 4. '....विधायकं प्रतिषेधमुखेन प्रतिषेधकं....' मु। 5. 'चेष्टानुपलब्धेः' मु। 6. 'आप्तत्वं' मु। 7. 'इति' नास्ति मु इ। 8. 'प्रतिषेधस्य' मु इ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १५०. एवं परम्परया कारणकारणाद्यनुपलब्धि-[1]व्यापकव्यापकानुपलब्ध्यादिकमपि बहुधा प्रतिषेधद्वारेण प्रतिषेधसाधनमवधारणीयम् ।

§ १५१. अत्र संग्रहश्लोकाः—

स्यात्कार्यं कारणं[2] व्याप्यं प्राक्सहोत्तरचारि च ।
लिंगं तल्लक्षणव्याप्तेर्भूतं भूतस्य साधकम् ॥१॥

षोढा विरुद्धकार्यादि साक्षादेवोपवर्णितम् ।
लिंगं भूतमभूतस्य लिंगलक्षणयोगतः ॥२॥

पारम्पर्यात्तु कार्यं स्यात् कारणं व्याप्यमेव च ।
सहचारि च निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्विधम् ॥३॥

कारणाद्द्विष्ठकार्यादिभेदेनोदाहृतं यथा[3] ।
तथा[4] षोढशभेदं स्यात् द्वाविंशतिविधं ततः ॥४॥

लिंगं समुदितं ज्ञेयमन्यथानुपपत्तिमत् ।
तथा भूतमभूतस्याप्यूह्य[5]मन्यदपीदृशम् ॥५॥

अभूतं लिंगमुन्नीतं[6] भूतस्यानेकधा बुधैः ।
तथाऽभूतमभूतस्य यथायोग्य[7]मुदाहरेत् ॥६॥

बहुधाऽप्येवमाख्यातं संक्षेपेण चतुर्विधम् ।
अतिसंक्षेपतो द्वेधोपलम्भानुपलम्भभृत् ॥७॥ [ ]

§ १५२. एतेन कार्यस्वभावानुपलम्भविकल्पात्त्रिविधमेव लिंगमिति नियमः प्रत्याख्यातः, सहचरादेर्लिंगान्तरत्वात् । 'प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टम्' [न्यायसू० १।१।५] इत्यपि [निरस्तं प्रतिपत्तव्यम्] ।

§ १५३. यदि पूर्ववच्छेषवत् केवलान्वयि, पूर्ववत्सामान्यतोदृष्टं केवलव्यतिरेकि, पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेकि [इति] व्याख्यायते त्रिसूत्रीकरणादस्य सूत्रस्य, तदा न किंचिद्विरुद्धम्, निगदित-

1. 'कारणाद्यनुपलब्धिः' मु इ, 'कारणकारणाद्यनुपलब्धिः' अ ब स । किन्त्वत्रादिपदं मुक्त्वा 'कारणकारणानुपलब्धि-' इत्ययं पाठः विसर्गरहितः सम्यक् प्रतिभाति । परं बहुप्रतिषूपलब्धपाठमनुसृत्य स एव विनक्षिप्तोऽस्माभिः ।—सम्पा० ।
2. 'कारणव्याप्यं' मु ब । 3. 'पुरा' मु । 4. 'यथा' मु । 5. 'अभ्यूह्यं' अ ब द । अत्र चतुर्थपादस्थाने 'भूतं भूतस्य तादृशम्' भाव्यम् । 6. 'भूतमुन्नोतं' मु ।
7. 'यथायोग' अ ब इ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिंगप्रकारेषु त्रिविधस्यापि सम्भवात्। तथोपपत्तिनियमा[1]त्केवलान्वयिनो गमकत्वाविरोधात्। तत्र वैधर्म्यदृष्टान्ताभावेऽपि साध्याविनाभावनियमनिश्चयात्।

§ १५४. अथ पूर्ववत् कारणात्कार्यानुमानम्, शेषवत् कार्यात्कारणानुमानम्, सामान्यतोदृष्टं अकार्यकारणादकार्यकारणानुमानम्, सामान्यतोऽविनाभावमात्रात्, इति व्याख्यायते; तदाऽपि **स्याद्वादिनाम**भिमतमेव, तथासर्वहेतुप्रकारसंग्रहस्य संक्षेपतः प्रतिपादनात्। यदाऽपि पूर्ववत् पूर्वं लिंगलिंगिसंबंधस्य क्वचिन्निश्चयादन्यत्र प्रवर्तमानम्[2], शेषवत् परिशेषानुमानम्, प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्टस्य प्रतिपत्तेः, सामान्यतोदृष्टं विशिष्टव्यक्तौ सम्बन्धाग्रहणात्सामान्येन दृष्टम्, यथा—गतिमानादित्यः देशाद्देशान्तरप्राप्तेः, देवदत्तवत्, इति व्याख्या विधीयते[3]; तदाऽपि **स्याद्वादिनां** नानवधेयम्, प्रतिपादितहेतुप्रपंचस्यैव विशेषप्रकाशनात्। सर्वं हि लिंग पूर्ववदेव, परिशेषानुमानस्यापि पूर्ववत्त्वसिद्धेः, प्रसक्तप्रतिषेधस्य परिशिष्टप्रतिपत्त्यविनाभूतस्य पूर्वं क्वचिन्निश्चितस्य[4] विवादाध्यासितपरिशिष्टप्रतिपत्तौ साधनस्य प्रयोगात्। सामान्यतोदृष्टस्य च पूर्ववत्त्वप्रतीतेः, क्वचिद्देशान्तरप्राप्तेः गतिमत्त्वाविनाभाविन्या[5] एव देवदत्तादौ प्रतिपत्तेः, अन्यथा तदनुमानाप्रवृत्तेः। परिशेषानुमानमेव वा सर्वं सम्प्रतीयते, पूर्ववतोपि[6] धूमात्पावकानुमानस्य प्रसक्ता[7]पावकप्रतिषेधात् प्रवृत्तिघटनात्। तदप्रसक्तौ[8] विवादानुपपत्तेरनुमानवैयर्थ्यात्। तथा सामान्यतोदृष्टस्यापि देशान्तरप्राप्तेरादित्यगत्यनुमानस्य तदगतिमत्त्वस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधादुपपत्तेरिति। सकलं सामान्यतोदृष्टमेव वा, सर्वत्र सामान्येनैव लिंगलिंगिसम्बन्धप्रतिपत्तेर्विशेषतस्तत्सम्बन्धस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः। केनचिद्विशेषेण लिंगभेदकल्पना[9] न निवार्यते एव, प्रकारान्तरतस्तद्भेदकल्पनावत्। केवलमन्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चय एव हेतोः प्रयोजकत्वनिमित्तम्, तस्मिन् सति हेतुप्रकारभेदपरिकल्पनायाः[10] प्रतिपत्तुरभिप्राय[11]वैचित्र्याद्वैचित्र्यं नान्यथा, इति सुनिश्चितं नश्चेतः[12], तथाप्रतीतेरबाध्यत्वात्[13]।

---

1. 'यथोपपत्तिनियमात्' मु स। 2. 'पूर्ववद्वर्तमानं' मु इ। 3. 'व्याख्यायते' ब। 4. 'निश्चितस्य तस्य' अ। 5. 'गतिमत्यविनाभा-' मु अ स। 6. 'अपि' नास्ति ब। 7. 'प्रसक्तौ' मु। 8. 'तदप्रतिपत्तौ' मु। 9. 'परिकल्पना' स। 10. 'हेतुप्रकारपरिकल्पना' स। 11. 'प्रतिपत्त्यभिप्रा-' स। 12. 'नश्चेतसि' मु। 13. 'अबाध्यमानत्वात्'-मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १५५. यद[1]प्यवीतं वीतं वीतावीतमिति लिंगं त्रिविधमनुमन्यते तदपि[2] नान्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणमतिक्रम्य व्यवतिष्ठते । नापि प्रतिपादितहेतुप्रपंचबहिर्भूतम्, समयान्तरभाषया केवलान्वय्यादि[3]त्रयस्यैव तथाविधानात्[4] । क्वचित्साध्यसाधनधर्मयोः साहचर्यमविनाभावनियमलक्षणमुपलभ्यान्यत्र साधनधर्मदर्शनात्साध्यधर्मप्रतिपत्तिरवीतमुच्यते । यथा--गुणगुणिनौ परस्परतो[5] भिन्नौ, भिन्नप्रत्ययविषयत्वात्[6], घटपटवदिति[7] । तच्च केवलान्वयीष्यते, कथंचिद्भेद एव साध्ये[8]ऽन्यथानुपपन्नत्वसिद्धेः । सर्वथा भेदे गुणगुणिभावविरोधात् गमकत्वासिद्धेः ।

§ १५६. तथा क्वचिदेकस्य धर्मस्य व्यावृत्तौ परस्य धर्मस्य व्यावृत्तिनियमवत्तामुपलभ्यान्यत्र तद्धर्मस्य निश्चयात्साध्यसिद्धिर्वीतं कथ्यते । यथा—सात्मकं जीवच्छरीरम्, प्राणादिमत्त्वात्, इति । तदिदं केवलव्यतिरेकीष्टम्, परिणामिनाऽऽत्मना सात्मकत्वव्यावृत्तौ भस्मनि प्राणादिमत्त्वव्यावृत्तिनियमनिश्चयात् । निरन्वयक्षणिकचित्तवत् कूटस्थेनाऽऽत्मना प्राणाद्यर्थक्रियानिष्पादनविरोधात् ।

§ १५७. वीतावीतं तु[9] तदुभयलक्षणयोगादन्वयव्यतिरेकि धूमादेः पावकाद्यनुमानं सुप्रसिद्धमेवेति[10] न हेत्वन्तरमस्ति । ततः सूक्तम्—अन्यथानुपपन्नत्व[11]नियमनिश्चयलक्षणं साधनम्, अतिसंक्षेप-संक्षेप-विस्तरातिविस्तरतो[12]ऽभिहितस्य सकलस्य[13] साधनविशेषस्य तेन व्याप्तत्वात् । तथाविधलक्षणात्साधनात् साध्ये साधयितुं शक्ये, अभिप्रेते क्वचिदप्रसिद्धे च विज्ञानमनुमानमिति । साधयितुमशक्ये सर्वथैकान्ते साधनस्याप्रवृत्तेः, तत्र तस्य[14] विरुद्धत्वात्, स्वयमनभिप्रेतेऽ[15]तिप्रसंगात्, प्रसिद्धे च वैयर्थ्यात्, तस्य साध्याभासत्वप्रसिद्धेः[16], प्रत्यक्षादिविरुद्धस्यानिष्टस्य सुप्रसिद्धस्य च साधनाविषयत्वनिश्चयात् । तदुक्तमकलंकदेवैः—

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् ।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ।।

[न्यायविनि० २-१७२] इति[17] ।

---

1. 'यदापि' मु । 2. 'तदापि' मु । 3. 'केवलान्वयादि' स । 4. 'तथाभिधानात्' स । 5. 'परस्परं' मु । 6. 'प्रत्ययत्वात्' स । 7. 'वदीति' मु । 8. 'भेदे साध्ये' ब । 'भेदेनाप्यन्यथा-' स । 9. 'तु' नास्ति स । 10. 'प्रसिद्धमेवेति' मु । 11. 'अन्यथानुपपत्ति-' मु । 12. 'अतिसंक्षेपविस्तरतो' मु अ । 13. 'सकलसा-' मु । 14. 'तस्य तत्र' अ द । 15. 'च' अस्ति मु अ द स । 16. 'सिद्धेः' स । 17. 'इति' नास्ति मु ।

८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १५८. तदेत[1]त्साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोध[2]लक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम्[3], साध्यं प्रत्यभिमुखान्नियमितात्[4] साधनादुपजातस्य[5] बोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इति संज्ञाप्रतिपादनात्। परार्थमनुमान-[6]मनक्षरश्रुतज्ञानमक्षरश्रुतज्ञानं च, तस्याश्रोत्रमतिपूर्वकस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य[7] च तथात्वोपपत्तेः। शब्दात्मकं तु परार्थानुमानमयुक्तम्, शब्दस्य प्रत्यक्षपरामर्शिन इवानुमानपरामर्शिनोऽपि सर्वस्य[8] द्रव्यागमरूपत्वप्रतीतेः। कथमन्यथा प्रत्यक्षमपि शब्दात्मकं परार्थं न भवेत्, सर्वथाविशेषाभावात्[9]। प्रतिपादकप्रतिपाद्यजनयोः स्वपरार्थानुमानकार्यकारणत्वसिद्धेरुपचारादनुमानपरामर्शिनो वाक्यस्य परार्थानुमानत्वप्रतिपादनमविरुद्धं नान्यथा, अतिप्रसंगादिति बोद्धव्यम्।

§ १५९. तदेतत्[10] परोक्षं प्रमाणम्, अविशदत्वात्, श्रुतज्ञानवत् [इति]।

[मतिज्ञानाख्यं परोक्षप्रमाणमभिधायेदानीं परोक्षभेदस्य श्रुतज्ञानस्य स्वरूपमभिधीयते]

§ १६०. किं पुनः श्रुतज्ञानमिति; अभिधीयते[11];—श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषे[12]ऽन्तरंगे कारणे सति बहिरंगे मतिज्ञाने चानिन्द्रिय[13]विषयालम्बनमविशदं ज्ञानं[14] श्रुतज्ञानम्। केवलज्ञानतीर्थकरत्वनामपुण्यातिशयोदयनिमित्तकभगवत्तीर्थकरध्वनिविशेषादुत्पन्नं गणधरदेवश्रुतज्ञानमेवमसंग्रहीतं स्यादिति न शंकनीयम्, तस्यापि श्रोत्रमतिपूर्वकत्वात्, प्रसिद्धमतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानिवचनजनितप्रतिपाद्यजनश्रुतज्ञानवत्, समुद्रघोष-जलधरध्वानजनित[15]तदविनाभाविपदार्थविषयश्रुतज्ञानवद्वा। ततो निरवद्यं श्रुतलक्षणम्[16], अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषरहितत्वात्, अनुमानलक्षणवत्। तदेवंविधं श्रुतज्ञानं प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षानुमानवत्। न चासिद्धमविसंवादकत्वमस्येति शंकितव्यम्,

---

1. 'तदेत्' मु। 2. 'स्वार्थमाभिनिबोध-' स। 3. 'विशिष्टं मतिज्ञानं' स। 4. 'नित्यमितात्' मु। 5. 'उपजातबोधस्य' मु। 6. 'परार्थानुमान-' ब। 7. 'तस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य' मु अ। 8. 'शब्दस्य प्रत्यवमर्शिनोऽपि सर्वस्य' मु। 9. 'सर्वथा श्रोतृमतिपूर्वकस्य विशेषात्' अ। 10. 'तदेत्' मु। 11. '····ज्ञानमित्येतदभिधीयते' मु। 12. 'विशेषान्तरंगे' मु। 13. 'चाबाह्येन्द्रिय' स। 14. 'अत्रि' स इ। 15. '···स्वनश्रुतिजनित-' मु। 16. 'श्रुतज्ञानलक्षणं' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य विसंवादाभावात्, सर्वदाऽर्थक्रियायां संवादप्रसिद्धेः, प्रत्यक्षादिवत्।

§ १६१. ननु च श्रोत्रमतिपूर्वकश्रुतज्ञानादर्थं प्रतिपद्य प्रवर्तमानस्या[1]र्थक्रियायामविसंवादस्य[2] क्वचिदभावान्न प्रामाण्यम्, सर्वत्रानाश्वासादिति चेत्; न; प्रत्यक्षादेरपि तथात्वप्रसंगात्[3], शुक्तिकाशकलं रजताकारतया परिच्छिद्य तत्र प्रवर्तमानस्यार्थक्रियायां रजतसाध्यायामविसंवादविरहात्, सर्वत्र प्रत्यक्षेऽनाश्वासादप्रामाण्यप्रसंगात्। प्रत्यक्षाभासे विसंवाददर्शनान्न प्रत्यक्षेऽनाश्वासोऽनुमानवदिति चेत्, तर्हि श्रुतज्ञानाभासाद्विसंवादप्रसिद्धेः सत्यश्रुतज्ञाने कथमनाश्वासः। न च सत्यं श्रुतज्ञानमसिद्धम्, तस्य लोके प्रसिद्धत्वात् सुयुक्तिसद्भावाच्च[4]। तथा हि—श्रोत्रमतिपूर्वकं श्रुतज्ञानं प्रकृतं सत्यमेव, अदुष्टकारणजन्यत्वात्, प्रत्यक्षादिवत्। तद्द्विविधम्, सर्वज्ञासर्वज्ञवचनश्रवणनिमित्तत्वात्। तच्चोभयमदुष्टकारणजन्यम्, गुणवद्वक्तृकशब्दजनितत्वात्।

§ १६२. ननु च नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्तीति प्रहसनेन गुणवद्वक्तृकशब्दादुपजातस्यापि[5] श्रुतज्ञानस्यासत्यत्वसिद्धेर्व्यभिचारि गुणवद्वक्तृकशब्दजनितत्वमदुष्टकारणजन्यत्वे साध्ये, ततो न सत्तद्गमकम्; इति न मन्तव्यम्[6]; प्रहसनपरस्य वक्तुर्गुणवत्त्वासिद्धेः, प्रहसनस्यैव दोषत्वात्, अज्ञानादिवत्।

§ १६३. कथं पुनर्विवादापन्नस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य[7] श्रुतज्ञानस्य गुणवद्वक्तृकशब्दजनितत्वं सिद्धम्, इति चेत्, सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्, इति भाषामहे। प्रत्यक्षे ह्यर्थे प्रत्यक्षस्यानुमेयेऽनुमानस्यात्यन्तपरोक्षे चागमस्य बाधकस्यासम्भवादसम्भवद्बाधकत्वं तस्य सिद्धम्। देशकालपुरुषान्तरापेक्षयाऽपि संशयानुत्पत्तेः सुनिश्चितत्वविशेषणमपि सिद्धं साधनस्येति नासिद्धताशंका[8]ऽवतरति। नाप्यनैकान्तिकता[9], विपक्षे क्वचिदसंभवात्। न विरुद्धता, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकस्य[10] श्रुतज्ञानस्यागुण-

1. 'वर्तमान-' मु इ। 2. '....वादकस्य' मु स। 3. 'तथात्वप्रसंगात्' इत्यं पाठः केवलं 'स' प्रतावुपलभ्यते। स चावश्यको युक्तश्च। 4. 'सुयुक्तिकसद्भावाच्च' मु। 5. 'उपजनितस्यापि' मु। 6. 'वक्तव्यं' ब। 7. 'श्रोत्रमतिपूर्वकश्रुत-' मु ब अ इ। 8. 'शंका' स। 9. 'नाप्येनैकान्तिकता' स। 10. '....सम्भवद्बाधकश्रुत-' अ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वद्वक्तृकशब्दजनितस्य वादिप्रतिवादिप्रसिद्धस्यासम्भाव्यमानत्वात्। तथा व्याहतत्वाच्च। कथंचिदपौरुषेयशब्दजनितश्रुतज्ञानस्य तु गुणवद्व्याख्यातृक[1]शब्दजनितत्वेनादुष्टकारणजन्यत्वं सिद्धयेत्। ततश्च[2] सत्यत्वमिति **स्याद्वादिनां** सर्वमनवद्यं' पर्यायार्थिकनयप्राधान्याद्द्रव्यार्थिकनयगुण[3]-भावाच्च श्रुतज्ञानस्य गुणवद्वक्तृकशब्दजनितत्वसिद्धेः, द्रव्यार्थिकप्राधान्यात्पर्यायार्थिकगुणभावाच्च गुणवद्व्याख्यातृकशब्दजनितत्वोपपत्तेश्च। न च सर्वथा पौरुषेयः शब्दोऽपौरुषेयो वा प्रमाणतः सिद्धयेत्[4]।

§ १६४. ननु च विवादापन्नः शब्दः पौरुषेय एव प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, पटादिवत्, इत्यनुमानादागमस्य द्वादशांगस्यांगबाह्यस्य चानेकभेदस्य पौरुषेयत्वमेव युक्तं भारतादिवत्, इति कश्चित्, सोऽप्येवं पृष्टः सन्नाचष्टाम्[5]- किं सर्वथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतुः[6] कथंचिद्वा। सर्वथा चेत्, अप्रसिद्धः[7], **स्याद्वादिनो** द्रव्यार्थादेशादप्रयत्नानन्तरीयक[8]त्वादागमस्य। कथंचिच्चेद्विरुद्धः, कथंचिदपौरुषेयत्वसाधनात्। प्रयत्नानन्तरीयकत्वं हि प्रवचनस्योच्चारकपुरुषप्रयत्नानन्तरोपलम्भात्[9] स्यात्, उत्पादकपुरुषप्रयत्नानन्तरोपलम्भाद्वा। प्रथमकल्पनायामुच्चारकपुरुषापेक्षया[10]ऽपौरुषेयत्वमेव तस्य[11] सम्प्रति पुराणपुरुषोत्पादितकाव्यप्रबन्धस्येव प्रसक्तम्, न पुनरुत्पादकपुरुषापेक्षया, प्रवचनस्यनादिनिधनस्योत्पादकपुरुषाभावात्। सर्वज्ञ उत्पादक इति चेत्, वर्णात्मनः पदवाक्यात्मनो वा प्रवचनस्योत्पादकः स स्यात्। न तावद्वर्णात्मनः, वर्णानां प्रागपि भावात्। तत्सदृशानां पूर्वं भावो न पुनस्तेषां घटादीनामिवेति चेत्, कथमिदानीमनुवादकस्तेषामुत्पादको न स्यात्। तदनुवादात्प्रागपि तत्सदृशानामेव सद्भावात्तेषामनूद्यमानानां तदैव सद्भावात्। तथा च न कश्चिदनुवादको नाम[12] वर्णानाम्, सर्वस्योत्पादकत्वसिद्धेः। यथैव हि कुम्भादीनां कुम्भाकारादिरुत्पादक एव, न पुनरनुकारकस्तथा वर्णानामपीति तदनुवादकव्यवहारविरोधः। पूर्वोपलब्धवर्णानां साम्प्रतिकवर्णानां च सादृश्यादेकत्वोपचारात्पश्चाद्वादकोऽनुवादक एवा[13] सावाह वर्णान्नाहमिति स्वा-

1. 'गुणवद्वक्तृकशब्द-' मु। 2. 'ततः' स। 3. 'नय-' नास्ति स। 4. 'सिद्धयते' मु। 5. 'समाचष्टाः' स। 6. 'प्रयत्नानंतरीयत्वहेतु' मु। 7. 'अप्रसिद्धः' मु। 8. 'अर्थादिप्रयत्नानंतरीय-' मु। 9. 'प्रयत्नानंतरमुपल-' अ स। 10. प्रतिषु '....पुरुषापेक्षया पौरुषेय-' इति पाठः। 11. 'पौरुषेयत्वमेतस्य' ब स इ। 12. 'कश्चिदुत्पादको वर्णानां' मु स। 13. 'एव। असा-' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तंत्र्यपरिहरणात्पारततंत्र्यानुसरणादिति चेत्, तर्हि यथा वर्णानां पठितानुवादकः तथा तत्पाठयिताऽपि[1], तस्यापि स्वातंत्र्याभावात्, सर्वस्य स्वोपाध्यायपरतंत्रत्वात् । तत एवं वक्तव्यम्—

नेह वर्णान्नरः कश्चित् स्वातंत्र्येण प्रपद्यते ।
यथैवाऽस्मै परैरुक्तास्तथैवेतान्विवक्ष्यति[2] ॥ १ ॥
परेऽप्येवं विवक्ष्यन्ति तस्मादेषामनादिता ।
प्रसिद्धा व्यवहारेण संप्रदायाव्यवच्छिदा ॥ २ ॥

§ १६५. तथा च सर्वज्ञोऽप्यनुवादक एव, पूर्वपूर्वसर्वज्ञोदितानामेव चतुःषष्ठिवर्णानामुत्तरोत्तरसर्वज्ञेनानुवादात्[3] । तस्य पूर्वसर्वज्ञोदितवर्णानुपलम्भे पुनरसर्वज्ञत्वप्रसक्तिः[4] । तदेवमनादिसर्वज्ञसन्ततिमिच्छतां न कश्चित्सर्वज्ञो वर्णानामुत्पादकः, तस्य तदनुवादकत्वात् । पदवाक्यात्मनः प्रवचनस्योत्पादकः सर्वज्ञ इत्यप्यनेनापास्तम्, प्रवचनपदवाक्यानामपि पूर्वपूर्वसर्वज्ञोदितानामेवोत्तरोत्तरसर्वज्ञेनानुवादात् । सर्वदांगप्रविष्टांगबाह्यश्रुतस्य शब्दात्मनो द्वादशविकल्पानेकविकल्पस्यान्यादृशवर्णपदवाक्यत्वासंभवात्[5] तस्यापूर्वस्योत्पादनायोगात्[6] ।

§ १६६. स्यान्मतम्—महेश्वरोऽनादिरेकः सर्वज्ञो वर्णानामुत्पादकः प्रथमं सृष्टिकाले जगतामिवोपपन्नः, तस्य सर्वदा स्वतंत्रत्वात्, सर्वज्ञान्तरपरतंत्रतापायात्, तदनुवादकत्वायोगात्, इति; तदप्यसत्यम्; तस्यानादेरेकस्येश्वरस्याऽऽ**प्तपरीक्षायां** [का० १०, पृष्ठ ५०] प्रतिक्षिप्तत्वात्, परीक्षाक्षमत्वाभावात्, **कपिलादिवत्** । सम्भवन्वा[7] सदैवेश्वरः[8] सर्वज्ञो ब्राह्मेण मानेन वर्षशतान्ते वर्षशतान्ते[9] जगतां सृष्टा पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् सृष्टिकाले स्वयमुत्पादितानां वर्णपदवाक्यानामुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् सृष्टिकाले पुनरुपदेष्टा कथमनुवादको न स्यात्[10] । न ह्येकः[11] कविः स्वकृतकाव्यस्य पुनः पुन[12]र्वक्ताऽनुवादको न स्यादिति वक्तुं युक्तम् । "शब्दार्थयोः

1. 'तथा पाठयितापि' मु स । 2. विवक्ष्यते', मु स । 3. 'अनुवादनात्' 'अ ब इ । 4. 'प्रसक्तेः' ब इ । 5. 'पदवाक्यात्मत्वा-' मु स अ । 6. 'उत्पादकायोगात्' अ ब । 7. 'संभवे वा' मु । 8. 'सदैवैश्वरः' मु । 9. वर्षशतान्ते' नास्ति स । 10. 'भवेत्' मु । 11. स प्रतौ 'नह्येकः' इत्यस्मात्पाठात्पूर्वं 'युगं द्वादशसहस्रं कल्पं प्राहुश्चतुर्युगम् । तेषां दशसहस्रं तु ब्राह्मं तदहरुच्यते' इतीदं पद्यमुपलभ्यते ।--सम्पा० । 12. स प्रतौ एक एव 'पुनः' शब्द उपलभ्यते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्" [ ] इति वचनविरोधात्। एकस्य पुनः पुनस्तदेव वदतोऽनुवादासम्भवे पुनरुक्तस्यैव सिद्धे[1]:। ततः कस्यचित्स्वयंकृतं काव्यं पुन[2]र्वदतोऽनुवादकत्वे महेश्वरः सदैवानुवादकः स्यात्। पूर्वपूर्ववादापेक्षयोत्तरोत्तरवा[3]दस्यानुवादरूपत्वात्।

§ १६७. न च पूर्वपूर्ववर्णपदवाक्यविलक्षणान्येव वर्णपदवाक्यानि महेश्वरः करोतीति घटते, तेषां कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेः। प्रसिद्धौ वा तेषां किमज्ञानात्तदा महेश्वरोऽप्रणेता स्यात् अथाशक्तेरुत प्रयोजनाभावादिति। न तावदज्ञानात्, सर्वज्ञत्वविरोधात्, तस्य सर्वप्रकारवर्णपदवाक्यवेदित्वसिद्धेः[4], अन्यथाऽनीश्वरत्वप्रसंगात्। नाप्यशक्तेः, ईश्वरस्यानन्तशक्तित्ववचनात्। यदि ह्येकदा कानिचिदेव वर्णादीनि प्रणेतुमीश्वरस्य शक्तिर्नान्यानि, तदा कथमनन्तशक्तिः[5] स्यादनीशवत्। प्रयोजनाभावान्नान्यानि प्रणयतीति चेत्, न, सकलवाचकप्रकाशनस्यैव प्रयोजनत्वात्, सकलवाच्यार्थप्रकाशनवत्[6], सकलजगत्करणवद्वा[7]। प्रतिपाद्यजनानुरोधात्केषांचिदेव वर्णादीनां प्रणयने जगदुपभोक्तृप्राण्यनुरोधात्केषांचिदेव जगत्कार्याणां करणं स्यात्, न सर्वेषाम्। तथा चेश्वरेणाकृतैः[8] कार्यैः कार्यत्वादिति हेतुर्व्यभिचारित्वान्न सर्वकार्याणामीश्वरनिमित्तत्वं (त्तकत्वं) साधयेत्।

§ १६८. न च सकलप्रकारवर्णादिवाचकप्रपंचं जिज्ञासमानः कश्चित्प्रतिपाद्य एव न सम्भवतीति वक्तुमुचितम्[9], सर्वज्ञवचनस्याप्रतिग्राहकत्वप्रसंगात्। तत्सम्भवे च सर्गे सर्गे सकलवर्णादीनां प्रणेतेश्वरोऽनुवादक एव स्यात्, न पुनरुत्पादकः सर्वदैवेति सिद्धम्। ततोऽनेक एक सर्वज्ञोऽस्तु किमेकेश्वरस्य[10] कल्पनया। यथा चैको नवमिति वदति तदेवान्यः पुराणमित्यनेकसर्वज्ञकल्पनायां व्याघातात् वस्तुव्यवस्थानासम्भवस्तथैकस्यापीश्वरस्यानेकसर्गकालप्रवृत्ता[11]अनेकोपदेशाभ्यनुज्ञानात्। तत्र पूर्वस्मिन्सर्गे यन्नवमित्युप[12]देशीश्वरेण तदेवोत्तरस्मिन्सर्गे पुराणमित्युपदिश्यते

---

1. '...स्यैवासिद्धेः' स। 2. एक एव 'पुनः' शब्दः। द्वितीयो नास्ति स। 3. '...रोत्तरस्यानुवाद-' मु अ। 4. 'वेदित्वसिद्धेः' मु। 5. 'अनन्ता शक्तिः' ब स इ। 6. '...वाच्यार्थप्रकाशनप्रयोजनवत्' स। 7. '...जगत्कारण-', मु अ 'जगत्तरण-' स। 8. 'ईश्वरकृतैः' मु। 9. 'वक्तुं युक्तं मु। 10. 'ईश्वरकल्पनया' स इ। 11. 'प्रवृत्तानेक-' स। 12. 'नवमित्युप-' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न पुनरेकदैव नवं पुराणं चैकमिति व्याघातासम्भवे[1] कथमनेकस्यापि सर्वज्ञस्य कालभेदेन नवमिति पुराणमित्युपदिशत[2]स्तत्स्ववचनव्याघातः। इत्यल[3]मनाद्येकेश्वरकल्पनया, तत्साधनोपायासम्भवात्।

§ १६९. सोपायविशेषसिद्धस्तु[4] सर्वज्ञोऽनेकः प्रमाणसिद्धश्चिरतरकालोच्छिन्नस्य[5] परमागमस्य प्रबन्धेनाभिव्यंजकोऽनुवादक इति प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तेः कथंचित्प्रयत्नानन्तरीयकत्वं कथंचित्पौरुषेयत्वं साधयेत्। तथा हि—

परमागमसन्तानमनादिनिधनक्रमम्।
नोत्पादयेत्स्वयं कश्चित्सर्वज्ञोऽसर्ववेदिवत् ॥ १ ॥

यथैकः सकलार्थज्ञः स्वमहिम्ना प्रकाशयेत्।
तथाऽन्योऽपि तमेवं चानादिः सर्वज्ञसन्ततिः ॥ २ ॥

सिद्धा, तत्प्रोक्तशब्दोत्थं श्रुतज्ञानमशेषतः।
प्रमाणं प्रतिपत्तव्यमदुष्टोपायजत्वतः ॥ ३ ॥

ततो बाह्यं पुनर्द्वेधा पौरुषेयपदक्रमात्।
जातमार्षादनार्षाच्च समासव्यासतोऽन्वितात् ॥ ४ ॥

तत्रार्षमृषिभिः प्रोक्तादुदुष्टैर्वचनक्रमात्।
समुद्भूतं श्रुतज्ञानं प्रमाणं बाधकात्ययात् ॥ ५ ॥

अनार्षं तु द्विधोद्दिष्टं समयान्तरसंगतम्।
लौकिकं चेति तन्मिथ्या प्रवादिवचनोद्भवम् ॥ ६ ॥

दुष्टकारणजन्यत्वादप्रमाणं कथं च न।
सम्यग्दृष्टेस्तदेतत्स्यात्प्रमाणं सुनयार्पणात् ॥ ७ ॥

§ १७०. नन्वेवम[6]दुष्टकारणजन्यत्वेन श्रुतज्ञानस्य प्रमाणत्वसाधने चोदनाज्ञानं प्रमाणं[7] स्यात्, पुरुषदोषरहितया चोदनया[8] सर्वथाऽप्यपौरुषेयजनितत्वात्। तदुक्तम्—

चोदनाजनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः।
कारणैर्जन्यमानत्वाल्लिंगाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत् ॥१॥ [ ] इति[9]।

---

1. 'व्याघातासम्भवः' स। 2. 'मित्युपदेशतस्तत्स्व-' मु। 3. 'इत्यलमत्रानाद्ये-' स। 4. 'सोपायसिद्धस्तु' मु। 5. 'सिद्धः निरतकालोच्छन्नस्य' मु। 6. 'नन्वदुष्ट-' मु। 7. 'चोदनाज्ञानस्य प्रामाण्यं' मु अ इ। 8. 'पुरुषदोषरहितायाश्चोदनायाः' मु। 9. 'इति' नास्ति मु स।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

§ १७१. तदेतदयुक्तम्[1]; गुणवत्कारणजन्यत्वस्यादुष्टकारणजन्यत्वशब्देनाभिप्रेतत्वात् लिंगाप्तोक्त्यक्षबुद्धिषु तथैव तस्य प्रतिपत्तेः। न हि लिंगस्यापौरुषेयत्वमदुष्ट[2]त्वम्, साध्याविनाभावनियमनिश्चयाख्येन गुणेन गुणवत्त्वस्यादुष्टत्वस्य प्रतीतेः। तथाऽऽप्तोक्ते[3]रविसंवादकत्वगुणेन गुणवत्त्वस्य तथाऽक्षाणां चक्षुरादीनां नैर्मल्यादिगुणेन गुणवत्त्वस्येति।

§ १७२. ननु चादुष्टत्वं दोषरहितत्वं कारणस्य, तच्च क्वचिद्दोषविरुद्धस्य गुणस्य सद्भावात्, यथा[4] मन्वादिस्मृतिवचने। क्वचिद्दोषकारणस्याभावात्[5], यथा चोदनायाम्। तदुक्तम्—

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति[6] स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥१॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥२॥

[ ] इति[7]।

§ १७३. तदप्यसारम्; सर्वत्र गुणाभावस्यैव दोषत्वात्[8], गुणसद्भावस्यैव चादोषत्वप्रतीतेः[9], अभावस्य भावान्तरस्वभावत्वसिद्धेः, अन्यथा प्रमाणविषयत्वविरोधात्। गुणवद्वक्तृकत्वस्य हि दोषरहित[10]वक्तृकत्वस्य सम्प्रत्ययः। कथमन्यथा गुणदोषयोः सहानवस्थानं युज्येत। राग-द्वेष-मोहा हि वक्तु[11]र्दोषा वितथाभिधानहेतवः। तद्विरुद्धाश्च वैराग्य-क्षमा-तत्त्वावबोधास्तदभावात्मकाः सत्याभिधानहेतवो गुणा इति परीक्षकजनमनसि वर्तते।

§ १७४. न च मन्वादयः स्मृतिशास्त्राणां प्रणेतारो गुणवन्तः, तेषां तादृशगुणाभावात्। निर्दोषवेदपराधीनवचनत्वात्तेषां गुणवत्त्वम्; इत्यप्यसम्भावनीयम्[12]; वेदस्य गुणवत्त्वासिद्धेः, पुरुषस्य गुणाश्रयस्याभावात्। यथैव हि दोषवान् पुरुषो वेदान्नि[13]वर्तमानो निर्दोषतामस्य साधयेत्तथाऽसौ गुणवान्[14] अगुणवत्तामिति[15] न वेदो गुणवान्नाम। यदि पुनरपौरुषेयत्वमेव

1. 'तदेतदुक्तं' मु। 2. 'मदुष्टं' मु। 3. 'तथाप्रोक्ते-' मु। 4. 'दोषकारणभावात्' मु। 5. 'तथा' मु। 6. 'वक्त्रधीनमिति' मु अ। 7. 'इति' नास्ति मु। 8. 'दोषवत्वात्' मु। 9. 'चादोषप्रतीतेः' मु। 10. 'रहितस्य वक्तृ-' मु। 11. '···मोहादिर्वक्तु-' मु, '···मोहोदयः वक्तु-' अ स। 12. 'इत्यसम्भावनीयम्' स। 13. 'दोषवान् वेदा-' मु। 14. 'गुणवानति' मु। 15. '···वत्त्वमिति' स।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणः, तदा अनादिम्लेच्छादिव्यवहारस्यापि गुणवत्त्वम्, अपौरुषेयत्वाविशेषात्। तदेवम्—

नादुष्टा चोदना पुंसोऽसत्त्वाद्गुणवतः सदा।
तद्व्याख्यातुः प्रवक्तुर्वा म्लेच्छादिव्यवहारवत् ॥ १ ॥
तया यज्जनितं ज्ञानं तन्नादुष्टनिमित्तजम्।
सिद्धं येन प्रमाणं स्यात् परमागमबोधवत् ॥ २ ॥
वेदस्यापौरुषेयस्यो[1]च्छिन्नस्य चिरकालतः।
सर्वज्ञेन विना कश्चिन्नोद्धर्ताऽतीन्द्रियार्थदृक् ॥ ३ ॥
स्याद्वादिनां तु सर्वज्ञसन्तानः स्यात्प्रकाशकः।
परमागमसन्तानस्योच्छिन्नस्य कथंचन ॥ ४ ॥
सर्वभाषा कुभाषाश्च तद्वत्सवार्थवेदिभिः।
प्रकाश्यन्ते[2] ध्वनिस्तेषां सर्वभाषास्वभावकः ॥ ५ ॥
तत्प्रमाणं श्रुतज्ञानं परोक्षं सिद्धमंजसा।
अदुष्टकारणोद्भूतेः प्रत्यक्षवदिति स्थितम् ॥ ६ ॥

§ १७५. ततः सूक्तं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे, प्रमाणान्तराणां सकलानामप्यत्र संग्रहादिति संख्याविप्रपत्तिनिराकरणमनवद्यम्, लक्षणविप्रतिपत्ति[3]निराकरणवत्।

[विषयविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्प्रमाणविषयं प्रदर्शयति]

§ १७६. विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पुनरिदमभिधीयते।

§ १७७. द्रव्यपर्यायात्मकः प्रमाणविषयः प्रमाणविषयत्वान्यथानुपपत्तेः। प्रत्यक्षविषयेण स्वलक्षणेन, अनुमानादिविषयेण च सामान्येन हेतोर्व्यभिचार इति न मन्तव्यम्; तथाप्रतीत्यभावात्। न हि प्रत्यक्षतः स्वलक्षणं पर्यायमात्रं सन्मात्रमिवोपलभामहे। नाप्यनुमानादेः सामान्यं द्रव्यमात्रं[4] विशेषमात्रमिव प्रतिपद्येमहि, सामान्यविशेषात्मनो द्रव्यपर्यायात्मकस्य जात्यन्तरस्योपलब्धेः, प्रवर्त्तमानस्य च तत्प्राप्तेः, अन्यथाऽर्थक्रियानुपपत्तेः। न हि स्वलक्षणमर्थक्रियासमर्थम्, क्रमयौगपद्यविरोधात्, सामान्यवत्। न च तत्र क्रमयौगपद्ये सम्भवतः, परिणामाभावात्। क्रमाक्रमयोः परिणामेन व्याप्तत्वात्, सर्वथाऽप्यपरिणामिनः क्षणिकस्य

1. 'वेदस्य पौरुषे-' मु। 2. 'प्रकाश्यते' मु। 3. 'स्वरूपविप्रतिपत्ति-' मु।
4. 'सामान्यद्रव्यमात्रं' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्यस्य वा[1] तद्विरोधसिद्धेः। प्रसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनि वस्तुनि तदंशमात्रे विशेषे सामान्ये वा प्रवर्त्तमानं कथं प्रमाणं नाम, प्रमाणस्य यथावस्थितवस्तुग्रहणलक्षणत्वात्, तदेकदेशग्राहिणः सापेक्षस्य सुनयत्वान्निरपेक्षस्य दुर्णयत्वात्। तत एव न तद्विषयेणानेकान्तः साधनस्य स्यात्, तत्र प्रमाणविषयत्वस्य हेतोरप्रवृत्तेः। अतः सिद्धो द्रव्यपर्यायात्माऽर्थः प्रमाणस्येति तद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तिः।

[विषयविप्रतिपत्तिं निराकृत्येदानीं फलविप्रतिपत्तिं निरस्यति]

§ १७८. फलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थं प्रतिपाद्यते।

§ १७९. प्रमाणात्फलं कथंचिद्भिन्नमभिन्नं च, प्रमाणफलत्वानुपपत्तेः। हानोपादानोपेक्षाबुद्धिरूपेणानेकान्त इति न शंकनीयम्; तस्याप्येकप्रमात्रात्मना प्रमाणादभेदसिद्धेः, प्रमाणपरिणतस्यैवा[2]त्मनः फलपरिणामप्रतीतेः, अन्यथा सन्तानान्तरवत् प्रमाणफलभावविरोधात्। साक्षादज्ञाननिवृत्तिलक्षणेन प्रमाणादभिन्नेन[3] प्रमाणफलेन व्यभिचार इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्, तस्यापि कथंचिद्भेदप्रसिद्धेः, प्रमाणफलयोः साधनभेदात्[4]। करणसाधनं हि प्रमाणम्, स्वार्थनिर्णीतौ साधकतमत्वात्। स्वार्थनिर्णीतिरज्ञाननिवृत्तिः फलं भावसाधनम्, तत्साध्यत्वात्। एतेन कर्तृसाधनात्प्रमाणात्कथंचिद्भेदः प्रतिपादितः, स्वार्थनिर्णीतौ स्वतन्त्रत्वात्। स्वतन्त्रस्य च कर्तृत्वात्, स्वार्थनिर्णीतेस्तु अज्ञाननिवृत्तिस्वभावायाः क्रियात्वात्। न च क्रिया क्रियावतोऽर्थान्तरमेवानर्थान्तरमेव वा, क्रियाक्रियावद्भावविरोधात्। भावसाधनात्प्रमाणादज्ञाननिवृत्तिरभिन्नैवेत्ययुक्तम्, प्रमातुरुदासीनावस्थायामव्याप्रियमाणस्य प्रमाणशक्तेर्भावसाधनप्रमाणस्य व्यवस्थापितत्वात्, तस्याज्ञाननिवृत्तिफलत्वासम्भवात्। स्वार्थव्यवसितौ व्याप्रियमाणं हि प्रमाणमज्ञाननिवृत्तिं साधयेत्, नान्यथा, अतिप्रसंगात्। ततः सूक्तम्—

'प्रमाणात्कथंचिद्भिन्नाभिन्नं फलम्' इति।

§ १८०. ततस्तस्य सर्वथा भेदे बाधकवचनात्, अभेदवत्। संवृत्या प्रमाणफलव्यवहार इत्यप्रातीतिकं वचनम्[5], परमार्थतः स्वेष्टसिद्धि-

---

1. 'नित्यस्य च' मु अ इ। 2. 'प्रमाणरूपेण परिणत-' ब। 3. 'प्रमाणादभिन्नेन' नास्ति अ। 4. 'प्रमाणफलयोर्निरुक्तिसाधनविरोधात्' मु। 5. '....प्रातीतिकवचनम्' मु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधात्। ततः पारमार्थिकं प्रमाण[1] फलं चेष्टसिद्धिलक्षणमभ्यनुज्ञातव्यम्, ततः सर्वपुरुषार्थसिद्धिविधानादिति संक्षेपः[2]।

इति प्रमाणस्य परीक्ष्य लक्षणं विशेषसंख्या-विषयं फलं ततः।
प्रबुद्धय तत्त्वं दृढ-शुद्ध-दृष्टयः प्रयान्तु विद्याफलमिष्टमुच्चकैः ॥१॥

इति प्रमाणपरीक्षा समाप्ता[3]।

1. 'पारमार्थिकप्रमाणं' मु। 2. स प्रतौ 'इति संक्षेपः' इति पाठानन्तरं निम्नांकितं पद्यमवलोक्यते—

संसृत्य न्यायमार्गं सदसि सुविदुषां पक्षपातोज्झितानां,
दक्षे सभ्याधिनाथे क्षतनिजपरताबुद्धिहृद्रागरोषे।
निर्नेतुं नो समर्थः कथमपि सुदृढं सर्वथैकान्तवादी,
स्वेष्टं किंचित्प्रमाणं समधिगतिरतोऽस्यास्त्वनन्तात्मवादात् ॥

3. 'इति श्रीस्याद्वादविद्यापतिश्रीविद्यानंदस्वामिविरचिता प्रमाणपरीक्षा समाप्ता' मु। अ ब द प्रतिषु तदिदं पुष्पिकावाक्यं नोपलभ्यते। अस्माभिस्तु स प्रति-पाठो निक्षिप्तः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादक

जन्म : १९१३

जन्म स्थान : सोंरई (ललितपुर) उ० प्र०

शिक्षा : महावीर जैन विद्यालय, साढ़ूमल—प्रवेशिका और विशारद। स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी—सिद्धांतशास्त्री। गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी—न्यायाचार्य। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय–शास्त्राचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.

अध्यापन : वीर विद्यालय पपौरा, (टीकमगढ़), (१९३७-१९४०); ऋषभब्रह्मचर्याश्रम मथुरा–प्राचार्य (१९४०-१९४२); स० सं० महावि० दिल्ली–प्राचार्य (१९५०-१९५७); दि० जैन कालेज बड़ौत–प्राध्यापक (१९५७-१९६०); का० हि० वि० प्राध्यापक व रीडर (१९६०-१९७४)।

साहित्यिक अनुसंधानकार्य : वीर सेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर), (१९४२-१९५०)

कृतियाँ (सम्पादन-लेखन) : न्यायदीपिका, आप्त-परीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, प्रमाणप्रमेयकलिका, अध्यात्म-कमलमार्त्तण्ड, शासनचतुस्त्रिंशिका, श्रीपुरपार्श्वनाथ, प्राकृतपद्यानुक्रमणी, समाद्गिरगोत्साहदीपक, प्रमाण-परीक्षा (सम्पादन), जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, भ० महावीरका जीवन-चरित, जैन दर्शनमें सल्लेखना (लेखन), पचासों शोधपूर्ण लेख।

सेवा-प्रवृत्तियाँ : ऑनरेरी मन्त्री–श्री गणेश-प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी तथा वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट, उपाधिष्ठाता—स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, अध्यक्ष—भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्, सदस्य–बिहार तीर्थक्षेत्र कमेटी, राजगिर (बिहार)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टके महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

•

१.	युगवीर-निबन्धावली प्र० भा० (संस्कृति)	५.००
२.	युगवीर-निबन्धावली द्वि० भाग ,,	८.००
३.	लोक-विजय-यंत्र (ज्योतिष)	१०.००
४.	रत्नकरण्डकश्रावकाचार (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित)	८.००
५.	देवागम (आप्तमीमांसा) (दर्शन)	२.००
६.	प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश (सिद्धान्त)	२.००
७.	प्रमेय-कण्ठिका (न्याय)	२.००
८.	जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार (न्याय)	१६.००
९.	नयी किरण : नया सवेरा (सांस्कृतिक लघु उपन्यास)	२.००
१०.	समाधिमरणोत्साह-दीपक	अप्राप्य
११.	प्रमाण-परीक्षा	५.००
१२.	जैनधर्म-परिचय	१.५०
१३.	आरम्भिक जैनधर्म	१.२०
१४.	करणानुयोग-प्रवेशिका	२.५०
१५.	द्रव्यानुयोग-प्रवेशिका	२.००
१६.	महावीर-वाणी (संकलन)	२.५०
१७.	भ० महावीरका जीवनवृत्त (चरित)	०.८०
१८.	चरणानुयोग-प्रवेशिका	२.००
१९.	मङ्गलायतनम् (चरित)	८ ००
२०.	ऐसे थे हमारे गुरुजी (चरित)	३.००
२१.	तत्त्वानुशासन	अप्राप्य
२२.	जैनदर्शनका व्यावहारिक पक्ष : अनेकान्तवाद	१.५०

१/१२८, डुमराँव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी–५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org